पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भव्यप्रबोधिनीटीकासहित

[illegible]

छपाकर प्रकाशित किया।

माघ शुक्ल पञ्चमी, वीर सं० २४४३

श्रीवीतरागाय नमः ।

सनातनजैनग्रंथमाला

२१

श्रीमन्महामहिम–अमृतचंद्रसूरिविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

वा[illegible]केशरी पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार विद्यावारिधिकृत

भव्यप्रबोधिनी नाम [illegible]टीका सहित ।

जिसको

उस्मानाबाद-वासी गांधी कस्तूरचंदजीके

स्वर्गीय सुपुत्र श्रीमान सेठ बालचंद्रजीके स्मरणार्थ

गांधी हरीभाई देवकरण [illegible] संरक्षित

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था कलकत्ताने

छपाकर प्रकाशित किया ।

माघ शुक्ल पंचमी, वीर सं० [illegible]

धन्यवाद पुष्पांजलि।

भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्थाको सबसे प्रथम उस्मानाबाद (धाराशिव) वासी श्रीमान् शेठ नेमिचंदजी वकीलने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता बालचंदजीका नाम सदा स्मरणमें आता रहे और नवीन नवीन जैन शास्त्रोंका जीर्णोद्धार सदा होता रहे इसलिये दो हजार एक रुपया प्रदान किया था। उक्त द्रव्यमे संस्कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक प्रभृति अनेक ग्रंथोंका आज तक उद्धार हो चुका है और अब उक्त ग्रंथोंकी आई हुई न्योछावरसे यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है। वकील साहबकी इस दानशीलताके लिये जितना धन्यवाद दिया जाय थोडा है।

आशा है अन्य श्रीमान् भी इसीप्रकार जिनवाणी माताके जीर्णोद्धारमें सहायक होंगे।

—मंत्री.

प्रकाशकके दो शब्द।

श्रीमान् अमृतचंद्रसूरि भगवान्का नाम जैनसंसारमें ऐसा कौन पुरुष है, जो नहीं जानता। उन ही परम-पूज्य आचार्य महाराजका बनाया हुआ यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक संस्कृतश्लोकमय ग्रंथ है। इसमें श्रावक और मुनि दोनोंके चारित्रका वर्णन किया गया है। इस ग्रंथकी अब तक जो हिंदी टीकायें उपलब्ध थीं वे बहुत ही संक्षिप्त थीं, और ऐसे गूढ ग्रंथकी विस्तृत टीकाकी आवश्यकता आज बहुत दिनोंसे प्रतीत हो रही थी। इसी अभावकी पूर्ति जैनसमाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी शास्त्री वादीभकेशरी विद्यावारिधिने कर बहुत उपकार किया है शास्त्रीजी अपने परिश्रममें कितने सफल हुये हैं यह स्वाध्याय करने-वाले महाशय ही बतला सकेंगे।

सम्यग्दर्शन आदि आवश्यक विषयोंका विवेचन तो इस ग्रंथमें इतना विशदरीतिसे किया गया है जैसा कि भाषाके उपलब्ध किसी भी ग्रंथमें एक जगह नहीं पाया जाता। यही कारण है कि बंबईकी रायचंद्र जैन-शास्त्रमालामें इस ग्रंथकी एक संक्षिप्त टीका प्रकाशित हो चुकी है तो भी पुनः यह विशद टीका संस्थाद्वारा प्रकाशित करनेकी आवश्यकता समझी गई।

निवेदक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

मंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था.

९ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

टीकाकारका-मंगलाचरण।

देवेंद्र नाग नरेंद्र नितप्रति बंदना जिनकी करें।
श्रुतकेवली मुनिसूरिगण भी, चरण जिनके चित धरें॥
उन वीरप्रभु, जिनवाणि माता, सूरि अमृतचंद्रका।
श्रीपाद-रज शिर पर धरूं, अरु हरूं गद भवफंदका॥

सर्वज्ञभाषित अनादि परंपरामे, स्याद्वादचिन्ह सुभगा अविरुद्धतासे।
संसारसिंधु तरणेक अभेद्यनौका, बंदौं! सरस्वति! तुम्हें नमते दिवौका॥

ध्यानी, ज्ञानी, वीतरागी तपस्वी, इंद्रिय विजयी निस्पृही औ यशस्वी।
तृष्णात्यागी वस्त्र आरंभ त्यागी, बंदों मैं तो साधु ऐसे सुधार्गी॥

समयसार स्वभाव सुंदर और अनुपम रसमयी।
मिथ्यात्व वन दव-दाह मूर्छित जीवको अमृतमयी॥
परवादगिरिको वज्रसम अरु भव्य कुमुदनि-चंद्र हैं।
ऐसे वचोम्बुधि साधुसेवित सूरि अमृतचंद्र हैं॥

श्रीवीतरागाय नमः ।

सनातन जैन ग्रंथमाला

२१

श्रीमन्महामहिम-अमृतचंद्रसूरिवर्य-विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भव्यप्रबोधिनी नामक विस्तृत हिंदीटीका सहित ।

मूलग्रन्थकारका मंगलाचरण ।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिसमें (समस्तैः) संपूर्ण (अनंतपर्यायैः) अनंतपर्यायोंसे (समं) सहित (सकला) समस्त (पदार्थ मालिका) पदार्थोंकी माला अर्थात् समूह (दर्पणतले) दर्पणके तल भागके (इव) समान (प्रतिफलति) झलकती है, (तत्) वह (परं) उत्कृष्ट (ज्योतिः) ज्योति अर्थात् केवलज्ञानरूपी प्रकाश (जयति) जयवंत हो ।

विशेषार्थ—ग्रंथकार श्रीअमृतचंद्र सूरिने इस मंगलाचरणमें केवलज्ञानरूपी ज्योतिको ही नमस्कार किया है और जगत्में उसीका प्रकाश बना रहे, ऐसी भावना प्रगट की है। जिन अनन्तचतुष्टयगुणोंसे—अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्यसे—श्रीअर्हंतदेवमें परमपूज्यता एवं जीवनमुक्तपन आता है, उन्हींमेंसे यह केवलज्ञान ज्योति एक प्रधान गुण है। प्रधानता इस गुणको इसलिये दी जाती है कि आत्मामें अनंतगुणोंके रहते हुए भी यही एक ज्ञानगुण ऐसा है जो अन्य समस्त गुणोंका प्रकाशक है तथा अपना भी स्वयं प्रकाश करता है। वचनद्वारा भी यही एक गुण कहा जा सकता है अन्य समस्त गुण अवक्तव्य हैं अर्थात् कहे नहीं जा सकते। अन्य समस्त गुण क्यों अवक्तव्य हैं, तथा केवलज्ञान ही क्यों वक्तव्य है? इसका कारण यह है कि ज्ञान सविकल्पक—साकार है। अन्य—दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि समस्त गुण निर्विकल्पक—निराकार हैं। अतएव सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंका विवेचन नहीं किया जा सकता, परंतु उनकी भिन्नता दिखानेके लिये उनका जो लक्षण निरूपण किया जाता है, वह भी ज्ञानद्वारा ही किया जाता है। ज्ञान ही एक ऐसा अपूर्व सूर्य है जो स्व-पर-प्रकाशक है। जिस समय आत्मा घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है, उस समय वह समस्त कषायभावको अपने निजरूपसे सर्वथा दूर कर परमशुद्ध चैतन्यरूपको प्राप्त कर लेता है; उसी अवस्थामें आत्मामें अन्य समस्त गुणोंके पूर्ण विकाशके साथ साथ केवलज्ञान-सूर्यका उदय होता है। यद्यपि केवलज्ञानको सूर्यकी उपमा देना ऐसा ही है जैसे कि बालकके मांगने पर उसे असली सिंहके स्थानमें नकली सिंह देकर संतुष्ट करना। जिस प्रकार नकली सिंहमें असली सिंहके गुणोंका सर्वथा अभाव है, तो भी आकृतिसे सिंह समझकर बालक तुष्ट हो जाता है, उसीप्रकार प्रतिदिन उदय होनेवाले इस ज्योतिश्चक्रके प्रतींद्रके सूर्य-विमानमें स्वपर-

प्रकाशकत्व-रूप चेतन्य गुणका सर्वथा अभाव है, फिर भी जगत्में सबसे बडा प्रकाशकत्व-रूप स्वरूप देखकर केवलज्ञानको उसीकी उपमा देकर उसके अचिंत्य महत्त्वका दिग्दर्शन कर लेते हैं। जगत्में शब्दवर्गणारूप स्कंध कुल असंख्यात ही हैं। इसलिये जो शब्द हमें वस्तुके एक अंशका भी बोध कराते हैं, हम उन्हीं शब्दोंके प्रयोगसे वस्तुके समस्त स्वरूपके माहात्म्यको समझ लेते हैं। अन्यथा इस उपचरित विवक्षाको भी छोड दिया जाय, तो वस्तुतत्त्व सर्वथा अनिर्वचनीय हो जायगा; वैसी अवस्थामें हम उसके वास्तविक बोध तक कभी पहुंच नहीं सकेंगे। इसीलिये आचार्यप्रवर श्रीअमृतचंद्र महाराजने केवलज्ञानको उत्कृष्ट ज्योति शब्दसे सूचित किया है।

श्रीअर्हत्परमेष्ठीमें परमपूज्यता और ईश्वरपना इसीलिये प्राप्त हुआ है कि वे सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं और हितोपदेशी हैं। जिस सर्वज्ञता आदि गुणोंके द्वारा श्रीअर्हन्तदेवमें परमपूज्यता और ईश्वरपना आया, ग्रन्थकारने उन गुणोंका ही स्तवन किया है। वास्तवमें गुणोंसे भिन्न गुणी कोई पदार्थ भी नहीं है। गुणोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है। ज्ञानदर्शनादि गुणोंको छोड कर आत्मद्रव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, इसलिये ज्ञानकी पूजा है तो आत्माकी पूजा है, आत्माकी पूजा है तो ज्ञानकी पूजा है। इतना विशेष है कि शुद्ध आत्मा ही पूज्य हो सकता है, अशुद्ध आत्मा नहीं। अशुद्धताका कारण मिथ्याज्ञान है, शुद्धताका कारण सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्यग्ज्ञान ही पूज्य एवं स्तुति करने योग्य है। सम्यग्ज्ञानका आविर्भाव (विकाश, प्रारंभ) चतुर्थगुणस्थानमें होता है; वहींसे आत्मामें एकदेश पूज्यता तथा ईश्वरपनका प्रारंभ भी हो जाता है। आगे चलकर ज्यों ज्यों कषायभावोंका नाश होकर चारित्रकी वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों सम्यग्ज्ञान भी बढता जाता है। दशवें गुणस्थानके अन्तमें जब सूक्ष्म-

लोभका भी नाश हो जाता है तब आत्माका क्षीणकषाय-रूप परिणाम हो जाता है, वही समय आत्माकी पूर्ण चारित्रप्राप्तिका है। पूर्ण चारित्रविशिष्ट आत्मा ही परम वीतराग कहलाता है, जहांपर आत्मामें यह परम वीतरागता-गुण प्राप्त होता है, उसीके उत्तरकालमें उसमें केवलज्ञानरूपी परमज्योति प्रगट होती है। अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें आत्मा वीतरागी होता है, और वहींपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया प्रकृतियोंका नाश करके केवलज्ञानी—सर्वज्ञ हो जाता है। वही तेरहवें गुणस्थानका प्रारंभ है इसी तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाला आत्मा श्रीअर्हंतपरमेष्ठीके नामसे विभूषित होता है। यहींपर तीर्थंकर-प्रकृतिका उदय होता है तथा भगवानकी निरपेक्ष एवं स्वयंसिद्ध दिव्यध्वनि खिरती है, जिसके प्रभावसे अनेक भव्य जीव मिथ्यात्वको छोड कर सम्यक्त्व धारण कर लेते हैं, अनेक सम्यक्त्वी विशिष्टचारित्रशाली हो जाते हैं, अनेक श्रावक मुनिपदको धारण कर मोक्षलक्ष्मीके स्वामी बन जाते हैं। इसलिये वीतरागता और सर्वज्ञता ये दो ही गुण ऐसे हैं, जिनसे आत्मा स्वयं परमपूज्य एवं मुक्तिवधूका स्वामी बन जाता है और अन्य आत्माओंको भी अपने समान बना लेता है। वीतरागता सर्वज्ञतामें अन्तर्भूत है, अतएव इस मंगलाचरणमें उसी एक उत्कृष्ट ज्योति—केवलज्ञानका स्वरूप विवेचन-रूप स्तवन किया गया है।

जिसप्रकार दर्पणमें सामनेके समस्त पदार्थोंका प्रतिबिम्ब झलकता है, उसीप्रकार केवलज्ञानमें लोक अलोकके समस्त पदार्थ और उनमें होनेवाली भूतकाल भविष्यत्काल एवं वर्तमानकाल—त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पर्यायें हर समय प्रतिबिंबित होती रहती हैं। जिसप्रकार दर्पणमें पडनेवाला प्रतिबिम्ब उसी दर्पणकी पर्याय है, बाह्य पदार्थ केवल निमित्तकारण हैं, उसीप्रकार केवलज्ञानमें प्रतिबिंबित होने-

वाले समस्त पदार्थ उसी ज्ञानकी पर्याय है। बाह्य पदार्थ केवल निमित्तमात्र हैं। जिस प्रकार दर्पण स्व-स्वरूपको नहीं छोडता हुआ अपने स्थान पर नियत है और बाह्य पदार्थ स्व-स्वरूपको नहीं छोडते हुए अपने स्थान पर नियत हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान आत्मामें ही शुद्धरूपसे व्याप्त है, वह आत्माको छोड कर जगतमें कहीं नहीं जा सकता। कारण—जो जिसका गुण है, वह अपने गुणीको छोड कर कहीं बाहर नहीं जा सकता। गुण गुणीका तादात्म्य संबन्ध है। यदि गुण गुणीको छोडकर दूसरे स्थानमें भी चला जाय तो कहना होगा कि चेतनमें जडता भी आ सकती है और जडमें चेतनता भी आ सकता है, फिर सभी पदार्थ संकररूप धारण कर लेंगे। वैसी अवस्थामें न तो पदार्थोंकी नियति ही रह सकेगी और न उनके लक्षण एवं कार्य कारण स्वरूप ही बन सकेंगे। इसलिये केवलज्ञान निरावरण परमशुद्ध ज्ञान है, वह आत्मामें ही व्याप्त है, उसमें पदार्थोंका जो प्रतिबिंब पडता है, वह उसी ज्ञानकी शुद्ध पर्याय है। वह पर्याय पर-पदार्थोंके निमित्तसे होती है इसलिये विकारी है, ऐसी जिनकी समझ है, वह भूलभरी है, कारण—ज्ञेयको विषय करना ज्ञानका स्वभाव है, ज्ञेयकी विषयताको छोडकर ज्ञानका निजस्वरूप ही कुछ नहीं बनता, इसलिये ज्ञानमें होनेवाली समस्त पदार्थोंकी 'झलक' ज्ञानका ही शुद्ध रूप है। यदि पदार्थकी उदासीन निमित्तता ही ज्ञानमें विभावता उत्पन्न करनेवाली हो तो फिर कालकी उदासीन कारणता को भी सिद्धोंके स्वरूपमें विभावता लानेवाली कहना चाहिये, परन्तु बिना प्रेरक कारणके कभी किसी पदार्थमें विकार नहीं आ सकता। ज्ञान अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है, पदार्थ अपने स्वरूपमें स्थिर रहते हैं, ज्ञानमें पदार्थ विषय पडते हैं; ज्ञान उन्हें जानता है; यह वस्तुस्वरूप ही है। पदार्थ बिना जाने हुए नहीं रह सकते, और ज्ञान उन्हें जाने बिना नहीं रह सकता, दोनों दोनोंका स्वभाव ही है।

ज्ञानके लिए दर्पणका दृष्टान्त इसी अंशमें है कि जिसप्रकार उसमें पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमें झलकते हैं, स्पष्टताकी अपेक्षा विचार किया जाय तो केवलज्ञानमें और दर्पणमें झलकनेवाले पदार्थोंमें बहुत अन्तर है। दर्पणमें प्रतिबिंबित होनेवाले पदार्थोंका केवल एक अंश स्थूलतामें प्रतीत होता है। वह भी वास्तवमें परोक्ष ज्ञान ही है। दर्पणमें पदार्थके दूसरी ओरका भाग नहीं झलकता, और न भीतरका भाग ही उसमें झलकता है। सूक्ष्म परमाणु और रूप-रसादिककी तो बात ही नहीं है। केवलज्ञानमें जगत्के समस्त पदार्थ सर्वांशरूपसे झलकते हैं, इतना ही नहीं किन्तु पदार्थके समस्त गुण एवं उनकी प्रतिक्षणवर्ती समस्त पर्यायें एक साथ उस परम निर्मल ज्ञानमें झलकती हैं। इसलिये दर्पणका दृष्टान्त स्थूलदृष्टिको लेकर, केवल प्रतिबिंबित होनेके अंशको लेकर दिया गया है। दृष्टान्तका दूसरा अंश यह भी घटित होता है कि जिस प्रकार दर्पण स्वयं रागद्वेष-विहीन एवं इच्छा-रहित (जड) है, उसमें झलकनेवाले पदार्थ भी उसीप्रकार हैं, केवल वस्तुस्वभावसे दर्पणमें प्रतिबिंबित होते हैं, दर्पण उन्हें अपनेमें प्रतिबिंबित कर लेता है, उसी प्रकार केवलज्ञान भी रागद्वेष-विहीन इच्छारहित केवल स्व-स्वरूपमें ही पदार्थोंको विषय करता है। दृष्टान्तका तीसरा अंश स्थिरताकी अपेक्षासे है, जिसप्रकार दर्पण पदार्थोंके पास नहीं जाता और पदार्थ-दर्पणके पास नहीं आते, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मासे बाहर नहीं जाता और पदार्थ भी ज्ञानके पास नहीं आते। इसप्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्तकी अंश-विवक्षाको समझ कर वस्तु स्वरूप पहिचानना बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है।

श्लोकमें जो 'समं' पद दिया गया है, वह केवलज्ञानकी सर्वोत्कृष्ट निर्मलता दिखानेके लिये ही दिया गया है। जिसप्रकार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान क्रमसे पदार्थोंका बोध करते हैं, उसप्रकार

केवलज्ञान क्रमसे बोध नहीं करता किंतु एक साथ ही समस्त पदार्थोंको जानता है। इसका कारण यह है कि केवलज्ञान निरावरण है, उसमें इंद्रिय और मनकी किंचिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं है, इसके विपरीत मति-श्रुत आदि चारों ही ज्ञान सावरण हैं; आदिके दो ज्ञानोंमें तो इंद्रिय मनकी साक्षात् अपेक्षा है, इसीलिये वे परोक्ष हैं, बाकीके दो ज्ञानोंमें परंपरा है। परंतु उपयोगकी सर्वत्र आवश्यकता है, विना उपयोगके लगाये ज्ञान पदार्थोंकी ओर उन्हें जाननेके लिये उपयुक्त नहीं होता है, और उपयोग मनःपूर्वक होनेसे क्रमभावी है; इसीलिये अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तभी उपयुक्त होते हैं, जब कि पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रख कर उन्हें उपयोगमें लाया जाता है। यदि विना उपयोगके जोडे ही वे सदैव पदार्थोंको विषय करते हों तो फिर देवोंको अवधिज्ञान सदैव होना चाहिये, परंतु उन्हें सदैव नहीं होता किंतु जब वे जाननेके लिये उद्यत होते हैं तभी जानते हैं। इसीलिये अवधि और मनःपर्ययज्ञान बारहवें गुणस्थान तक ही रहते हैं, जहां तक कि मनका सद्भाव है। जहां मनकी सत्ता ही नहीं है, वहीं—तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान साम्राज्य प्रगट होता है। वहां उपयोगकी अपेक्षा न होनेसे युगपत् पदार्थोंका परिज्ञान होता है। इसी बातको द्योतित करनेके लिये 'समं' विशेषण दिया गया है। इसप्रकार परमर्षि आचार्यवर्य श्री अमृतचंद्र महाराजने आत्माके शुद्धस्वरूपमें प्रगट होनेवाले अचिंत्य, अविनश्वर, निर्विकार केवलज्ञान-साम्राज्यका स्तवनरूप मंगलाचरण किया है, और उसीका प्रकाश जगत्में जयवंत रहे, ऐसी भावना प्रगट की है। तथा इसी केवलज्ञान गुणके स्वरूप-निरूपणसे उन्होंने श्रीअर्हन्तदेवका स्वरूप एवं उनकी भक्ति भी द्योतित की है॥

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानं ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकांतं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(परमागमस्य) उत्कृष्ट आगम अर्थात् जैनसिद्धांतका (जीव) प्राणस्वरूप, (निषिद्धजात्यंध-सिंधुरविधानं) जन्मसे अंधे पुरुषों-द्वारा हानेवाल हाथीके स्वरूप विधानका निषेध करनेवाले, (सकलनयविल सितानां) समस्त नयोंकी विवक्षामे विभूषित पदार्थोंके (विरोधमथन) विरोधको दूर करनेवाले (अनेकांतं) अनेकांतधर्म 'स्याद्वाद'को (नमामि) मैं [आचार्यवर्य श्रीमद्अमृतचंद्र महाराज] नमस्कार करता हूं।

विशेषार्थ—अनेकान्तधर्म (स्याद्वादवाणी)-को नमस्कार करते हुए श्रीआचार्यपरमेष्ठीने उसके तीन विशेषण ऐसे दिये हैं जिनसे उस अनेकांतधर्मका असाधारण महत्त्व एवं सब धर्मोंसे श्रेष्ठता तथा वस्तुस्वरूपकी वास्तविकता प्रगट होती है। अनेकांतका पहला विशेषण 'परमागमका जीव' दिया गया है, इससे यह बात प्रगट की गई है कि यदि आगममें प्रमाणता आती है तो अनेकांतसे ही आती है, जिस आगममें अनेकांतदृष्टिसे निरूपण नहीं किया गया है, उस आगममें कभी प्रमाणता नहीं आ सकती; यही कारण है कि जैनधर्मको छोडकर बाकी सभी आगम, आगम नहीं किन्तु आगमाभास हैं। इसका रहस्य इसप्रकार है कि दिगंबरजैनधर्मको छोडकर समस्त धर्मोंने वस्तुस्वरूपका जो कुछ विवेचन किया है, वह एकांत-दृष्टिको लेकर ही किया है, परंतु वस्तुका स्वरूप अनेक धर्मात्मक है। कोई भी ऐसी वस्तु संसारमें नहीं दीखती, जो प्रतिक्षणमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्था न धारण करती हो। हर समय वस्तुओंमें दो प्रकारका परिणमन (पलटन) होता रहता है—एक तो उस वस्तुका एक आकारसे, दूसरा

आकार होना, दूसरे उस वस्तुमें रहनेवाले गुणोंमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना। जैसे आमके फलका छोटेसे बडा हो जाना, उससे रसके निकालने पर गुठलीका अलग हो जाना, गुठलीको भून लेनेपर उसकी और ही अवस्थाका हो जाना, उसके जलने पर उसकी भस्म हो जाना; ये सब परिणमन उस एक ही आमके फलके हैं। इसप्रकारके द्रव्यके परिणमनको व्यंजनपर्याय कहते हैं, यह पर्याय दो प्रकारकी होती है-(१) समान (सदृश) परिणमनवाली और (२) असमान (विसदृश) परिणमनवाली। समान परिणमनवाली पर्याय उसे कहते हैं कि जिसका परिणमन तो प्रतिक्षण होता रहे परन्तु द्रव्यकी स्थूल पर्याय ज्योंकी-त्यों प्रतीत होती रहे; स्थूल पर्यायका स्वरूप विपर्यय न होकर जो परिणमन होता है, उसे समान (सदृश) परिणमन कहते हैं। जैसे-सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम चैत्यालय, चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिश्चक्र। इन सबका परिणमन तो प्रतिक्षण होता है परंतु सुमेरु अथवा अकृत्रिम चैत्यालय आदिके आकारमें कभी कोई प्रकारका स्वरूपविपर्यास नहीं होता। उनमेंसे अनेकों परमाणु निकल जाते हैं, अनेकों आकर मिल जाते हैं, परंतु उनके आकारमें कभी कोई अंतर नहीं आता। इस प्रकारका परिणमन सदृशपरिणमन कहलाता है। सिद्धोंके आत्माका परिणमन भी सदृश-परिणमन है। जिस परिणमनमें वस्तु एक आकारको छोडकर दूसरे आकारको धारण कर ले, उसे असमान (विसदृश) परिणमन कहते हैं; जैसे-सोनेका, कडा (वलय) हो जाना, कडेसे अंगूठीका बन जाना, अंगूठीसे उसीका कर्णकुंडल बन जाना; इत्यादि सभी परिणमन उस स्वर्णद्रव्यके विसदृशपरिणमन हैं। एक मनुष्यका बालकसे युवा होना, युवासे प्रौढ होना, प्रौढसे वृद्ध होना इत्यादि सभी अवस्थाभेद उस मनुष्यका विसदृश—असमान परिणमन है। ये सभी द्रव्यके परिणमन हैं, और व्यंजनपर्यायके नामसे कहे जाते हैं।

दूसरे प्रकारका परिणमन गुणोंका होता है। जैसे—आमके फलमें पहले हरे रंगका होना, पीछे पीले रंगका होना, अथवा हरे रंगसे पीला और लाल रंगका होना, पहले उसमें खट्टे रसका होना, पीछे परिपक्क होने पर मीठे रसका होना: इसीप्रकार खट्टे रसके रहने पर दूसरे प्रकारकी गन्धका होना, मीठा रस होने पर दूसरे प्रकारकी गन्धका होना, आमके फलके कच्चे रहने पर कठोरताका होना, पकने पर उसका कोमल होना; ये सब परिणमन उस आम्रफलमें रहनेवाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणोंके हैं। आत्मामें भी ज्ञान कभी मनुष्यको जानता है, कभी तिजोडीको जानता है, कभी जवाहरातको जानता है, कभी कपडेके भेदप्रभेदोंको जानता है। ये सब परिणमन एक ही ज्ञानगुणके हैं, इस गुण-परिणमनको गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय कहते हैं। इन्हीं समस्त पर्यायोंके अनादिसे अनन्तकाल तक होनेवाले समूहको द्रव्य कहते हैं। इन्हीं पर्यायोंके कारण वस्तु अनंतधर्म-वाली कहलाती है, ये धर्म जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें कभी परनिमित्तसे विभावरूप भी धारण करते हैं; कभी परनिमित्त दूर होने पर स्वभावरूप धारण करते हैं। इन अवस्थाभेदोंके कारण ही वस्तु कभी किसी विवक्षासे विवक्षित होती है और कभी किसी विवक्षासे। किसी विवक्षासे चौकीको काठ भी कहते हैं, और किसी विवक्षासे वृक्ष भी कहते हैं, किसी विवक्षासे उसे दूध भी कहते हैं: चौकी काठसे बनी है और चौकी रूप भी काठका ही स्वरूपांतर है, इसलिये भूतपूर्वनयकी अपेक्षासे अथवा वर्तमाननयकी अपेक्षासे भी उसे काठ कहा जा सकता है। पहले वह वृक्षरूपमें थी अथवा आगे पुनः हो जायगी, इस दृष्टिसे उसे वृक्ष कहनेमें भी कोई स्वरूपविपर्यास नहीं आता। यदि कालान्तरमें वृक्षरूप होकर उसके परमाणु दूध रूप धारण कर लें, तो उस चौकीको भविष्यत्नयकी अपेक्षा दूध भी कह सकते हैं। इसीप्रकार नाना पर्यायोंकी

अपेक्षा एक ही वस्तुको अनेक कह सकते हैं, एक पर्यायकी दृष्टिसे एक ही कह सकते हैं; गुणोंकी दृष्टिसे उसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य कह सकते हैं । इसीप्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु सत्‌रूप है अर्थात् 'है' और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा 'नहीं है' अर्थात् असत् है । चौकीरूप द्रव्यपिंड स्वद्रव्य है, उसके खण्डकल्पनाजनित प्रदेश स्वक्षेत्र हैं, उसमें होनेवाली पर्यायें स्वकाल हैं, तथा उस चौकीमें रहनेवाले गुण स्वभाव हैं। उपर्युक्त चारों ही प्रकार एक चौकीके स्वरूपसे भिन्न कोई भिन्नवस्तुरूप नहीं है, इसलिये चौकी अपने स्व-स्वरूपकी अपेक्षा तो 'है', पर-पदार्थ पुस्तककी अपेक्षा 'नहीं है' । क्योंकि पुस्तकका स्वरूप पुस्तकका ही है, वह चौकीका नहीं कहा जा सकता; इसलिये उस पुस्तकके स्वरूप-चतुष्टयकी अपेक्षा चौकीका नास्तित्व ही है । इसीप्रकार हरएक वस्तु निज-द्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षा सत्‌रूप है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा वही असत्‌रूप है । यदि निजस्वरूपकी अपेक्षा भी वस्तुमें अस्तित्व—सत्ता न हो, तो वह वस्तु वस्तु ही नहीं ठहर सकती, अभाव-रूप अवस्तु ठहरेगी । यदि परस्वरूपकी अपेक्षा भी वस्तु कही जाय—जैसे चार पायेकी चौकीका जो स्वरूप है, वही स्वरूप पुस्तकका भी माना जाय—तो सभी वस्तुओंमें सांकर्य हो जायगा; अर्थात् स्वरूप-भेद न होनेसे सभी एक कहलावेंगी । फिर पुस्तकको चौकी, चौकीको लोटा, लोटाको दावात आदि कुछ भी कहा जा सकता है । जगत्‌में वस्तुभेद न रहनेसे कार्य-कारणभाव भी नहीं रह सकता, वैसी अवस्थामें किसीकी कोई कार्यसिद्धि नहीं हो सकती; इसलिये स्व-पर-विवक्षा मानना परम आवश्यक है । बिना उसके माने वस्तुस्वरूप बनता ही नहीं । इसीलिये अस्तित्व और नास्तित्व, एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदिमें परस्पर विरोध-सा मालूम होता है । अतएव स्याद्वाद एवं अनेकांतके स्वरूपसे अनभिज्ञ—अन्य दर्शनवाले अनेकांतको परस्पर विरोधी धर्मवाला कहकर एकांतपक्षको

पकड बैठे हैं, वह उनकी अल्पज्ञता एवं अजानकारीका परिणाम है, वास्तवमें जो विरोधी सरीखे धर्म विदित होते हैं, वे विरोधी नहीं, किन्तु एक दूसरेके अविरुद्ध और सहायक हैं, यहां तक सहायक हैं कि एक धर्मको नहीं माना जाय तो दूसरा भी नहीं बन सकता। अस्तित्व और नास्तित्व एवं नित्यत्व और अनित्यत्व एक ही वस्तुमें दो परस्पर विरोधी धर्म कैसे ठहर सकते हैं, ऐसी आशंका लोगोंको क्यों होती है और उसका क्या परिहार है, उसका खुलासा इसप्रकार है—

एक ही वस्तु नित्य भी कही जाय और अनित्य भी कही जाय, अथवा एक भी कही जाय और अनेक भी कही जाय, ये दोनों बातें वास्तवमें विरोधी हैं। जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता, जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता: जब तक अपेक्षाबुद्धिसे काम नहीं लिया जाता, तब तक विरोधका उत्पन्न होना स्वभाविक बात है। जैनदर्शनसे भिन्न दर्शनवाले जितने भी हैं, वे सब विचारे स्याद्वादके अपेक्षा-रहस्यको जानते ही नहीं हैं; ऐसी अवस्थामें वे विरोधी धर्मोंका एक वस्तुमें रहना अस्वीकार करते हैं। परन्तु जैनधर्मने जो वस्तुस्वरूप बताया है, वह सब नयदृष्टिसे बताया है। यदि नयदृष्टि (अपेक्षा-तत्त्व) को छोड दिया जाय तो वास्तवमें विरुद्ध-धर्मोंका एक स्थानमें कहना सर्वथा अशक्य एवं अयुक्त ठहरेगा। जिस दृष्टिसे वस्तु नित्य कही जाती है, वह दृष्टि द्रव्यदृष्टि है; क्योंकि द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, वह कितनी ही अवस्थाएँ क्यों न धारण करे परन्तु अपने स्वरूपका परित्याग कभी नहीं कर सकता; तथा जिस दृष्टिसे वस्तु अनित्य कही जाती है वह दृष्टि पर्यायदृष्टि है, पर्याय सदा पलटती रहती है, वस्तुमें एक पर्याय कभी नहीं रहती, जो एक समयमें पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, दूसरी ही उत्पन्न हो जाती है। दृष्टान्तके लिये दीपशिखाको ले लीजिये; दीपशिखा बराबर एक ही दीखती है, परन्तु वह एक नहीं किन्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, नवीन नवीन तैल-परमाणुओंके आकर्षणसे कभी तेज,

कभी मंद, कभी अधिक ऊंची, कभी कम ऊंची, आदि अनेक अवस्थाएँ धारण करती रहती है। वे सब परिणमन सूक्ष्म हैं एवं सदृश हैं। इसलिये देखनेवाले छद्मस्थोंको एक ही शिखा प्रतीत होती है। इसी-लिये पर्यायदृष्टिसे वस्तु अनित्य है, यदि पर्यायदृष्टिको छोड दिया जाय, फिर वस्तुको अनित्य कहा जाय, तो वैसा कहना सर्वथा बाधित है: कारण वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य भी है, उसे सामान्यरूपसे अनित्य नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार द्रव्यदृष्टिको छोडकर केवल सामान्यरूपसे वस्तुको नित्य कहा जाय, तो वैसा कहना सर्वथा प्रमाणबाधित है; कारण पर्यायदृष्टिसे वस्तु अनित्य भी है, उसे सर्वथा नित्य सम-झना भूल है। इसलिये पर्यायदृष्टिसे वस्तु सदा अनित्य और द्रव्यदृष्टिसे सदा नित्य कही जाती है। जब कि वस्तु द्रव्यपर्यायरूप अथवा गुणपर्यायरूप है तो दृष्टिभेद भी उसमें स्वाभाविक है, जहां दृष्टिभेद है वहां धर्मभेद भी अनिवार्य है; अतः एक ही वस्तुमें दो धर्म परस्पर विरोधी नहीं किंतु परम-अविरोधी और एक दूसरेके साधक हैं। इसी अपेक्षाकृत निरूपणको स्याद्वाद कहते हैं, 'स्यात्' नाम कथंचित्का है और 'वाद' नाम विवक्षाका है, अर्थात् किसी दृष्टिसे एक विवक्षा, किसी दृष्टिसे दूसरी विवक्षा वस्तुनिरू-पणामें घटित होती है। इस स्याद्वादरूप कथंचित्-विवक्षातत्त्वको नहीं समझनेसे ही अच्छे अच्छे बौद्ध, सांख्य आदिक दार्शनिक भूलमें पडे हुए हैं। बौद्धदर्शनने केवल पर्याय-परिणमनको ध्यानमें रख कर वस्तुको सर्वथा अनित्य मान लिया; परन्तु जो आत्मा हिंसा करता है, वा तप करता है, उसको हिंसाका फल अथवा तपका फल क्या मिल सकेगा? हिंसा अथवा तप करनेवाला आत्मा तो बौद्धदर्शनके सिद्धांता-नुसार नष्ट हो चुका; क्योंकि उसके यहां आत्मा भी अनित्य है! वस्तुको सर्वथा अनित्य माननेमें नरक, स्वर्ग, पुण्य, पाप, दान, तप, शील, मोक्ष आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं ठहर सकती; कारण उन

सब कार्योंका करनेवाला और उन पुण्यपापादिकके फलको भोगनेवाला आत्मा ही एक क्षणमें सर्वथा नष्ट हो जाता है, तो फिर वह पुण्यपापके फलको कैसे भोग सकता है! इसीप्रकार सांख्यदर्शनवाला बौद्धसे विपरीत, वस्तुको सर्वथा नित्य मानता है, उसके यहां भी वस्तुव्यवस्था नहीं बन सकती। जब कि आत्मा सर्वथा नित्य है तो परिणामोंमें कभी हिंसारूप प्रवृत्ति, कभी सात्विकभावोंकी जागृति, कभी क्रोधावस्था, कभी हास्यरसास्वादन, कभी तपोजनित शुद्ध परिणति, कभी उसके प्रतिकूल अशुद्ध परिणति आदि भावोंका पलटना हो नहीं सकता। वैसी अवस्थामें नरक स्वर्ग मोक्षादि व्यवस्था भी नहीं बन सकती। यही युक्तिशून्य, अव्यवस्थित एवं प्रमाणबाधित व्यवस्था अन्यान्य समस्त वेदांती, मीमांसक, नैयायिक, वैशेषिक, प्राभाकर भट्ट, आदि दार्शनिक विद्वानोंके यहां समझना चाहिये। अतएव उनका आगम आगमाभास है। वस्तुस्वरूप अनेक धर्मात्मक है, वे अनेकधर्म पर्यायात्मक हैं, पर्यायें सूक्ष्म हैं, इसलिये उनका यथार्थ विवेचन सर्वज्ञके द्वारा ही हो सकता है। जैनधर्मका स्वरूप सर्वज्ञदेवने कहा है, इसीलिये उनके कहे हुए आगमका अनेकांत ही प्राण है। अतएव जैनागम परमप्रमाण है। जिसप्रकार भित्तिका जीव मूलभूत वस्तु भित्तिकी जड है, बिना जडके वह ठहर नहीं सकती; रेलगाडीका जीव ऐंजिन है, बिना ऐंजिनके वह चल नहीं सकती; घडीका जीव चाबी है, बिना चाबी दिये वह चल नहीं सकती, तत्काल उत्पन्न बालकका वाह्य जीव दूध है, बिना दूधके वह जी नहीं सकता, (जीवसे यहां प्रयोजन वस्तुके अंतःसारका है) उसीप्रकार, श्रीआचार्य महाराजने अनेकांतको परमागमजैनसिद्धांतका जीव बताया है। अनेकांतसे ही उसमें प्रमाणता आती है।*

* किसी किसी प्रतिमें "परमागमस्य बीजं" ऐसा भी पाठ है। वह भी ठीक है, उसका ऐसा अर्थ है कि अनेकांत परमागमका कारण है,

इसी अनेकांत-निरूपणाको छोडकर जैनमतके सिवा अन्य सभी मतवाले वस्तुके एक एक अंशको ही वस्तु मानकर अपनी अपनी बातको पुष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, वह उनकी चेष्टा ऐसी ही है जैसी कि जन्मके अंधे पुरुषोंकी हाथीकी पहचानमें चेष्टा होती है। जन्मके अंधे पुरुष हाथीका आकार एवं उसका स्वरूप जाननेके लिये स्पर्शनसे काम लेते हैं; जो हाथीका पैर पकड लेता है, वह पैरहीको हाथी मान लेता है; पूंछ पकडनेवाला पूंछको ही हाथी मान बैठता है, सूंढ पकडनेवाला सूंडको ही हाथी समझ बैठता है; इसीप्रकार कान पेट आदि भिन्न भिन्न हाथीके अवयवोंको जन्मान्ध पुरुष हाथी समझते हैं, परंतु वह उनका समझना हाथीका स्वरूप नहीं है। समस्त अवयवोंका समूह ही हाथीका स्वरूप है। इस बातका परिज्ञान नेत्रवाला ही कर सकता है। इसीप्रकार एकांतवादसे वस्तुकी सिद्धि करनेवाले वस्तुके एक धर्मको ही वस्तु समझते हैं, परंतु वस्तु अनेकधर्मात्मक है इस बातको अनेकांतवादी जैनधर्म प्रगट करता है, यही बात दूसरे विशेषणसे सिद्ध होती है।

पदार्थ अनेक धर्मोंका पुंज होनेसे नयविवक्षाएँ भी उतनी ही हैं। उन समस्त धर्मोंका विवेचन भिन्न भिन्न नयविवक्षाओंसे विवक्षित होनेके कारण उन धर्मोंमें परस्पर विरोध नहीं रहता, यही बात 'निषिद्धजात्यन्धसिंधुरविधानं' इस तीसरे विशेषणसे प्रगट की गई है।

अनेकांत और स्याद्वाद दोनों ही स्थूलदृष्टिसे एक प्रतीत होते हैं, परंतु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर उनमें भिन्नता प्रतीत होती है। 'अंत' नाम धर्मका है: अनेक धर्म जिसमें पाये जांय, उसे 'अनेकांत' कहते

अर्थात् जैनागममें प्रमाणता आनेका कारण अनेकांत है। बीज और जीव दोनों पाठ ठीक हैं, हमारी दृष्टिमें 'जीव' पाठ अधिक महत्वका है, बिना अनेकांतके आगम निर्जीव ही है, इस बातको 'जीव' पाठ प्रगट करता है।

हैं। अनेकधर्म द्रव्यमें पाये जाते हैं, इसलिये द्रव्य अनेकांतस्वरूप है। जब कि पदार्थ अनेक (अनंत) धर्मात्मक है, तो वह अनेक नयोंसे ही विवक्षित हो सकता है। एक नयसे एक धर्मका निरूपण किया जाता है। जहां विवक्षित नयोंसे भिन्न भिन्न निरूपण होता है, वहीं कथंचित्वाद अथवा नयवाद कहलाता है। जहां समस्त धर्मोंका युगपत् परिज्ञान किया जाता है, वहां अनेकांत अथवा प्रमाणवाद कहलाता है। स्याद्वाद—नयवाद, अनेकांत—प्रमाणवाद, इस रूपमें परस्पर भेद भी है तथा विवक्षावश उनमें अभेद भी है। कारण अनेकांत भी अनेकांतरूप है, इसलिये वह प्रमाण और नय दोनोंसे साध्य है। परमाराध्य श्रीसमंतभद्रस्वामीने 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'में श्रीअरनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करतेमें कहा है "अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् ॥ १०३ ॥" इसी अनेकांत—स्याद्वादसे पदार्थका स्वरूप यथार्थ जाना जाता है, और इसीसे समस्त विरोध दूर होते हैं; ऐसे जैनधर्मके अंतःसारभूत एवं प्राणभूत अनेकांत—स्याद्वादको श्रीअमृतचंद्रसूरि महाराजने नमस्कार किया है ॥

ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा और आचार्यका अभिप्राय।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(लोकत्रयैकनेत्रं) तीन लोकके समस्त पदार्थोंको दिखानेके लिये एक—अद्वितीय नेत्रस्वरूप (परमागमं) उत्कृष्ट आगम—जैनसिद्धांतको (प्रयत्नेन) परिश्रमपूर्वक—भले प्रकार (निरूप्य) मनन करके (अस्माभिः) हमारे द्वारा (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" नामका ग्रंथ (विदुषां) विद्वान् पुरुषोंके लिये (उपोद्ध्रियते) कहा जाता है।

विशेषार्थ—इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके बनानेकी प्रतिज्ञा करते हुए आचार्यने स्वतंत्र रचनाका निषेध किया है, उन्होंने यह बात प्रकट कर दी है कि जो कुछ हम कहेंगे वह हमारे स्वतन्त्र विचार नहीं होंगे। किंतु आर्षमार्गका अनुसरण करके ही हम निरूपण करेंगे। जैनसिद्धांतका पूर्वापर अच्छी तरह मनन करके ही इस ग्रन्थकी रचना करेंगे, इस कथनसे यह प्रगट होता है कि किसी ग्रन्थकी रचना तभी करनी चाहिये जब कि जैनसिद्धांतका रहस्य विदित कर लिया जाय; बिना जिनागमका रहस्य समझे तथा उनकी कथनपद्धतिको प्रमाणमें लिये बिना किसी भी ग्रन्थ-रचयिताकी स्वतन्त्र की गई ग्रंथ-रचना प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकती, क्योंकि आर्षग्रन्थोंके जाने बिना और उनकी अविरुद्धताके बिना अपनी ना-समझी एवं अल्पज्ञताके कारण बनाये हुए ग्रन्थमें वस्तुस्वरूप यथार्थ नहीं कहा जा सकता। जैनधर्म सर्वज्ञ-प्रणीत है, वह सर्वज्ञदेवके साक्षात् शिष्य गणधरदेव, उनके शिष्य प्रशिष्य अनेक आचार्योंकी पूर्वापर आविरुद्ध कथन-शैलीसे ज्योंका-त्यों चला आ रहा है, इसलिये जैनधर्म-कथित पदार्थ-परंपरा सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होनेसे एवं ज्योंका-त्यों गणधर आचार्योंद्वारा कहे जानेसे ठीक है, प्रमाणभूत है। यदि भिन्न भिन्न आचार्य अपनी अपनी स्वतंत्र रचना करते और पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थोंकी पद्धति एवं अविरुद्धताका ध्यान न रखते तो आज द्रव्यानुयोग चरणानुयोग आदि चारों ही अनुयोगके शास्त्रोंमें अनेक विरोध दीखते; क्योंकि इतना सूक्ष्म—गुण द्रव्य पर्यायोंका तथा जीवके भावस्वरूप गुणस्थानों आदिका—विवेचन अल्पज्ञों द्वारा न तो किया ही जा सकता है और न एक रूपमें हो ही सकता है। आचार्य कुंदकुंदस्वामी, भूतबलि, पुष्पदंत, समंतभद्रस्वामी, अकलंकदेव, जिनसेन, विद्यानंदि, पूज्यपाद, गुणभद्र, नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती, वीरनंदि आदि जितने भी आचार्य होते आये हैं, उन सबोंके रचे हुए शास्त्रोंमें द्रव्यस्वरूप,

व्रतस्वरूप, लोकस्वरूप आदि समस्त पदार्थोंकी रचना एक ही पाई जाती है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक आचार्यने ग्रन्थप्रारंभमें अपनी स्वतन्त्रताका परिहार और पूर्वाचार्योंकी प्रमाणता स्वीकार की है। आचार्योंके सिवा जिन पण्डितोंने ग्रन्थोंकी रचना की है, वह भी आर्षवचनोंके अविरुद्ध ही की है; अपने ग्रन्थोंकी प्रमाणताके लिये उन्होंने आचार्योंके वचनोंको ही प्रमाणभूत ठहराया है, यह बात सूरिकल्प पंडितप्रवर आशाधरजी, पं॰ टोडरमलजी आदिकी रचनासे सर्वविदित है। इसी सारपूर्ण आशयको लेकर आचार्यवर्य ग्रन्थकार महाराजने जैन-आगमकी अनुकूलता प्रगट करके, उनके प्रति श्रद्धाका भाव द्योतित किया है। तथा जैनागमकी प्रमाणताको ही स्वनिर्मित ग्रन्थमें प्रमाणताका कारण बतलाया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रमें प्रधानतासे श्रावकाचारका वर्णन है, यद्यपि अनेक श्रावकाचार हैं, परंतु इस ग्रन्थमें हरएक व्रतका स्वरूप युक्तिपूर्वक विस्तारसे कहा गया है। हिंसा अहिंसाका जो स्वरूप इस ग्रंथमें कहा गया है, वह ऐसा अपूर्व है कि सुनने पढनेवालोंको, दोनोंका समस्त सूक्ष्मरहस्य भेदप्रभेदपूर्वक भले प्रकार समझने एवं मनन करने योग्य है। ग्रन्थके प्रारंभमें नयोंका दिग्दर्शन भी संक्षेपमें इतना अच्छा किया गया है कि उससे नयोंकी सार्थकताका परिज्ञान हो जाता है। इन सब बातोंसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके लिये अत्युपयोगी है। इसीलिये श्रीसूरि महाराजने 'विदुषां' इस पदसे विद्वानोंको लक्ष्य करके इसका प्रणयन किया है। एक आचार्यप्रमुख महर्षिकी रचनासे उसके वेत्ता विद्वान् विशेष लाभ उठा सकते हैं।

---

(१) इस ग्रंथके नामकी सार्थकता आगे श्लोक ९से १५ तक स्वयं आचार्यमहाराजने बतलायी है, इसलिये यहां हमने नहीं लिखी।
—टीकाकार.

मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयंते जगति तीर्थं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(व्यवहारनिश्चयज्ञाः) व्यवहारनय और निश्चयनयको जाननेवाले (मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः) मुख्य और गौण कथनकी विवक्षासे शिष्योंके गहरे मिथ्याज्ञानको दूर करनेवाले 'महापुरुष' (जगति) संसारमें (तीर्थं) धर्मको (प्रवर्तयंते) फैलाते हैं ।

विशेषार्थ—जैनधर्मका जितना भी उपदेश है वह नयके आधीन है, नयोंके अनेक भेद हैं, जितने वस्तुके धर्मभेद हैं उतने ही नयभेद हैं। वस्तुके धर्मभेद स्वपर-निमित्तसे अनन्त हैं इसलिये नयभेद भी अनंत हैं । मूलमें नयोंके दो भेद हैं—१ निश्चयनय और २ व्यवहारनय । जो परपदार्थकी कुछ भी अपेक्षा न करके केवल निज-गुणोंका अभेदरूपसे विवेचन करता हो, उसे निश्चयनय कहते हैं, और जो परद्रव्यके सम्बन्धसे वस्तुस्वरूपका विवेचन करता हो, उसे व्यवहारनय कहते हैं । यह स्थूल कथन है, सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर जो निश्चयनयका ऊपर स्वरूप बतलाया गया है, वह भी व्यवहार ही है । वास्तवमें निश्चयनय उसे कहते हैं कि जो-कुछ पदार्थके स्वरूपका भेदरूप कथन है, उसका निषेध करते जाना । अर्थात् निषेधात्मक निश्चयनय है । जैसे यह कहना कि जीवका ज्ञानगुण है, सम्यक्त्वगुण है, चारित्रगुण है । यद्यपि ज्ञान सम्यक्त्व चारित्र आदि सभी जीवके निज-गुण हैं, इसलिये उन गुणोंका जीवके बतलाना यह निश्चयनयका विषय पड जाता है; परन्तु यह बहुत ही स्थूलदृष्टि है । वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञान सम्यक्त्व चारित्र आदि गुण जीवसे भिन्नपदार्थ कुछ भी नहीं है; जो जीव है, वही ज्ञान-सम्यक्त्व-

चारित्र है; जो ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र है, वही जीव है जब कि दोनोंमें भेद ही नहीं है। दोनोंका तादात्म्य-भाव है। अथवा दोनों एक ही वस्तु है, तब उसमें जीव और ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र ऐसा भेद दिखलाना यह वस्तुस्वरूप नहीं रहा। एक अभिन्न वस्तुको दो कहना अथवा द्रव्यगुणका भेद प्रगट करना, यह सब कथन वस्तुस्वरूप नहीं है, इसलिये निश्चयनय इसका निषेध करता है। जीव ज्ञानवाला है। निश्चयनय कहता है, नहीं। जीव सम्यक्त्ववाला है। निश्चयनय कहता है, नहीं। जीवके अनंत गुण हैं। निश्चय-नय कहता है, नहीं। जीव गुणपर्यायात्मक है। निश्चयनय कहता है, नहीं। इसप्रकार निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चयनय है।

यहां शंका हो सकती है कि जब निषेध ही उसका विषय है, तो अभावस्वरूप होनेसे वह अभा-वात्मक ठहरता है? ऐसी आशंकाका उत्तर यह है कि—निषेध अभावस्वरूप नहीं है किंतु भावस्वरूप है; जैसे किसी मनुष्यको कहना कि यह पक्षी है क्या? उत्तर होगा नहीं। हाथी है क्या? उत्तर होगा नहीं। नारकी है क्या? उत्तर होगा नहीं। देव है क्या? उत्तर होगा नहीं। इत्यादि अनेक बातोंका निषेध करने पर क्या वह मनुष्य अभावात्मक ठहराया जा सकता है? कभी नहीं, कारण जिन धर्मोंका उसमें विधान किया जाता है, वे धर्म उसमें नहीं पाये जाते इसीलिये उसमें उनका निषेध किया जाता है। परंतु उन धर्मोंका निषेध करनेसे मनुष्यत्व तो उससे नहीं चला जा सकता, मनुष्यरूप वस्तु तो वह है ही। यह एक स्थूल दृष्टान्त है, इसीप्रकार निश्चयनय अभेदरूप अखंडपिंडात्मक वस्तुको विषय करता है, अखंड-पिंडस्वरूप वस्तु शब्दसे नहीं कही जा सकती; कारण जो-कुछ भी शब्दोंमें कहा जायगा वह सब एक धर्मात्मक होगा। जैसे द्रव्य कहनेसे केवल द्रव्यत्व-गुणका बोध होता है, परंतु वस्तु केवल द्रव्यत्वगुण-

वाली ही तो नहीं है। इसीप्रकार वस्तु कहनेसे वस्तुत्व-गुणका, ज्ञानी कहनेसे ज्ञानगुणवालेका बोध होता है। एक शब्दसे समस्त वस्तुका बोध कभी नहीं हो सकता। शब्दमें वह शक्ति ही नहीं है कि सर्वधर्मोंको एक साथ प्रतिपादन कर सके। इसका भी कारण यह है कि जितने भी शब्द बनते हैं वे सब धातुओंसे बनते हैं; धातुएँ क्रियात्मक होती हैं, क्रिया एक समयमें एक ही धर्मका द्योतन करती है। इसलिये शब्दों-द्वारा जोकुछ वस्तुस्वरूप कहा जायगा, वह भेदात्मक ही पडेगा। वस्तुस्वरूप अभिन्नरूप है, अतः निश्चयनय 'जीवका ज्ञानगुण है' इस कथनको भी मिथ्या समझता है। शब्दों द्वारा प्रतिपादित भेदात्मक धर्मोंका निषेध करते हुए भी अनन्तगुणोंका अभिन्नरूप अखंडपिंडरूप अवक्तव्य जीव द्रव्य ही निश्चय नयका विषय पडता है। उपर्युक्त कथनका सार इतना ही है कि निश्चयनयका विषय अवक्तव्यस्वरूप भावद्रव्य है। बाकी समस्त-भेदरूप कथन व्यवहारनयका विषय है। जीवके ज्ञान कहना, यह भी व्यवहारनयका ही विषय है। क्योंकि द्रव्य गुणमें भेद प्रगट किया है। यहां पर यह शंका की जा सकती है कि जब द्रव्यगुणका कथन भी मिथ्या है जो कि वास्तविक है, तो परनिमित्तसे जितना भी कथन होगा वह तो अवश्य ही मिथ्या होगा। जैसे किसी पुरुषको क्रोधी कहना। क्रोध ज्ञानकी तरह आत्माका निजस्वरूप तो नहीं है, किंतु पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होनेवाला आत्माका वैभाविक परिणाम है। यह सब कथन निश्चयनयसे मिथ्या ठहरता है, तो क्या व्यवहारनयका विषय सब मिथ्या ही है? यदि ऐसा है तो व्यवहारनय भी मिथ्या ठहरा? इस शंकाका उत्तर यह है कि—

जो व्यवहारनयका विषय है, वह निश्चयनयसे मिथ्या इसलिये है कि वह नय शुद्धवस्तुस्वरूपको ही विषय करता है। परन्तु व्यवहारनय भी मिथ्या नहीं है, परनिमित्तसे होनेवाले धर्मोंको विषय करना

ही उसका लक्षण है; तो जो अपने लक्षणसे लक्षित है, वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। परंतु फिर भी शंका यही उपस्थित हो सकती है कि उसका विषय तो मिथ्या ही है? इसका उत्तर यह है कि उसे भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता; कारण वह निश्चयका साधक है। व्यवहारका जितना भी विषय है, वह सब पदार्थस्वरूपका बोध कराता है; क्योंकि पदार्थके अवक्तव्य होने पर भी उसका दूसरेको बोध करानेके लिए सिवा भेदनिरूपणके और कोई मार्ग नहीं है। यदि पुद्गलद्रव्यसे भिन्न जीवपदार्थका बोध कराया जाय तो कहना होगा कि जीव ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यगुणवाला है। पुद्गल रूप-रस-गंध-स्पर्शगुणवाला है। इस भेदको निश्चयनय ठीक नहीं समझता, परंतु वस्तुस्वरूपके बोधका कारण होनेसे व्यवहार-नयसे ठीक है। जीव क्रोधी भी प्रतीत होता ही है, वह शरीरविशिष्ट भी है, अल्पज्ञानी भी है। इन सम्पूर्ण अवस्थाओंको अवास्तविक—अयथार्थ नहीं कहा जा सकता, परंतु ये सब अवस्थायें जीवकी कर्मजनित हैं, और व्यवहार परसंबंधित अवस्थाओंको विषय करता है इसलिये व्यवहारदृष्टिसे व्यवहारनयका विषय भी ठीक है। यदि वह ठीक न माना जाय तो कर्मका फल—पुण्य-पाप-नरक-स्वर्गादि व्यवस्थायें केवल काल्पनिक ठहरेंगी। हां! इतना अवश्य है कि जिस दृष्टिसे जो घटित किया जाय, उसी दृष्टिसे वह घटित हो सकता है। मुक्त और संसारी, दोनों जीवकी ही अवस्थायें हैं, उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता। परंतु अपेक्षाभेदसे उनमें भेद है। एक समयमें एक ही अपेक्षासे पदार्थका निरूपण किया जा सकता है, इसलिये एक समयमें एक धर्म मुख्य ठहरता है, दूसरा अविवक्षितधर्म गौण ठहरता है। यदि व्यवहार-नयकी अपेक्षासे जीवका विवेचन किया जाय, तो मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी इन पर्यायोंमेंसे जिस पर्यायमें जीव उपस्थित है, उस पर्यायकी मुख्यतासे ही उसका निरूपण किया जायगा। उस समय जीवकी शुद्ध

अवस्थाका निरूपण गौण पड जाता है। जिस समय निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवका विवेचन किया जायगा, तो जीव चाहे किसी भी पर्यायमें क्यों न हो उसका शुद्धस्वरूप—सिद्धस्वरूप ही निरूपण किया जायगा। उस समय उसकी कर्मजनित अशुद्ध अवस्थाका निरूपण गौण पड जाता है। इसी विवक्षाभेदसे वस्तुकी सिद्धि होती है। जो अपेक्षा-कथनको नहीं समझते, वे वस्तुस्वरूपके यथार्थ विवेचक भी नहीं हो सकते, इसीलिये इस श्लोकमें यह बात प्रगट की गई है कि जो व्यवहार-निश्चयके परिज्ञानी हैं तथा मुख्यविवक्षा और गौणविवक्षाके निरूपणसे शिष्योंके प्रगाढ अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं, वे ही जगतमें धर्मका प्रसार कर सकते हैं॥

संसारी जीवोंकी समझ।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयंत्यभूतार्थं।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगतमें (निश्चयं) निश्चयको (भूतार्थं) सत्यार्थ (व्यवहारं) व्यवहारको (अभूतार्थं) असत्यार्थ (वर्णयंति) कहते हैं, (सर्वः अपि) समस्त ही (संसारः) संसार (प्रायः) बहुधा (भूतार्थबोधविमुखः) यथार्थ ज्ञानसे विमुख है।

---

(१) इस प्रकरणके पूर्वापर श्लोकोंका देखनेसे विदित होता है कि ग्रन्थकार श्रीअमृतचन्द्रसूरिने निश्चयनयके समान व्यवहारनयको भी उपादेय बतलाया है, तथा व्यवहारनयको निश्चयका साधक बतला कर उसका परिज्ञान आवश्यक बतलाया है। दूसरे, उक्त आचार्यकी अन्यान्य कृतियोंमें भी व्यवहारको उपादेय कहा गया है। जो एकान्तरूपसे व्यवहारनयको मिथ्या समझते हैं, उन्हें इन्होंने तत्त्वबोधसे रहित बतलाया है। इसलिये उक्त आचार्यके अभिप्रायको जो कुछ हमने समझा है, तदनुसार इस श्लोकका उपर्युक्त अर्थ किया है।

विशेषार्थ—इस जगत्में लोग निश्चयनयको ठीक बतलाते हैं और व्यवहारनयको मिथ्या बतलाते हैं, परंतु वास्तवमें यथार्थज्ञानसे प्रायः सभी संसारी अजानकार हो रहे हैं। बहुतसे पुरुषोंकी ऐसी धारणा है कि निश्चयनय ही ठीक है, क्योंकि उसीका विषयभूत पदार्थ ठीक है। आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है, यह जो-कुछ कर्मोंका विकार प्रतीत होता है, उससे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं है, आत्मा न अल्पज्ञानी है, न वेदनासहित है, न नारकी है, न और कोई है, न वह रोगी है, न प्रमादी है, ये सब पुद्गलका भाव है, आत्मामें उसका कुछ भी भाव समझना भ्रम है, आत्मा सदा टंकोत्कीर्णवत् शुद्ध बुद्ध है; ऐसी कल्पना उन लोगोंकी है जो केवल निश्चयको ही सत्यभूत समझे बैठे हैं, और व्यवहारको केवल भ्रम समझते हैं। ऐसे ही लोग अपनी समझके आधार पर बाह्यचारित्रको कुछ नहीं समझ कर देवपूजन, संस्कारविधान, जातीय व्यवस्था, वर्णभेद, बाह्यशुद्धि आदि समस्त विषयोंको छोड कर स्वयं तथा दूसरे पुरुषोंको भी धर्मकर्महीन बना कर अकल्याण-भाजन बना डालते हैं। ऐसी समझ रखनेवाले आर्ष-मर्यादाके लोपक हैं, आर्ष-वचनोंके अश्रद्धानी एवं अवहेलक (तिरस्कार करनेवाले) हैं। ऐसी एकांतबुद्धिवालों पर विवेकियों-को खेद होता है। यदि व्यवहार सभी मिथ्या है—श्रावकाचार, यत्याचार, तपोविधान, हिंसा-अहिंसामय प्रवृत्ति आदि समस्त बातें व्यर्थ एवं भ्रमात्मक हैं, तो पुण्यपापका फलस्वरूप नरक-स्वर्गादि व्यवस्था, पापभीति, संसारसे उद्वेग, मोक्षप्रयत्न आदि सब बातें भी कुछ नहीं ठहरेंगी। वैसी अवस्थामें श्रावकाचार,

---

बंबईकी छपी हुई मूलसहित हिन्दीटीकामें लिखा है कि— "अन्वयार्थौ – आचार्य इन दोनों नयोंमिसे, [इह] इस ग्रन्थमें [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं. [प्रायः] बहुत करके [भूतार्थबोधविमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसारस्वरूप हैं."

उक्त आचार्यके अभिप्रायके समझनेवाले इस पर और भी विचार करें। —टीकाकार.

और यत्याचारका सर्वज्ञ-प्रतिपादित विधान भी झूंठा एवं भ्रमात्मक ही मानना पडेगा। उसे मान कर फिर निश्चयनयावलम्बी किस सिद्धांत पर आरूढ हो सकते हैं, सो वे ही जानें। जब कि संसारपूर्वक ही मोक्ष है और 'संसार' जीवकी कर्मजनित अवस्थाका नाम है, इसलिए कर्मजनित अवस्थाको भ्रम कहना भूल है। यदि कर्मजनित जीवकी अवस्था भ्रम है तो फिर वेदांतवाद भी ठीक मानना चाहिये, जो कि समस्त पदार्थोंको भ्रम समझता है। अतः जीवकी संसार-पर्यायें वास्तविक हैं, उनको विषय करनेवाला अर्थात् जीवकी अशुद्ध अवस्थाको विषय करनेवाला व्यवहारनय भी वास्तविक है। इसीप्रकार शुद्ध पदार्थके गुण-पर्यायरूप भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनय भी यथार्थ है; इतना विशेष है कि वही विषय निश्चय-दृष्टिसे मिथ्या है, व्यवहारदृष्टिसे ठीक है। अतः जो पदार्थ जिस विवक्षासे विवक्षित किया जाय, उसी विवक्षासे उसे घटित करना चाहिये। व्यवहारको छोड कर कोई कभी निश्चय तक नहीं जा सकता, व्यवहारके अवलम्बनसे ही जीव मुक्तावस्था तक पहुंचता है। इसलिये व्यवहार भी उपादेय एवं श्रेयस्कर नय है। जिसप्रकार निश्चयको सिद्ध करनेवाला व्यवहारका अवलम्बन करता है, उसीप्रकार व्यवहार पर चलनेवालेको निश्चयका लक्ष्य रखना भी नितांत आवश्यक है। उसको भूल जानेपर व्यवहारसे किसकी सिद्धि की जाय, यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सर्वथा एकांतपक्ष जैनधर्मके प्रतिकूल है। न केवल व्यवहारसे जीवकी सिद्धि है और न केवल निश्चयसे ही सिद्धि है। परंतु जगतमें कोई तो निश्चय पर सर्वथा आरूढ हैं—धर्मकर्मको कुछ समझते ही नहीं, कोई व्यवहार पर ही डटे हुए हैं—असली तत्त्वके स्वरूप तक वे पहुंच ही नहीं पाते हैं; इसी एकांतपक्षको देखते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जगत् प्रायः सत्यबोधसे शून्य हो रहा है।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयंत्यभूतार्थं ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश्वराः) आचार्य महाराज (अबुधस्य) अज्ञानी पुरुषोंको (बोधनार्थं) ज्ञान करानेके लिये (अभूतार्थं) व्यवहारनयका (देशयंति) उपदेश देते हैं, (यः) जो (केवलं) केवल (व्यवहार एव) व्यवहारनयको ही (अवैति) जानता है (तस्य) उसके लिये (देशना) उपदेश (नास्ति) नहीं है।

विशेषार्थ—यह बात पहले कही जा चुकी है कि पदार्थ अभिन्न अखंडपिंडरूप है, अतएव वह शब्दसे अवाच्य है, ऐसी दशामें जड चेतन अथवा धर्म अधर्म आकाश आदि भिन्न भिन्न वस्तुओंका बोध करनेके लिये उनके गुणोंका लक्षण बनाकर उनमें भेद सिद्ध किया जाता है। एक एक गुणके निरूपणसे पूर्ण वस्तुस्वरूप नहीं होता, फिर भी उसी एक एक गुणनिरूपणसे भेदबुद्धिपूर्वक अनंतगुणात्मक द्रव्यका बोध कर लिया जाता है। इसी भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनय है। जीवका ज्ञान कहना यह अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय है। जीवका ज्ञानगुण वास्तविक है, इसलिये वह सद्भूत है। परंतु जीव और ज्ञान दो नहीं होते, फिर भी जो गुण गुणीका भेद किया गया है, यही व्यवहारनयका विषय है। इसलिये 'जीवका ज्ञान' यह सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। 'जीवका क्रोध' यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय है; कारण क्रोध वास्तवमें जीवका गुण नहीं है, किंतु पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जीवमें होनेवाली वैभाविक पर्याय है। इसीलिये इसे उपचरित कहते हैं, परंतु पुद्गलके निमित्तसे जीवहीमें तो क्रोधपर्याय होती है, अर्थात् जीवके ही गुणका विकार है इसलिये वह सद्भूत है, जीवमें उसके चारित्र-

गुणका भेद किया गया, जिसका कि क्रोध विकार है, यही व्यवहार है। इसलिये जीवको क्रोधी कहना यह उपचरित-सद्भूत-व्यवहारनयका विषय है। असद्भूतव्यवहारनय तीन प्रकार है–

(१) स्वजाति-असद्भूतव्यवहारनय–जैसे परमाणुको बहुप्रदेशी कहना। परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है फिर भी उसे बहुप्रदेशी कहना यह असद्भूत कथन है, परंतु स्वजातिसंबंधी है।

(२) विजाति-असद्भूतव्यवहारनय–जैसे मतिज्ञानको मूर्त कहना। यहां पर आत्मासे ज्ञानका भेद करना व्यवहार है, मतिज्ञान कोई शुद्धपर्याय नहीं है इसलिये असद्भूत है, और उसे मूर्त कहना विजाति है।

(३) स्वजातिविजाति-असद्भूतव्यवहारनय–जीव-अजीव-ज्ञेयमें ज्ञान, जीवमें ज्ञान, यह स्वजातिका विषय है और अजीवमें ज्ञान यह विजातिका विषय है, और अजीव ज्ञेयमें ज्ञानकी कल्पना करना असद्भूतव्यवहार है।

इसीप्रकार उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय भी तीन प्रकार है–स्वजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहार, जैसे 'मेरे पुत्रादिक'। यहांपर चेतनमें विवक्षा होनेसे स्वजातिसंबंधी है, परंतु पुत्रादिक जीवके नहीं हैं इसलिये उपचरित हैं और पुत्रादिक स्वयं जीवस्वरूप नहीं है इसलिये वह असद्भूतव्यवहारनयका विषय है। इसीतरह विजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयका विषय–'वस्त्रादि मेरे हैं' है। यहांपर वस्त्रादि अचेतन हैं इसलिये विजातिमें उपचार है। और स्वजातिविजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयका विषय, जैसे–'देश राज्यादिक मेरे हैं'–यहांपर स्वजाति विजाति दोनों हैं; बाकी उपचरितादि कल्पना पहलेके समान घटित कर लेना चाहिये।

इत्यादि समस्त कथन व्यवहारनयका विषय है। बिना व्यवहारका आश्रयण किये निश्चयका

अथवा वस्तुस्वरूपका कभी बोध नहीं हो सकता; अतएव जो वस्तुस्वरूपको नहीं जानते हैं, उनको बोध करानेके लिये आचार्योंने व्यवहारनयका उपदेश दिया है। अर्थात् साध्यका परिज्ञान करानेके लिये उसे उपयोगी एवं उपादेय बतलाया है। व्यवहारनय साधक है, निश्चयनय साध्य है। जिन पुरुषोंने व्यवहार-नयको ही साध्य समझ कर उसीके विषयको वस्तुस्वरूप समझ लिया है, निश्चयनयका लक्ष्य सर्वथा छोड दिया है, वे पुरुष इतने अज्ञानी हैं कि उपदेश देनेके पात्र भी नहीं हैं। अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व-परिणामोंके कारण उन पर उपदेशका असर नहीं होता। वास्तवमें जीवका बोध करानेके लिये उसके ज्ञानादिक गुणोंका उल्लेख किया जाता है, परन्तु जो गुण गुणीको भेदरूप ही समझ बैठे, वह नितान्त अज्ञानी है। इसीप्रकार देवपूजन आदि षट्कर्मोंका उपदेश उसे शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये है; परंतु जो पुरुष शुद्धात्माके लक्ष्यको सर्वथा भूलकर पूजादिक क्रियाओंमें केवल पूज्य-पूजकभाव तक ही वस्तु-स्वरूप समझे, तो वह अज्ञानी है। अर्थात् पूजक उसी शुद्धात्माकी अशुद्ध अवस्था है, यदि 'कर्मपटल हटने पर पूजक स्वयं शुद्ध एवं पूज्य हो जाता है' यह वास्तविक दृष्टि न रक्खी जाय, केवल पूजकदशाको ही निजरूप मान लिया जाय, तो वैसा मानना मिथ्यात्व है। इसप्रकारकी बुद्धि रखनेवाला—एकांती उपदेशका पात्र नहीं है।

उदाहरण—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिसप्रकार (अनवगीतसिंहस्य) सिंहको नहीं जाननेवाले पुरुषको (माणवकः)

बिल्ली—मार्जार (एव) ही (सिंहः) सिंहस्वरूप (भवति) भासती है, (तथा) उसीप्रकार (अनिश्चयज्ञस्य) निश्चयनयके स्वरूपको नहीं जाननेवाले पुरुषको (व्यवहारः) व्यवहारनय (एव) ही (हि) अवश्य (निश्चयतां) निश्चयनयपनेको (याति) प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ—यदि किसी विवक्षामें बिल्लीको सिंह कहा जाय तो अपेक्षादृष्टिसे वह कथन ठीक है, जैसे सिंहकी आकृति, नेत्र, पूंछ आदि अवयवोंकी समानता—उसीप्रकार क्रूरताके साथ झपटना आदि बातोंकी समानता देख कर कोई पुरुष, जिसे सिंहका भी परिज्ञान है, यदि बिल्लीको भी सिंह कह दे, तो उसका वह कहना समानाकारताकी दृष्टिसे ठीक है। परन्तु जो पुरुष सिंहको तो जानता नहीं, केवल सिंहका नाम सुनकर—'वह क्रूर नेत्रवाला होता है, ऊंची पूंछवाला होता है, पंजासे काम लेता है' इत्यादि बातोंको सुनकर बिल्लीको ही वास्तविक सिंह मान बैठे, तो उसका वह मानना सर्वथा मिथ्या है। उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपसे बाहर है । इसीप्रकार जो पुरुष वस्तुके निश्चय-स्वरूप तक तो पहुंचे नहीं, केवल निश्चयका नाम सुनकर व्यवहार-चारित्रको ही निश्चय-चारित्र, व्यवहारसम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व, व्यवहार आत्मस्वरूपको निश्चय-आत्मस्वरूप समझ कर उसी एकांत पर आरूढ हो जाय, तो वह पुरुष अज्ञानी है, ऐसी अज्ञानदशामें आचार्योंके उपदेशका भी प्रभाव नहीं पडता; इसीलिये वह आत्मा उपदेशका अपात्र कहा गया है।

(१) अज्ञानी उपदेशका पात्र नहीं है, इस कथनसे कोई यह दुरभिप्राय नहीं निकाल बैठें कि 'क्या आचार्य भी इतने अनुदार एवं संकीर्ण बुद्धिवाले होते हैं, जो कि अज्ञानियोंको उपदेश भी नहीं देना चाहते ?' आचार्यका अभिप्राय इतना ही है, कि तीव्र मिथ्यात्ववालेको दिया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है, गाढ़ मिथ्यात्वी उस अनेकांत कथनसे लाभ नहीं ले सकता, इसीलिये उसे अपात्र कहा गया है। उपदेश देनेका निषेध

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (तत्त्वेन) वास्तविकरूपसे (व्यवहारनिश्चयौ) व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों नयोंको (प्रबुध्य) जानकर (मध्यस्थः भवति) मध्यस्थ हो जाता है अर्थात् किसी एक नयका सर्वथा एकांती न बनकर अपेक्षादृष्टिसे दोनोंको स्वीकार करता है, (स एव) वह ही (शिष्यः) उपदेश सुननेवाला (देशनायाः) उपदेशके (अविकलं) सम्पूर्ण (फलं) फलको (प्राप्नोति) प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ—व्यवहारका उपयोग कहांतक किया जाता है एवं वह किस दृष्टिसे प्रयोगमें लाया जाता है, उसके उपयोगसे किस साध्यकी सिद्धि होती है, इन बातोंके परिज्ञानसे जो व्यवहारनयके रहस्यको जान चुका है,—इसीप्रकार वस्तुके शुद्धरूपके परिज्ञानसे निश्चयनयके स्वरूपको भलीभांति जान चुका है, वह पुरुष वस्तुस्वरूपका यथार्थ पर्यालोचक है । वह किसी एक नय पर एकांतरूपसे कभी आरूढ नहीं हो सकता, अपेक्षादृष्टिसे दोनोंहीसे वस्तुके रहस्यका सहज बोध कर लेता है । ऐसा पुरुष ही आचार्योंके

नहीं किया गया है, उपदेश तो अज्ञानियोंको ही दिया जाता है, तिर्यञ्चों तकको दिया गया है; परंतु भद्र अज्ञानी उससे लाभ उठाते हैं, अभद्र तीव्र मिथ्यादृष्टियोंको वह उपदेश ऊषर-वृष्टिकी तरह व्यर्थ चला जाता है । आचार्योंकी उदारताका तो हम उल्लेख ही क्या कर सकते हैं, वे यहां तक उदारभावना रखते हैं कि सब जीव क्रूरादि परभावोंसे हटकर स्व-स्वभावमें आ जांय । उनकी उस पवित्र भावनाका यहां तक प्रभाव पड़ता है कि उनके समीपमें आकर सिंहादि क्रूर जीव अपनी क्रूरता छोड़कर मैत्रीभावसे बैठते हैं । ऐसी भावना एवं ऐसा प्रभाव रखनेवालोंका उपदेश कितना उदार और अज्ञानको नष्ट करनेवाला हो सकता है, यह बतलानेकी आवश्यकता शेष नहीं रह जाती । —टीकाकार.

जैनसिद्धांतरूप उपदेश ग्रहण करनेका पात्र है, सच्चा शिष्य है, और वही शिष्य उपदेशके अनेकांत वा स्याद्वादरूप अविकल (पूर्ण) फलको पा लेता है।⊛

पुरुषका स्वरूप।

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(स्पर्शगंधरसवर्णैः) स्पर्श-रस-गंध-वर्णसे (विवर्जितः) रहित—वियुक्त (गुणपर्ययसमवेतः) गुणपर्यायोंसे विशिष्ट (समुदयव्ययध्रौव्यैः) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे (समाहितः) सहित—संयुक्त (चिदात्मा) चैतन्यमय आत्मा (पुरुषः) पुरुष (अस्ति) है।

विशेषार्थ—इस ग्रंथका नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है। यह नाम चार पदोंका समुदायरूप है—पुरुष, अर्थ, सिद्धि, और उपाय। अर्थ नाम प्रयोजनका है, पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धि (प्राप्ति)-के उपायको बतलानेवाला यह ग्रंथ है। पुरुषका प्रयोजन क्या है? उसकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है? तथा पुरुष किसे कहते हैं? इन बातोंका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। सबसे पहले इस श्लोकमें पुरुषका

⊛ "जइ जिणमयं पविज्जह तो मा ववहार णिच्छयं मुंच। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण तच्चं च ॥"

इस गाथाका यह अर्थ है कि—यदि तू जिनमतमें प्रवृत्ति करता है, तो व्यवहारनय और निश्चयनयको मत छोड़। यदि व्यवहारनयको छोड़ देगा, तो उसके बिना व्रत, संयम, दान, पूजा, तप, आराधना, क्षमादिक धर्म, सामायिक आदि समस्त उत्तम एवं मोक्षसाधक धर्म नष्ट हो जायगा, तथा निश्चयनयको छोड़ देनेसे शुद्ध तत्वस्वरूपका कभी बोध नहीं हो सकेगा। इसलिये साध्य-साधकदृष्टिसे दोनों नयोंका अवलम्बन वस्तुस्वरूपका परिचायक है। विवक्षावश दोनोंमें मुख्य-गौण विवेचना की जाती है।

स्वरूप कहा गया है । तीन विशेषणोंसे पुरुषका 'स्वरूप' कहा गया है और चिदात्मा इस एक विशेषणसे उसका 'लक्षण' किया गया है । लक्षण और स्वरूपमें इतना अंतर है कि 'लक्षण' तो उस वस्तुको अन्य समस्त वस्तुओंसे भिन्न सिद्ध कर देता है और 'स्वरूप' वस्तुका भेदज्ञान नहीं कराता किंतु वस्तुका परिचय करा देता है । अर्थात्–मिली हुई अनेक वस्तुओंमेंसे लक्षित वस्तुको जो जुदा कर दे, उसे 'लक्षण' कहते हैं; जैसे अनेक पुरुषोंके इकट्ठे रहने पर राजाकी पहचान छत्रसे की जाती है, इसलिये बहुतसी भीडमें छत्र राजाका बाह्य-लक्षण होता है । बाह्य-लक्षण और अंतरंग-लक्षण, ऐसे लक्षणके दो भेद हैं । बाह्यलक्षण उसे कहते हैं, जो वस्तुसे भिन्न होकर वस्तुका भेद करानेवाला हो। इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है । छत्र राजाका लक्षण तो है, परंतु वह राजासे भिन्न पदार्थ है । अंतरंगलक्षण उसे कहते हैं, जो वस्तुसे कभी भिन्न न हो सके; जैसे अग्निका लक्षण तेज (उष्णता), तेज वा उष्णता अग्निको छोड कर कभी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं जा सकती, तथा अन्य समस्त पदार्थोंसे अग्निका भेद कराती है । पुरुषका लक्षण चैतन्य (चेतना) किया गया है । यह पुरुषका अंतरंग लक्षण है, पुरुषको छोडकर चेतना कभी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं पायी जाती, तथा जगतके अन्य समस्त पदार्थोंसे पुरुषमें भेद कराती है । परंतु 'स्वरूप' वस्तुका भेदज्ञान नहीं कराता किंतु वस्तुका परिचय करा देता है । यदि गौका स्वरूप कहा जाय तो कहना होगा कि 'गौ चार पैर, दो सींग, दो आंखें, चार थन, पीठ-पेट-पूंछवाली होती है'–ऐसा कहनेसे सुननेवालेको गौका परिज्ञान हो जाता है । परन्तु चार पैर, दो सींग, दो आखें आदि पदार्थ गौके लक्षण नहीं हो सकते, कारण लक्षण भेद करानेवाला होता है । चार पैर, दो सींग आदि अन्य पशुओंसे गौको जुदा नहीं कर सकते; वे भैंस बकरी आदि पशुओंमें

भी पाये जाते हैं, इसलिए वे गौके लक्षण नहीं किंतु स्वरूप है। यहांपर पुरुषका लक्षण चैतन्य किया गया है। चेतना या चैतन्य पुरुष—आत्माको छोडकर अन्य किसी अजीव पदार्थमें नहीं पाया जा सकता और न कभी जीवको छोड ही सकता है, इसलिए जीवका चेतनालक्षण ऐसा है कि जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, इन तीनों दोषोंसे रहित है। जिसमें ये तीन दोष नहीं आते हों, वही लक्षण समीचीन निर्दोष कहा जाता है। जो लक्षण अपने समस्त लक्ष्यमें न रह कर उसके एकदेशमें रहे, उसे अव्याप्त-लक्षण कहते हैं। जो लक्षण अपने लक्ष्यमें भी रहे और अलक्ष्यमें भी चला जाय, उसे अतिव्याप्त-लक्षण कहते हैं; तथा जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वथा न रहे, उसे असंभवि-लक्षण कहते हैं। दृष्टांतके लिए गौको ले लीजिये, यदि गौका लक्षण लालरंग कहा जाय तो वह अव्याप्त तथा अतिव्याप्त है। क्योंकि लालरंग किसी किसी गौमें पाया जाता है—सब गौओंमें नहीं पाया जाता, इसलिए तो अव्याप्त है और लालरंग गौको छोडकर घोडा आदि पशुओंमें भी पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्त है। यदि गौका लक्षण 'सूंढ जिसके हो वह गौ होती है' किया जाय, तो वह असम्भविलक्षण है, गौमें सर्वथा नहीं रहता। यहांपर पुरुषका जो चेतनालक्षण है, वह तीनों दोषोंसे रहित निर्दोष लक्षण है। चेतना नाम ज्ञानदर्शनका है, अर्थात् जीवके चेतनागुणकी ज्ञानदर्शनरूप दो पर्यायें हैं। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'चेतना जीवका अव्याप्तलक्षण है; मरे हुए मनुष्यमें चेतनालक्षण नहीं पाया जाता, जीते हुए मनुष्य-

---

(१) जिसका लक्षण किया जाय, उसे लक्ष्य कहते हैं; जैसे गौका लक्षण किया जाय तो 'गौ' लक्ष्य कही जायगी।

(२) जिस लक्षणमें अव्याप्तिदोष पाया जाय, उस लक्षणको अव्याप्तलक्षण कहते हैं। इसीप्रकार जिस लक्षणमें अतिव्याप्तिदोष पाया जाय, उस लक्षणको अतिव्याप्तलक्षण कहते हैं; तथा जिस लक्षणमें असंभवदोष पाया जाय, उस लक्षणको असंभविलक्षण कहते हैं।

में पाया जाता है।' ऐसा कहनेवाले वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ हैं, वे मनुष्य-शरीरको ही जीव समझ कर उसमें ज्ञानदर्शन मानते हैं, उन्हें यह नहीं मालूम है कि शरीर तो पुद्गल—जडकी पर्याय है, वह जीव नहीं है; जबतक उसमें जीव रहता है तबतक इस शरीरको जीता हुआ कहते हैं, जीवके निकल जाने पर उसे मृत-शरीर कहते हैं। चेतना जीवका लक्षण कहा गया है, न कि शरीरका; इसलिए वह सदा जीवके साथ ही रहता है। जब शरीरसे जीव चला जाता है तो उसके साथ उसका चेतनागुण भी चला जाता है। चेतनागुण जीवको कभी नहीं छोड सकता, और जीव चेतनागुणको कभी नहीं छोड सकता। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि जीव और चेतना दोनों ही एक वस्तु हैं, जो जीव है सो ही चेतना है, जो चेतना है सो ही जीव है। केवल गुणगुणीका भेदरूप कथन किया जाता है, जिससे कि जीवकी पहचान हो जाय। इसलिए जो शरीरको ही जीव मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'चेतना जीवका कोई गुणविशेष नहीं है किंतु पुद्गलसे ही ज्ञानतन्तुओंका विकाश होता है, और अंतमें वह विकाश उसी पुद्गलमें समाविष्ट हो जाता है।' जो ज्ञानतन्तुओंका विकाश है, उसे ही वे लोग जीव बतलाते हैं। जीव एक स्वतन्त्रपदार्थ है, ऐसा वैज्ञानिक (साइन्टिफिक) नहीं मानते हैं। इस विषयमें विचार करनेकी बात है कि यदि जीव कोई स्वतन्त्रपदार्थ न हो एवं पुद्गलका ही विकाश हो, तो जैसे जीवित शरीरमें ज्ञान पाया जाता है वैसे किसी पुद्गलमें क्यों नहीं देखनेमें आता? पुद्गलके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, ये चारों ही प्रत्येक पुद्गलमें नियमसे पाये जाते हैं, कोई ऐसा पुद्गल नहीं

(१) जिसे अंग्रेजीमें "मैटर" कहते हैं। (२) आजकल कुछ वैज्ञानिक (साइन्टीफिक) आत्माको पुद्गलसे भिन्न, एक स्वतन्त्रपदार्थ, मानने भी लगे हैं।

है जिसमें उक्त चारों ही गुण न हों। यदि ज्ञान भी पुद्गलका ही गुण होता, तो किसी-न-किसी पुद्गलमें उसकी व्यक्ति अवश्य ही दीखती, परन्तु किसी भी पुद्गलमें रूपरसादिकी तरह ज्ञानगुण नहीं दीखता; इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान पुद्गलका गुण नहीं है।

जो लोग यह मानते हैं कि 'जीव योंही योग्यता पाकर पुद्गलमें पैदा हो जाते हैं, जैसे—कीचड पानी आदिमें झट बहुतसे जीव देखनेमें आते हैं।' इसप्रकार जो जीवको पुद्गलमें उत्पन्न होता हुआ मानते हैं, वे वास्तविक तत्त्वकी तह तक नहीं जा सके हैं। यथार्थ बात यह है कि जीव तो अजर अमर है, उसका न तो कभी विनाश होता और न उत्पत्ति होती। जगतमें जितने भी द्रव्य हैं, वे सब सदा रहनेवाले हैं, किसीका कभी नाश नहीं होता। यदि वस्तुओंकी नवीन उत्पत्ति होने लगे तो द्रव्योंकी नियति तथा उनकी कार्यकारणरूप नियमित शृंखला नहीं रह सकती, वैसी अवस्थामें सभी पदार्थ संकर एवं लुप्त हो जांयगे। इसलिये 'सत्से कभी असत् नहीं होता और असत्से (अभावसे) कभी सत् (भाव) नहीं होता' इस सिद्धांतको साइन्स (भौतिक-मतवाद) भी स्वीकार करता है। जीव भी एक सद्भावरूप वस्तु है, इसलिये वह तो सदा रहता ही है, परंतु प्रत्येक वस्तुके समान वह भी एक अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्थामें आया करता है। कर्म यद्यपि पुद्गलकी पर्याय है, फिर भी उसका अनादिकालसे जीवका सम्बन्ध होनेसे जीवके शुभ अशुभ परिणामोंके अनुसार वह कर्म जीवको चारों गतियोंमें घुमाता फिरता है। पूर्व कर्मोदयसे जैसे जैसे जीवके विभाव-भाव होते हैं, वैसे वैसे ही जीव शरीर धारण करता है एवं नवीन कर्मोंका सम्बन्ध करता है। यही अवस्था जीवकी बराबर तबतक रहती है जबतक कि वह कर्मोंका भार कुछ हलका होने पर अपने स्वाभाविक परिणामोंसे समस्त सरागभावोंको दूर नहीं

कर देता। जिस गतिका, जिस शरीरनामकर्मका, और भी—जिन अविनाभावी कर्मोंका, जिस जातिका उदय होता है, जीवको उस गतिमें, उस शरीरमें एवं वैसी अवस्थामें जाना पडता है। इसलिये जो जीव कीचड पानी वनस्पति आदिमें उत्पन्न होते दीखते हैं, वे जीव उत्पन्न नहीं होते किंतु उन उन स्थानोंमें वहांके पुद्गल-परमाणुओंको कर्मोदय-वश शरीर बनाकर उनमें दूसरी गतियोंसे जीव आकर वास करते हैं। जीव पैदा नहीं होते, किंतु शरीर पैदा होते हैं अर्थात् उन क्षेत्रोंके परमाणु ही शरीररूप पर्याय धारण कर लेते हैं और उन्हींमें जीव आ जाते हैं। जीव भी स्वेच्छासे नहीं आते, मरणकालमें इच्छाकी व्यक्ति नहीं रहती, जीवकी मूर्छित अवस्था रहती है, वह तो कर्मोंकी प्रेरणासे जहां तहां घूमता फिरता है। कर्मोंकी तीव्रता और मंदतासे जीवोंको बाह्य-योग्यताएँ यथानुकूल मिलती हैं। जैसी जैसी बाह्य सामग्रियें मिलती हैं, उसी उसी प्रकारसे जीवोंके गुणोंका विकाश होता है। कोई जीव कर्मोंसे यहांतक सताये हुए हैं कि उन्हें ऐसा शरीर मिला है, जिसमें केवल स्पर्शनइन्द्रिय ही है, उसमें मुंह, नाक, आखें आदि कुछ भी नहीं हैं। ऐसे शरीरमें रहनेवाले जीवोंके गुणोंका विकाश अत्यन्त मंद रहता है। वे केवल स्पर्शरूप ज्ञान करते हैं; स्पर्शरूप ज्ञान भी उनका अतीव मंद होता है। पानीको पा कर वनस्पति हरी हो जाती है, विना पानीके वह सूख जाती है, पानी देते हुए रक्षा करनेसे वह बढती है; यह वनस्पतिका बढना हरा होना, विना पानीके मुरझाना आदि कार्य देखनेसे सिद्ध होता है कि उसमें जीव है। यदि वनस्पतिमें जीव नहीं होते तो वह चौकी, किवाड, खम्भा, दीवार, सोना, चांदी, थाली, मकान पुस्तक, कपडा आदि पदार्थोंके समान पानी देने पर एक-सी रहती; न तो घटती, न बढती। जैसे चौकी आदि पदार्थ पानी देने पर भी ज्योंके त्यों रहते हैं, तैसे वह भी रहती। परन्तु चौकी किवाड खम्भा आदि

में जीव नहीं है, वनस्पतिमें जीव है; इसीलिये उसमें पशु तथा मनुष्योंके समान बढ़ना और मुरझाना आदि होता है। इतना विशेष है कि उन जीवों पर कर्मोंका यहांतक प्रभाव पडा हुआ है कि वे केवल शरीर और एक स्पर्शनइन्द्रिय पा सके हैं, इसीलिये इतने मंदज्ञानी हैं कि उन्हें 'अपने' तकका बोध नहीं है। उन्हीं वनस्पतिमें रहनेवाले जीवोंके समान पहाडोंमें, अग्निमें, हवामें जीव पाये जाते हैं। पहाडोंमें रहनेवाले जीव पृथ्वीकायके कहलाते हैं, कारण पृथ्वी ही उनका शरीर है। जिन पहाड मिट्टी आदिमें जीव रहते हैं, वे पहाड मिट्टी आदि पदार्थ बढते हैं। पहाडोंका बढना वहां रहनेवालोंको मालूम होता है—जो पहाडके स्कंध वा टेकरियां कुछ वर्ष पहले छोटी छोटी रहती हैं, वे ही कुछ वर्ष पीछे बढ कर बहुत विशाल बन जाती हैं। जिस पाषाणमें जीव नहीं होता, वह कभी बढ नहीं सकता; जैसे घरोंमें रहनेवाले पत्थरके खम्भे, सिललोढा, चाकी, पत्थरके बांट, पत्थरकी मूर्ति आदि वस्तुएँ नहीं बढ सकतीं; कारण उनमें जीव नहीं है।

मिट्टी पाषाण आदिमें जो जीव रहते हैं, वे भी वनस्पतिके समान केवल एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले हैं। इसीप्रकार जल अग्नि वायुमें भी जीव रहते हैं, वे भी ऊपर कहे हुए जीवोंके समान एकेन्द्रिय हैं। जलमें जो जीव आखोंसे प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं, वे तो दो-इन्द्रिय भी हैं; तीन-चार-पांच-इन्द्रियवाले भी हैं, उनकी चर्चा नहीं है। जिन जीवोंका जल ही शरीर है, उन्हींका यहां वर्णन है। जो जलसे अतिरिक्त दीखते हैं उनका जल शरीर नहीं है. शरीर उनका दूसरा ही है, जल तो केवल आधार है। जैसे मनुष्यका शरीर दूसरा है, पृथ्वी उसका आधार है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पांचों ही प्रकारके जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले हैं। जिन जीवोंका कर्मभार कुछ हलका

होता है, उनके एक रसनाइन्द्रिय भी प्रगट होती है। जब उन जीवोंको रसनाइन्द्रिय-रूप बाह्ययोग्यता मिलती है, तो उनका गुणविकाश भी पहले जीवोंमे (एकेंद्रिय जीवोंसे) बढता है; वे केवल स्पर्शका ही बोध नहीं करते किंतु पदार्थको चख कर उनका स्वाद भी लेते हैं। परंतु स्वाद लेनेके सिवा वे उनकी गन्धका ज्ञान नहीं कर सकते, उन्हें देख नहीं सकते: कारण कर्मोदयवश उन्हें बाह्ययोग्यता उतनी ही मिली है। ऐसी योग्यतावाले जीवोंमें लट शंख आदि जीवोंकी गणना है। उनकी अपेक्षा और भी जो कर्मभारसे हलके हैं, उन्हें नासिकारूप भी बाह्ययोग्यता मिली है, वे वस्तुओंकी गन्धका भी ज्ञान कर लेते हैं। चींटी मकोडा आदि जीव तीन-इंद्रियवाले हैं। उनमे भी जो कर्मभारसे हलके हैं उनके आंखें भी हैं, जैसे भ्रमर वर्रें आदि। उनसे बढकर योग्यता उन्हें प्राप्त है जिनके कान भी हैं। उनमे भी बढकर योग्यता उन्हें प्राप्त है जिनके मन भी है। जिन जीवोंके मन है, वे ही पांचों इंद्रियोंसे जो ज्ञान करते हैं उनके परिणाम तक मन-द्वारा पहुंचते हैं। देव, नारकी और मनुष्य, इन तीन गतियोंवाले जीव तो सभी मनवाले होते हैं। तिर्यंचोंमें पशुपक्षी आदिके मन है, बाकी चार-इंद्रियवालों तक तो नियमसे मन नहीं है। पंचेंद्रिय भी कोई कोई ऐसे हैं जिनके मन नहीं है। सब जीवोंके समान होनेपर भी कर्मोंकी तीव्रता मंदतासे उनकी अनेक अवस्थाएँ देखनेमें आती हैं। जबतक शरीरमें जीव रहता है तबतक शरीर और इंद्रियां सभी काम करती हैं, जीवके निकल जाने पर शरीर जडका जड रह जाता है। 'जीव कोई वस्तु नहीं है किंतु पुद्गल (मेटर)-का विकाश है' इस भ्रममें पडकर आजतक अनेक वैज्ञानिकवाद-वाले (साइन्टिफिक) प्रयत्न कर चुके; परन्तु असम्भवको सम्भव नहीं कर सके—मरे हुए मनुष्यको आजतक कोई नहीं जिला सका।

यदि जीव पुद्गलका पर्याय होता, तो किसी-न-किसी स्कन्धमें वैसी योग्यता आजतक क्यों नहीं मिल सकी? कभी तो किसी परमाणु-स्कन्धमें वैसी योग्यता मिल कर ज्ञानोत्पत्ति मिल जाती! परन्तु अनेक प्रकारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक (पौद्गलिक) उन्नति करने पर भी पुद्गलमें ज्ञानोत्पत्ति किसीने नहीं की; इससे सिद्ध होता है कि जैसे जिसके कारण होते हैं, उनसे वैसे ही कार्य होते हैं। जडसे जितने प्रकारके भी आविष्कार होंगे, वे सब जडरूप ही होंगे; जडसे चेतनका कभी आविष्कार नहीं हो सकता। यदि जडसे चेतनका आविष्कार होने लगे तो संसारमें ज्ञानकी शृंखला कभी नहीं बन सकती, परंतु समस्त जीवोंमें ज्ञानकी एक शृंखला पायी जाती है। मनुष्यका जो बाल्यावस्थामें ज्ञान होता है, वह युवावस्थामें भी बना रहता है तथा वृद्धावस्थामें भी बना रहता है। इतना ही नहीं, किंतु जिससमय बालक उत्पन्न होता है, उससमय भी उसे पहली अवस्थाका अर्थात् इस जन्मसे पहले जन्मका ज्ञान रहता है। बहुतसे ऐसे दृष्टांत सुने तथा देखे गये हैं कि अनेक बालकोंको जातिस्मरण हुआ है, उन्होंने पहले जन्मकी सब बातें बताई हैं।* यदि ज्ञान पुद्गलसे ही उत्पन्न होता तो फिर पूर्वापर जोडरूप ज्ञान नहीं पाया जाता; नाना

---

* जिससमय हम मोरेनाके "श्रीगोपाल दि० जैन विद्यालय"में अध्यापन-कार्य करते थे, उससमय वहां एक ब्राह्मणका ४ वर्षका बालक आया था। उसके संरक्षक उसे ग्वालियर-नरेशके पास ले जा रहे थे। बालक कहता था कि अमुक सिपाहीने मुझे कुए पर पानी पीते हुए गोलीसे मारा था, मैं उससे बदला ले कर ही रहूंगा। मोरेनाके जानकार कहते थे कि वह सिपाही अभी तक मौजूद है। उसने एक प्रसिद्ध डांकूको, उसके नहीं पकड़े जाने पर, महाराजकी आज्ञानुसार मौका पाकर उसे गोलीसे मार दिया है। उसके मरणकालको ४ वर्ष ९ मास होते हैं। बालकने सिपाहीका पहचान भी लिया था। सुना जाता है कि महाराजने उस बालकको बुला कर उससे उस सिपाहीको क्षमा दिलाई थी और बालकको पारितोषिक भी दिया था। यह सच्ची घटना समाचारपत्रोंमें भी निकल चुकी है,

पुद्गल-स्कन्धोंके जुड़ने-विघटनेसे भिन्नभिन्न असंबद्ध एवं खंडशः ज्ञान होता। वैसे अशृंखल टुकडेरूप ज्ञानसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि कोई ज्ञान नहीं हो सकते। एक शरीरके नष्ट हो जानेपर तो उस पुद्गल-स्कन्धसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानतन्तु नष्ट ही मानने पड़ेंगे। नवीन पुद्गलस्कंधोंमें नवीन ही ज्ञानतंतु उत्पन्न होंगे। वैसी अवस्थामें पूर्व बातोंकी स्मृति कभी नहीं आ सकती, परंतु पूर्व बातोंकी स्मृति बालकोंमें देखी जाती है। किसी किसी बालकका ज्ञान इतना विकाशशील (विशेष क्षयोपशमरूपमें) देखा जाता है है कि वह विना शिक्षा लिए ३, ४ वर्षकी आयुमें कठिनसे-कठिन गणितके प्रश्नोंका उत्तर निकाल देता है, कोई कोई बालक बिना शिक्षा लिए बढियासे-बढिया गायन गाता है, कोई कोई बालक स्वल्प शिक्षा लेने पर झटपट एक गणनीय विद्वान् बन जाता है। ये सब बातें ऐसी हैं जो नवीन बालकके पूर्वसंस्कारोंको सिद्ध करती हैं, और बतलाती हैं कि 'जीव' एक पदार्थ है, उसीकी पूर्वापर अवस्थाओंमें क्रमसे होनेवाले ये विकाश हैं।

पुरुष शब्दका अर्थ आत्मा है। पुरुष शब्द मनुष्यगतिमें रहनेवाले पुल्लिंग-शरीरधारी जीवमें भी प्रचलित है। मनुष्योंके तीन भेद हैं—१ पुरुष, २ स्त्री और ३ नपुंसक। यहांपर पुरुष शब्दका अर्थ मनुष्यगतिवाला पुरुष नहीं है, किंतु आत्मा है। पुरुष, आत्मा, जीव, चेतन, ज्ञाता, द्रष्टा, ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं। जो उत्तम गुणोंको धारण करे, लोकमें उत्तम कार्य करे, संसारी जीवोंमें जो स्वयं

प्रायः ६-१० वर्षकी बात है। इस घटनासे भलीभांति सिद्ध होता है कि जीव एक स्वतन्त्र वस्तु है, वह अनेक पर्यायोंमें घूमता-फिरता है, इसीसे ज्ञानगुणका पूर्वापर एकरूपमें यह परिणमन दीखता है।

उत्तमता प्राप्त करे और उत्तम चारित्रवाला बनकर लोकमें अपनेको सर्वोत्तम पूज्य बनावे, उसे पुरुष कहते हैं। यह पुरुष शब्दका व्युत्पत्तिसे किया गया अर्थ मनुष्यगतिवाले पुरुषसे संबंध रखता है। प्रकृतमें शुद्ध जीवका वाचक 'पुरुष' शब्द है। जिस 'पुरुष'का अर्थ व्युत्पत्तिसे बतलाया गया है, वह इस शुद्ध जीवकी अशुद्ध एवं वैभाविक अवस्था है। वह अवस्था अनादि कालसे है। उसी वैभाविक पुरुषपर्यायमें आकर अपने पुरुषार्थसे यह आत्मा शुद्ध पुरुष वा शुद्ध चेतन बन सकता है। इसलिये स्वाभाविक पुरुष-पर्यायकी प्राप्तिके लिए वैभाविक पुरुष-पर्याय ही साधक (कारण) है; क्योंकि बिना वैभाविक पुरुषपर्यायके प्राप्त किये स्वाभाविक पुरुष-पर्याय कभी किसी जीवको नहीं प्राप्त हो सकती।

यह जीव अशुद्ध अवस्थामें शरीर तथा सूक्ष्म पुद्गल वा कार्माणवर्गणाओंके निमित्तसे कथंचित् मूर्त कहलाता है। यह मूर्तता केवल संबंधजनित है। वास्तवमें आत्मा अमूर्त है, पुद्गल ही मूर्त है। रूप-रस-गंध-वर्णको मूर्ति कहते हैं। मूर्ति जिसमें हो, वह मूर्त कहलाता है। ऐसा मूर्त सिवा पुद्गलके अन्य कोई द्रव्य नहीं है। रूप रसादिक पुद्गलके गुण हैं, वे जीवमें कभी नहीं आ सकते। जितने पदार्थ देखनेमें आते हैं, सुननेमें आते हैं, चखनेमें आते हैं, छूनेमें आते हैं तथा सूंघनेमें आते हैं, वे सब पुद्गल हैं।

---

(१) "पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं। पुरु उत्तमे य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो॥"

---(गोम्मटसार, जीवकांड)

अर्थात् पुरुष ही संसारमें सर्वोत्तम कार्य कर सकता है, वही कर्मोंको नष्ट कर सर्वोत्तम गुणोंका विकाश कर सकता है। एवं पुरुष शब्दकी सार्थकता वहीं होती है जब आत्मा पुरुषपर्यायमें रहकर स्वकीय पौरुषसे ध्येयरूप मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हो कर शुद्धवीतराग सर्वज्ञ-पुरुष-पदमें पहुँच जाता है। जो शुद्धपुरुष—शुद्ध आत्मा है, वही 'अस्तिपुरुषश्चिदात्मा' इस श्लोक-द्वारा बतलाया गया है।

जीव न सुननेमें आता, न देखा जाता, न चखा जाता, न सूंघा जाता, न छूनेमें आता; वह आकाशके समान अमूर्तिक–इंद्रियोंके अगोचर अरूपी पदार्थ है। कोई पुरुष आंखों-द्वारा जीवको देख नहीं सकता, केवल शरीरोंको देखकर उनमें बसनेवाले जीवका अनुमान कर लेता है।

जिसप्रकार फल, पत्ते, शाखा, स्कंध, गुच्छा, टहनी आदिका समूह ही वृक्ष है–इनको छोडकर वृक्ष कोई वस्तु नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व आदि विशेष गुण और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण–इनका समूह ही जीव द्रव्य है। इन गुणोंको छोडकर जीव और कोई पदार्थ नहीं है। इन गुणोंमें प्रतिक्षण अनेक पर्यायें होती रहती हैं; इसलिये पर्यायोंका पिंड भी जीव है। पर्यायोंके अनेक भेद होते हैं, इस बातका निरूपण पहिले किया जा चुका है।

बिना अस्तित्वगुणके, अर्थात् बिना सत्ताके कोई पदार्थ नहीं कहा जा सकता। पदार्थ वही हो सकता है, जो सत्स्वरूप है, भावरूप है। भाव सदा एक रूपमें कभी नहीं रहता, वह सदा परिणमन करता रहता है। कभी किसी रूपमें आता है और कभी किसी रूपमें। जीव भी एक भावात्मक-पदार्थ है। वह भी सदा परिणमन करता रहता है। कभी मनुष्य-पर्यायसे देव-पर्यायमें चला जाता है और कभी देव-पर्यायसे मनुष्य अथवा तिर्यञ्च हो जाता है, कभी मनुष्य अथवा तिर्यंचसे नारकी बन जाता है और कभी नारकीसे मनुष्य अथवा तिर्यंचपर्यायमें आ जाता है। कभी मनुष्यसे तिर्यंच अथवा तिर्यंचसे मनुष्य अथवा देव हो जाता है। इसप्रकार जीवकी एक पर्यायका नाश और एकका उत्पाद होता रहता है। ध्रौव्य उसका सदात्मक-अवस्थारूप बना रहता है। यह 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' जीवका वैभाविक

अवस्थाका है। परन्तु यह त्रितयात्मक पर्याय एक अस्तित्वगुणकी है, इसलिए शुद्ध जीवमें भी सदा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हुआ करता है। सिद्धोंमें भी एक पर्यायका नाश, एकका उत्पाद और सदवस्थारूप परिणामका ध्रौव्य सदा होता रहता है। दृष्टांतके लिए सिद्धोंके ज्ञानगुणको ले लीजिये, सिद्धोंके ज्ञानमें घट-रूप वर्तमान-पर्याय विषय पडती है तो साथ ही घटकी पूर्व मृत्तिकारूप पर्याय–भूतपर्याय और घटकी उत्तर-पर्याय कपाल या ठीकरे-रूप भी विषय पडती है, दूसरे क्षणमें घट फूट जाता है तो वर्तमान-पर्याय ठीकरा या कपाल हो जाती है। भूतपर्याय घटरूप हो जाती है, उत्तर-पर्याय छोटे छोटे कण-रूप हो जाती है। सिद्धोंके ज्ञानमें भी उसीप्रकार परिणमन हो जाता है। इसीप्रकार जगत्के सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और वे प्रतिक्षण सिद्धोंके ज्ञानमें प्रतिभासित होते रहते हैं; इसलिये सिद्धोंमें भी एक पर्यायका उत्पाद, एकका व्यय तथा सदवस्थाका ध्रौव्य होता ही रहता है। कदाचित् कहा जाय कि 'ऊपर जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटाया गया है, वह परापेक्षी है, स्वयं पदार्थमें कैसे होता है ?' तो इसका उत्तर यह है कि–पहले तो ज्ञानगुणके परिणमनको परापेक्षी कहना युक्तियुक्त नहीं है; कारण ज्ञानका यह स्वभाव ही है कि वह पदार्थोंको विषय करे, बिना विषय किये उसमें शून्यता आ जायगी। पदार्थ ज्ञानमें विषय पडते ही हैं, यह भी पदार्थोंका स्वभाव है। यह ज्ञान-ज्ञेयका संबंध परावलंबी नहीं कहा जा सकता, किंतु वस्तुस्वभाव है। कमरेमें लटके हुए दर्पणमें कमरेके पदार्थोंका प्रतिबिंब पडेगा ही, वह अनिवार है, एवं दर्पणका स्वभाव है। दीपक पदार्थोंको दिखाता है, यदि पदार्थ न रक्खे हों तो उन्हें वह नहीं दिखा सकता। जो कुछ भी भित्ति वा जमीन वहां होगी, उसे वह अपने प्रकाशसे दिखाता ही है, यह उसका स्वभाव ही है। सूर्य पदार्थोंका प्रकाश करता है, यह प्रकाश करना उसका स्वभाव ही है। पदार्थोंके

प्रकाशमे यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्यका प्रकाश परावलंबी है। परावलंबी तो तब कहा जाय, जब कि वह पदार्थोंके होते हुए ही या उनकी प्रेरणासे प्रकाश करे, और उनके अभावमें अंधा बना रहे। परंतु ऐसा नहीं है। पदार्थ हो चाहे न हो, वह तो सदा प्रकाश ही करता रहेगा। जो उसके सामने पदार्थ उपस्थित होंगे उन्हींको वह प्रकाश करेगा। इसीप्रकार ज्ञानगुण है। ज्ञानमें पदार्थ झलकते हैं, यह उसका स्वभाव ही है। पदार्थोंके झलकानेमें ज्ञान पदार्थोंकी कोई अपेक्षा एवं सहायता नहीं चाहता, किंतु वस्तु-स्वभाव ही वैसा है। इसलिये सिद्धोंका ज्ञान-गुण द्वारा जो परिणमन होता है, वह स्वाभाविक परिणमन है। वस्तुस्वभाव अनिवार है. उत्पादादित्रय होना अस्तित्वगुणकी पर्याय है, वस्तुमात्रमें सत्ता है, इस-लिये सिद्धोंमें भी उत्पादादित्रय सदा होते ही रहते हैं। जिसप्रकार ज्ञानगुणका दृष्टांत दिया गया है, उसीप्रकार सिद्धोंमें अन्य समस्त गुणोंका परिणमन होता रहता है। ज्ञान एक ऐसा गुण है, जो विवे-चनामें लाया जा सकता है; कारण वह सविकल्पक है। अन्य समस्त गुण निर्विकल्पक हैं, अतएव वे अवक्तव्य होनेसे अविवेच्य हैं। सिद्धोंके समस्त गुणोंमें अगुरुलघु गुणका षट्गुणी-हानिवृद्धि-रूप परि-णमन प्रतिक्षण होता रहता है। यह स्वभावपरिणमन किसी परपदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता। इस स्वाभा-विक परिणमनसे भी सिद्धोंमें सदा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता रहता है। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन समस्त द्रव्योंमें भी प्रतिक्षण उत्पादादित्रय होते रहते हैं। पुद्गलका परिणमन तो मूर्त एवं स्थूल होनेसे दृष्टिगोचर होता है, बाकी अमूर्त पदार्थोंका परिणमन छद्मस्थोंके प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं है, परोक्ष आगमादि ज्ञानका विषय अवश्य है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों ही वस्तुके सत्तागुणकी एक क्षणवर्ती त्रितय रूप पर्याय हैं। ये तीन

परिणाम भिन्नभिन्न समयमें नहीं होते, किंतु तीनोंहीका एक समय है । उत्पादका अर्थ है उपजना, व्ययका अर्थ है बिनस जाना, और ध्रौव्यका अर्थ है ठहरना अर्थात् स्थिर रहना । इन अर्थोंसे यह प्रयोजन नहीं समझना चाहिये कि 'वस्तु ही उपजती और बिनसती है । यदि वस्तु ही उपजती-बिनसती होती, तो उत्पाद और व्यय इन दोके कहनेकी ही आवश्यकता थी; तीसरा ध्रौव्य क्यों कहा गया ? इस ध्रौव्यके कहनेसे सिद्ध होता है कि वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती । वह तो नित्य सदा स्थायी है, हरएक वस्तु अजर अमर है; उसकी पर्यायें उपजती और नष्ट होती हैं । उत्पत्ति होना और नष्ट होना, इन दोनोंका एक समय कैसे हो सकता है ? कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और कभी कालान्तरमें नष्ट होता है, दोनोंका एक समय कैसे कहा गया ?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—दोनोंका भिन्न समय समझना भ्रम है, जो एक पर्यायके उत्पन्न होनेका समय है, वही दूसरी पर्यायके नष्ट होनेका समय है । जैसे घडेका फूटना और दो कपालों (दो टुकडों)-का उत्पन्न होना, दोनोंका एक ही समय है । बीजका नष्ट होना और अंकुरका उत्पन्न होना, दोनोंका एक ही समय है । जिस समय घडा फूटा है, उसी समय दो कपालोंका उत्पाद हुआ है और उसी समय मिट्टीका ध्रौव्य है । बीज जिस कालमें नष्ट हुआ है, उसी कालमें अकुंर उत्पन्न हुआ है और वृक्षका ध्रौव्य भी उसी क्षणमें उपस्थित है । इसलिये तीनोंका एक ही क्षण है । परंतु जो उत्पाद है सोही व्यय नहीं है । यहांपर अपेक्षाभेद है; उत्पाद जिस अपेक्षासे है, व्यय उससे भिन्न अपेक्षासे है और ध्रौव्य उससे भिन्न अपेक्षासे है । यथा—घडेके फूटनेकी अपेक्षासे तो व्यय है, दो कपालोंके उत्पन्न होनेकी अपेक्षासे उत्पाद है और मिट्टीकी अपेक्षा ध्रौव्य है । उसीप्रकार बीजकी अपेक्षा नाश, अंकुरकी अपेक्षा उत्पाद, तथा वृक्षकी

अपेक्षा ध्रौव्य है; कारण वृक्षत्व दोनोंमें है। इसलिए उत्पादादि तीनों ही अपेक्षाभेदसे भिन्नभिन्न स्वरूपवाले हैं, परंतु तीनोंका काल एक होनेसे वे एकपर्यायस्वरूप हैं। दो पर्याय नहीं हैं। जो घटका फूटना है, वही तो कपालका उत्पन्न होना है; न तो समयभेद ही है और न पर्यायभेद ही है। घट और कपालमें पर्यायभेद है, परंतु घटनाश और कपालोत्पादमें पर्यायभेद नहीं है। और पर्यायभेद न होनेसे तीनोंको एकरूपता आती है; इसके लिए अपेक्षाभेद है।

कोई कोई ध्रौव्यको स्थायी समझते हैं, इसीलिये वे व्यय-उत्पादको पर्याय और ध्रौव्यको गुण बतलाते हैं। परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ध्रौव्य भी उत्पाद-व्ययके साथमें होनेवाली एक पर्याय है। ध्रौव्य भी उत्पाद-व्ययके साथ बदलता रहता है। यहां शंका हो सकती है कि 'ध्रौव्यके बदलने पर वस्तुका ही नाश माना जायगा?' इसका उत्तर यह है कि—ध्रौव्य बदलता अवश्य है; यदि वह बदले नहीं तो अस्तित्वगुणका परिणाम नहीं कहा जा सकता, बदलने पर भी अस्तित्वके सद्भावका सूचक होता है। इसकी सूक्ष्मता इसप्रकार है—जैसे घडेके फूटने और कपालके उत्पन्न होनेमें मिट्टी ध्रौव्य है, ध्रौव्य होने पर भी मिट्टी एकरूपमें नहीं रहती, घडेकी अवस्थामें मिट्टीका अस्तित्व दूसरे आकारमें है और कपालकी अवस्थामें मिट्टीका अस्तित्व दूसरे आकारमें है, परन्तु जैसे घटका नाश और कपालका उत्पाद हो जाता है, वैसे मिट्टीका नाश और उत्पाद नहीं होता, मिट्टी दोनों अवस्थाओंमें मिट्टी-रूप ही रहती है। यहीं ध्रौव्यमें कथंचित् नित्यता घटित होती है। इसीलिए ध्रौव्यकी, गुणके साथ व्याप्ति है और व्यय-उत्पादकी, पर्यायके साथ व्याप्ति है। गुणका परिचय ध्रौव्यसे होता है और व्यय-उत्पादसे पर्यायका परिचय होता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनोंसे गुणपर्यायात्मक द्रव्यका स्वरूप जाना जाता है।

यहांपर एक शंका यह उपस्थित हो सकती है कि 'ऊपर तीनोंका एक ही समय बतलाया गया हैं; ऐसी अवस्थामें मनुष्यपर्यायका नाश तथा देवपर्यायका उत्पाद, इन दोनोंका भिन्न समय होनेसे व्यय-उत्पादका एक समय कहना विरुद्ध पडता है। कारण जो जीव तीन मोडे लेकर जन्म लेनेवाला है, उसके दूसरी पर्यायका उत्पाद मरण-समयसे चौथे समयमें होता है; ऐसी अवस्थामें व्यय-उत्पादका एक समय कैसे बन सकता है?' स्थूलदृष्टिसे विचार करनेसे शंका ठीक मालूम होती है, परंतु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर ऊपर की गई शंका निर्मूल ठहरती है। जो मनुष्य-पर्यायका मरणकाल है, उसी क्षणमें देव-पर्यायका उत्पाद होता है। यद्यपि स्थूलतासे मरणकालसे तीन समय पीछे देवपर्यायका उत्पाद प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें मरण और उत्पत्तिका विचार करनेसे दोनोंका एक ही काल सिद्ध होता है। आयु और गतिके छूटनेको ही मरण कहते हैं, मनुष्यायुका नष्ट होना और मनुष्यगतिका नष्ट होना ही मनुष्यजन्मका नाश अथवा 'मरण' कहलाता है। तथा आयु-गतिका उदय होना ही नूतन 'जन्म' कह-लाता है। जिससमय मनुष्यपर्यायमें रहनेवाले जीवकी मनुष्यायु और मनुष्यगतिका नाश होता है, उसी कालमें देवायु और देवगतिका उदय प्रारंभ होता है; अन्यथा विग्रहगतिमें फिर गति और किस आयुका उदय माना जायगा? इसलिए जीवका मरणकाल और आगामी पर्यायका उत्पाद एक ही क्षणमें होता है। और इसीलिए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, वस्तुके स्वभावसिद्ध एवं निर्दोष लक्षण हैं। अतएव पुरुषके स्वरूप-कथनमें तीनोंका विशेषणरूपसे विधान किया गया है।

---

(१) "गदिआणुआउ उदओ सपदे"········॥ २८५॥ —(गोम्मटसार, कर्मकांड)

अर्थात् गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीनोंका उदय एक साथ होता है। जिससमय मनुष्यपर्यायका व्यय होता है, उसीसमय देवायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, इन तीनोंका उदय एक साथ प्रारंभ हो जाता है। यही जीवका नूतन जन्म कहा जाता है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसंतत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह पुरुष-जीव (नित्यं) सदा (अनादिसंतत्या) अनादि-संततिसे (ज्ञानविवर्तैः) ज्ञानके विवर्तोंसे (परिणममानः) परिणमन करता हुआ (स्वेषां) अपने (परिणामानां) परिणामोंका (कर्ता) करनेवाला (च) और (भोक्ता) भोगनेवाला (च) भी (भवति) होता है।

विशेषार्थ—अनादिकालसे यह जीव कर्मोंके संबंधसे अशुद्ध हो रहा है; जैसे खानिमें पडा हुआ सोना सदासे अशुद्ध ही रहता है। ऐसा नहीं है कि पहले सोना शुद्ध हो, पीछे अशुद्ध होता हो; किंतु खानमें जबसे सोना-रूप पर्याय उसने धारण की है, तभीसे वह अशुद्धिमें सना हुआ है। इसीप्रकार जीव भी संसारमें अशुद्ध ही सदा रहता है। यहांपर यह प्रश्न करना कि "दो पदार्थोंका संबंध अनादिसे नहीं हो सकता, दोनों जुदेजुदे रहकर पीछे किसी निमित्तवश किसी काल-विशेषमें एक दूसरेमें मिल जाते हैं। कर्म पुद्गलकी पर्याय है, अतः वह स्वतंत्र द्रव्य है, जीव भी स्वतंत्र द्रव्य है; पीछे दोनों संबंधित होते हैं। जैसे घरके कोनेमें डंडा रक्खा हो, पुरुष उसे हाथमें लेकर चलने लगे तो डंडा और पुरुषका संबंध होता है। वह संबंध सादि है, अनादि नहीं। पहले पुरुष भी स्वतंत्र है और डंडा भी स्वतंत्र है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि डंडा और पुरुष दोनों अपने जन्मकालसे ही मिले हुए हों। इसीप्रकार कर्म और जीव दोनों ही स्वतंत्र द्रव्य हैं। उनका भी संबंध अनादि नहीं है, किंतु सादि है?" इस प्रश्नका उत्तर इसप्रकार है कि—इस जगत्में कुछ पदार्थ ऐसे भी पाये जाते हैं जो स्वतंत्र होते हुए भी अनादि-

कालसे सम्बन्ध किये हुए हैं। कुछ ऐसे भी पाये जाते हैं जो पहलेसे भिन्नभिन्न हैं, पीछे मिले हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो मिलकर फिर अलग-अलग हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं कि अनादिसे मिले हुए हैं और अनन्तकाल मिले ही रहेंगे। अलग-अलग कभी न अनादिसे हुए ही, और न होंगे ही। कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो अलग-अलग होकर फिर मिल जाते हैं; और कुछ ऐसे भी हैं जो एकबार अलग होकर फिर कभी नहीं मिल सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे न कभी मिले, और न कभी मिलेंगे। सुमेरुपर्वत, ज्योतिश्चक्रके विमान आदि अकृत्रिम पौद्गलिक ऐसे स्कन्ध हैं जो अनादिकालसे मिले हुए हैं, तथा अनंतकाल तक मिले रहेंगे; न कभी जुदे थे, न होंगे। सोना आदिक ऐसे पदार्थ हैं जो सदासे किट्टिकालिमादिक मलोंसे विशिष्ट रहते हैं; पीछे अग्निमें तपानेसे उनका सम्बन्ध छूट जाता है—सोना जुदा हो जाता है, मल जुदा हो जाता है। कुछ पर्वतादिक पाषाण ऐसे हैं, जो पहले जुदे-रूपमें थे, पीछे एकत्रित स्कन्धरूप हो गये। संसारी अभव्य जीव अनादिकालसे सदा अशुद्ध रहता है, और अनन्त-काल तक सदा वैसा ही रहेगा। अभव्यजीवका कर्मसम्बन्ध न तो कभी टूटा, और न कभी टूट ही सकता है। अभव्यत्वगुणके निमित्तसे उस आत्माका परिणाम सदा ऐसा ही रहता है कि जो संक्लेश-भावको दूरकर सम्यक्त्व-प्राप्तिके योग्य होता ही नहीं। कुछ पुरुषोंको ऐसी आशंका हुआ करती है कि 'अभव्यको सम्यक्त्व-प्राप्तिका निमित्त क्यों नहीं मिलता, एवं उसके परिणाम किसी कालमें क्यों नहीं सीझते ?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि—यदि कर्मकी ही कोई तीव्रता एवं विचित्रता ऐसी होती जो कि आत्माकी सम्यक्त्व-प्राप्तिमें बाधक होती, तब तो उपर्युक्त आशंका किसी प्रकार ठीक समझी जाती। कारण कर्मकी तीव्रता किसी निमित्तको पाकर किसी कालमें आत्मीय-पुरुषार्थसे

मन्द होकर सम्यक्त्व-प्राप्तिमें बाधक नहीं रह सकती थी। परन्तु अभव्यकी आत्मामें सम्यक्त्वप्राप्तिका बाधक अभव्यगुण है। वही अन्य भव्य आत्माओंसे इतनी विशेषता रखता है कि आत्मामें प्रथम गुण-स्थान अथवा मिथ्यात्व-परिणामके सिवा दूसरे गुणस्थानके योग्य परिणाम ही नहीं होने देता। गुणोंका कार्य वस्तुस्वभाव है, कोई भी शक्ति उसमें कभी परिवर्तन नहीं कर सकती। जैसे जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति रहनेसे ही उन दोनोंमें विभावरूप परिणमन होता है। यदि आत्माकी उपादानशक्ति (वैभाविकी शक्ति) कारण न हो, तो कितने ही बाह्यनिमित्त क्यों न मिलते, आत्मा कभी अशुद्ध नहीं हो सकता था, और न पुद्गल ही अशुद्ध होता। जिसप्रकार आकाश, काल, धर्म, अधर्म, इन चारों द्रव्योंमें उपादानशक्ति (वैभाविकी शक्ति) न होनेसे कभी कोई विभाव-परिणाम नहीं होता—इसलिए विना उपादानशक्तिके बाह्यनिमित्त कुछ नहीं कर सकते, और जिसप्रकार एक विभावशक्तिने जीव और पुद्गलमें अशुद्धता उत्पन्न कर दी, उसीप्रकार अभव्यत्वशक्ति आत्माको कभी शुद्ध न होने दे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि भिन्नभिन्न शक्तियोंके भिन्नभिन्न कार्य होते हैं। जिस शक्तिका जो कार्य है, वह अनिवार है। इसलिए अभव्य आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकता। भव्यत्व और अभव्यत्व-गुणके निमित्तसे ही आत्माओंमें इतना बडा अन्तर पड गया कि भव्य शुद्ध हो जाता है, अभव्य नहीं होता। बाकी अन्यान्य समस्त अनन्तगुण दोनों प्रकारके आत्माओंमें समान हैं। अभव्य आत्मामें भी समस्त शक्तियां भव्य आत्माके तुल्य हैं। जैसे सम्यग्ज्ञान-शक्ति, सम्यक्त्व-शक्ति, चारित्र-शक्ति ये शक्तियां भव्यमें रहती हैं, वैसे अभव्यमें भी हैं। यदि अभव्यमें वैसी शक्तियां नहीं मानी जांय, तो उसके केवलज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्मोंका उदय भी नहीं बनेगा। उन कर्मोंका

उदय उन शक्तियोंकी व्यक्तिको ही रोकनेवाला है, इसलिए उन कर्मोंके मानने पर आच्छादित शक्तियां भी माननी ही पडती हैं। इसप्रकार अभव्यजीव अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है और अनन्तकाल तक बद्ध ही रहेगा। उसकी कभी कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती। यह अभव्यत्वशक्तिका ही माहात्म्य है।

भव्य जीव भी अनादिकालसे बँधा हुआ है, परन्तु काललब्धिके मिलने पर—कर्मोंका भार हलका पड़जाने पर—भव्यत्व-शक्तिका एक परिणमन होनेपर वह सम्यक्त्वादिक निज-गुणोंका विकाश करता है, पीछे आत्मीय विशुद्धताके बढ जानेसे कर्मोंके उदयको अत्यन्त मन्द करता हुआ वही आत्मा अपने वीतराग-परिणामोंसे कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर सदाके लिए मुक्त हो जाता है। एकबार मुक्त होने पर वह फिर कभी कर्मोंमे बद्ध नहीं होता।

जो लोग आत्मा और कर्मको स्वतंत्र बतलाते हुए उनका सादि-संबंध बतलाते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन चार द्रव्योंका संयोग-संबंध सादि है या अनादि? यदि सादि है, तो उन्हें सक्रिय मानना पडेगा; क्योंकि बिना क्रियाके वे परस्पर मिल कैसे सकते हैं? तथा बिना संबंधके पहले वे कहां किस रूपमें स्वतंत्र ठहरे थे, फिर किस निमित्तसे मिले? यदि अनादि है, तो मानना पडेगा कि स्वतंत्र द्रव्य ऐसे भी होते हैं, जिनका अनादि-संबंध होता है। जीवद्रव्य और कर्मद्रव्य यदि पहले भिन्नभिन्न माने जांय, तो जीवको शुद्ध मानना पडेगा; क्योंकि अशुद्धता जीवमें कर्मोंके निमित्तसे आती है, कर्मोंके अभावमें वह शुद्ध रहता है. जैसे कि सिद्धपरमेष्ठी। यदि जीव पहले शुद्ध था, तो पीछे अशुद्ध कैसे हुआ? यदि 'बाह्य कारणके मिलनेसे अशुद्ध हुआ' ऐसा कहा जाय, तो बाह्य कारण तो सिद्धोंको भी मिल हुए हैं। वे क्यों नहीं अशुद्ध हो जाते, सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें सिद्धोंके

समीप भी हैं ? यदि कहा जाय कि आत्माकी निजशक्तिका विभाव उसे अशुद्ध बनाता है तो वह विभाव शुद्ध जीवमें कबसे क्यों हुआ ? बिना कर्मोंके संबंध हुए ही यदि विभाव हो गया, तो सिद्धोंके भी क्यों नहीं हो जाता ? इन विकल्पोंसे यह बात सिद्ध होती है कि जीव और कर्मके संबंधमें निमित्त-नैमित्तिक-भाव एवं हेतु-हेतुमद्भाव है । इसीलिये जीवमें अनादिकालीन अशुद्धता सिद्ध होती है । डंडा और पुरुषका जो दृष्टांत सादि-संबंधके लिये दिया गया है, वह विषम है । यहांपर खानिसे निकलेहुए सोनेका दृष्टांत घटित करना चाहिये । पुद्गलोंमें कोई स्कंध परस्पर अनादिसे संबंधित हैं, जैसे कि अकृत्रिम पदार्थ । कोई सादि संबंध करते हैं, फिर भिन्नभिन्न हो जाते हैं; पीछे फिर मिल जाते हैं । उसका कारण उनमें रहनेवाले रूक्ष-स्निग्धादिक भाव हैं । कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'जब जीवका कर्मके साथ अनादि-संबंध है, तो वह अनंतकाल तक ठहरेगा भी । ऐसी अवस्थामें जीवकी मुक्ति होना ही असंभव है ।' ऐसा कहनेवाले पदार्थके विचार तक नहीं पहुंच सके हैं । जिन कारणोंके मिलनेसे आत्मा कर्मोंका भार धारण कर रहा है, उनके हटा देनेपर उसे मुक्ति होनेमें देर लगनेका कोई कारण नहीं दीखता । इंधनका बहुत बडा पुंज यदि अनेक वर्षोंमें इकट्ठा किया जाय, तो क्या उसके जलानेमें भी उतना ही काल आवश्यक है ? जिसप्रकार देदीप्यमान अग्नि समस्त संचित काष्ठको एक पल भरमें ध्वंस कर देती है, उसीप्रकार आत्माके वीतराग परिणाम—शुक्लध्यानरूप अग्नि भी उन अनादिकालसे संचित कर्मोंको एक क्षणभरमें नष्ट कर देती है ।

जब तक जीव घातिया-कर्मोंसे लिप्त रहता है, तब तक उसके गुणोंका पूर्ण विकाश नहीं हो पाता; प्रतिपक्षी कर्मोंके निमित्तसे आत्मीयगुण आच्छादित हो जाते हैं । इतना ही नहीं, किंतु उनका विपरीत

परिणमन भी होता है । आत्माके गुणोंका विपरीत परिणमन मोहनीयकर्मके निमित्तसे ही होता है; बाकी समस्त कर्म गुणोंको ढक लेते हैं, परंतु विपरीत परिणाम नहीं करते। जैसे, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके निमित्तसे ज्ञानगुण और दर्शनगुणकी प्रकटता नहीं होगी। जैसे जैसे कर्मोंकी तीव्रता अथवा मंदता होगी, उसीके अनुसार उन गुणोंकी प्रगटता भी तरतमरूपसे मंद अथवा तीव्र होती रहेगी। इसीप्रकार अंतरायकर्म वीर्यादि गुणोंका विकाश नहीं होने देगा, परंतु उन्हें विपरीत स्वादवाला नहीं बनावेगा। मोहनीयकर्ममें सब कर्मोंसे यही विचित्रता और महा कठोरता है कि—वह अपने प्रतिपक्षी गुणोंको तथा उनसे संबंध रखनेवाले गुणोंको भी विपरीत-स्वादु (उलटा स्वादवाला) बना देता है। आत्माके सम्यक्त्व-गुणका यह कार्य है कि वस्तुके स्वभाव-सिद्ध स्वरूप पर पहुंच कर उसीका यथार्थ श्रद्धान करना, एवं आत्मीय शुद्ध-स्वरूप वा स्वानुभूतिका अनुभव करना। यह आत्माका चतुर्थ गुणस्थानवर्ती परिणाम है, परंतु ज्योंही अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ अथवा मिथ्यात्वकर्मका उदय हुआ, त्योंही झट आत्मा भी उन शुद्धस्वरूप वा परमानंदमय सुखस्वरूपसे च्युत होकर द्वितीय गुणस्थान अथवा प्रथम गुणस्थानवर्ती विभाव-परिणामोंका आस्वादी बन जाता है। उन मिथ्यात्वरूप विभाव-परिणामोंके कारण आत्मा वस्तुको विपरीत स्वरूपवाला समझता है तथा वैसा ही श्रद्धान कर लेता है। मिथ्यात्वके प्रभावमें सम्यक्त्वका साथी सम्यग्ज्ञान भी अपने स्वरूपसे च्युत होकर मिथ्याज्ञान हो जाता है। वैसी अवस्थामें वह पदार्थोंको विपरीतरूपसे ही ग्रहण करता है—कर्मजनित भावोंको आत्मीय भाव मान बैठता है—रागादि भावोंको आत्मीय भाव समझता है—समीचीन उपदेशको विपरीत मानता है—विपरीतको ठीक मानता है—शरीरादिक एवं अन्यान्य सांसारिक वासनाओंमें रुचि-

पूर्वक मग्न हो जाता है—उनमें गाढ स्नेह करने लगता है। उसी तीव्र मोहवश बाह्यप्रवृत्ति भी धर्म विपरीत करने लगता है। यह सब वैभाविक भावोंका ही परिपाक है। वैभाविक भाव जीवके निज भाव हैं, परंतु कर्मके उदयसे होनेवाले भाव हैं, वे जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं। उन रागद्वेषादिक विभाव-भावोंका कर्ता जीव है तथा उनसे होनेवाले फलोंका भोक्ता भी जीव है। कषाय एवं अज्ञानवश जीव स्वयं उन विभावभावोंको उत्पन्न करता है, और उनसे होनेवाले परिणामोंका स्वयं भोगनेवाला है।

यहांपर यह भी समझ लेना चाहिये कि निश्चयनयसे आत्मा अपने ही शुद्धभावोंका कर्ता और भोक्ता है। परभावोंका वह न कर्ता है, न भोक्ता है। व्यवहारनयसे जीव राग द्वेषादिक परभावोंका भी कर्ता तथा भोक्ता है। रागद्वेषादिक वास्तवमें परभाव हैं; कारण पर-पुद्गलके निमित्तसे ही होनेवाले आत्माके विभावभावको परभाव कहते हैं। रागादिक, पर-निमित्तसे आत्माके ही विभावभाव हैं, इसीलिये उन्हें आत्मीय भाव कहा गया है।

पुरुषार्थसिद्धिका स्वरूप।

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिससमय (सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं) समस्त वैभाविकभावोंसे उत्तीर्ण वा रहित होकर (सः) वह पुरुष (अचलं) निष्कंप (चैतन्यं) चैतन्यस्वरूपको (आप्नोति) प्राप्त होता है, (तदा) उससमय (सम्यक्-पुरुषार्थसिद्धिं) समीचीन पुरुषार्थसिद्धि—पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिको (आपन्नः 'सन्') पाता हुआ (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवति) हो जाता है।

विशेषार्थ—जबतक आत्मामें सकंपता वा चलायमानता रहती है, तबतक वह कर्मका आकर्षण करता रहता है, उस सकंपताका कारण योग है, दशवें गुणस्थान तक आत्मामें सकषाय योग रहता है, वहांतक आत्मा कर्मोंको खींचता भी है और बंध भी करता है। दशवें गुणस्थानमें कषायभाव अत्यंत मंद है, केवल सूक्ष्मलोभका उदय है, सो भी अंतर्मूहूर्त मात्रकी स्थिति लेकर उदयमें आता है; इसलिये उसके द्वारा जो कर्मबंध होता है उसकी स्थिति भी अंतर्मुहूर्त मात्र पडती है। इसलिये उपशमश्रेणी मानडेवाले जीवके दशवें गुणस्थानमे ग्यारहवां गुणस्थान होता है। जिन उपशांत परिणामोंसे वह कषायोंका उपशम करता है, अंतर्मुहूर्तमात्रमें उनमें कषाय-निषेकोंका उदय होनेसे सकषायता आजाती है। उस अवस्थामें जीव तत्काल वहांसे गिर जाता है और दशवें नवमें आदि नीचेके गुणस्थानोंमें आ जाता है। क्षपकश्रेणी माडनेवाले जीवके दशवेंमे एकदम बारहवां गुणस्थान् होता है, वह विशुद्धतम

---

(१) "पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स। जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

—(गोम्मटसार, जीवकांड)

अर्थात्—आत्माकी निज-शक्तिका नाम योग है। वह शक्ति सिद्धोंमें भी है, परन्तु कोई भी शक्ति जबतक बाह्य निमित्त नहीं पाती, तब तक वह विभाव-परिणाम नहीं धारण करती है। योगशक्तिको बाह्य मनोवर्गणा अथवा वचनवर्गणा अथवा कायवर्गणाका जब अवलम्बन मिलता है, और पुद्गलविपाकी नामा नामकर्म तथा अंगोपांग नामकर्मका आत्मामें उदय होता है, उससमय उस योगशक्तिका विभाव-परिणमन होता है; उसीसमय आत्मामें सकम्पता होकर कर्मोंका ग्रहण होने लगता है। जिससमय योगशक्ति मनोवर्गणाका अवलम्बन कर कर्म नो-कर्मको ग्रहण करती है, उससमय उसे "मनोयोग" कहते है, वचनवर्गणाके अवलम्बन करने पर "वचनयोग" और कायवर्गणाके अवलम्बन करने पर काययोग कहते हैं।

(२) ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करने पर एकदम चतुर्थ गुणस्थान हो जाता है, विना मरणके दशवें आदि गुणस्थान क्रमसे प्राप्त होते हैं।

परिणामोंसे कर्मोंका क्षय करता जाता है। कषायभावोंका उदय केवल दशवें गुणस्थान तक ही जीवके रहता है, आगे नहीं । परंतु आगेके तीन गुणस्थानोंमें—ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें (उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली) इन तीन गुणस्थानोंमें—योग तो रहता है और इसीलिये इन गुणस्थानोंमें भी जीव कर्मोंका आकर्षण करता है, क्योंकि सयोगकेवली तक आत्मा योगोंके निमित्तसे सकंप रहता है; परंतु उनमें कषायका उदय न रहनेसे कर्मोंका बंध नहीं होता। जो कर्म योग-द्वारा आते हैं, वे आत्मामें ठहरते नहीं। ठहरानेवाला कषायभाव है, वह वहां उदित नहीं है; इसलिये जिस क्षणमें कर्म आते हैं, उसी क्षणमें आत्मासे निकल कर कर्म-पर्याय छोड देते हैं । वहांपर कर्मोंके आनेका, आत्मासे उनका संबंध होनेका और आत्मासे उनके निकल जानेका एक ही समय है। सयोगकेवली.गुणस्थानमें, जहां आत्मा परमपूज्य सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है, वहां भी सकंपता-वश कर्म ग्रहण करता है। यद्यपि वह कर्म-ग्रहण आत्माके गुणोंका घात नहीं करता, फिर भी आत्माकी योग-शक्तिके स्वभाव-परिणमनको रोकता है। इसलिये जिससमय आत्मा अचल चैतन्यको पा लेता है, अर्थात् जब आत्मामें योगजनित चलायमानता नहीं रहती है, उसीसमय आत्मा अयोग-केवली-गुणस्थानको पाकर वहां परमोत्कृष्ट शुक्लध्यान (व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान)-द्वारा समस्त अघातिया-प्रकृतियोंका नाश करके लोकशिखर पर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है।

यही अवस्था 'मोक्ष' कहलाती है। समस्त कर्मबन्धनसे छूटनेका नाम ही मोक्ष है । मोक्ष गयेहुए जीवोंका फिर कभी संसारमें लौटना नहीं होता । वहां न जन्म है, न मरण है, न बुढापा है, न भय है, न रोग है, न शोक है, न दुःख है । आत्मा सदा अनन्तज्ञान-सुख-वीर्य-दर्शनधारी शुद्धावस्थामें विरा-

जमान रहता है। उसे कभी कोई विकार नहीं होता। आत्मा उस अवस्थामें कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् संसारमें पुद्गलके निमित्तसे सांसारिक सुख दुःख एवं उनकी उत्पादिका क्रियाओंका कर्ता और भोक्ता बन रहा था। कर्मोदयवश जैसे जैसे भावोंका उपार्जन करता था एवं जैसे जैसे कर्तव्य करता था, उन्हींके अनुसार होनेवाले फलोंको भी भोगता था, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, इन चारों गतियोंमें जिस गतिके योग्य कार्य करता था उसी गतिमें वह उपार्जित कर्मोंके उदयसे पहुंच कर फल भोगता था। इस जीवको कोई दूसरा सुख दुःख देनेवाला नहीं है; जब कोई मनुष्य बीमार पडता है, तब घरवाले अनेक उपचार करते हैं, रातदिन सेवामें लगे रहते हैं, अत्यंत प्रिय रोगीके बदलेमें स्वयं मरने तकके लिये तयार होते हैं, परंतु रोगीके दुःखको कोई रत्तीभर भी नहीं बटा सकता। उस जीवने तीव्र या मध्यम या मंद जैसे कर्म किये हैं, उनके अनुसार उसे फल भोगना ही पडेगा। जो लोग यह कहते हैं कि 'परमात्मा जैसा करता है, वैसा होता है; वही हरएक जीवको सुखदुःखका फल देता है।' ऐसा कहनेवाले परमात्माके स्वरूपकी विडंबना करते हैं: परमात्माका स्वरूप वीतराग है, अशरीर है, निरीच्छ है, वह किसीका कर्ताहर्ता हो नहीं सकता। जिसके कार्य करनेकी इच्छा हो, शरीर हो, सरागी हो, वही किसी कार्यको कर सकता है; विना शरीरके किसीने संसारमें कोई कार्य आजतक किया नहीं, कर भी नहीं सकता। जो बात असंभव है, वह कभी किसीके द्वारा साध्यकोटिमें आ नहीं सकती। यदि परमात्मा ही जगत्का कर्ताहर्ता हो तो फिर जगतमें किसी प्रकारका कोई अन्याय, अत्याचार एवं अनर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ है, वह सबोंके भावोंको पहचानता है। वह जानता है कि कौन क्या कर रहा है अथवा करनेवाला है, वह सर्वशक्तिमान भी है, इसलिये पापियोंको बुरे कामोंसे रोक सकता

है। ऐसी अवस्थामें व्यभिचारी, चोर, बेईमान, हिंसक आदि अधर्मी पुरुषोंकी सृष्टि नहीं होनी चाहिये। परंतु देखनेमें आता है कि कहीं वेश्यायें पापकर्म कर रही हैं, कहीं चोरियां हो रही हैं, कहीं शराबी शराब पी रहे हैं। सर्वज्ञ और शक्तिशाली ईश्वर उन्हें रोक क्यों नहीं सकता? यदि कहा जाय 'वे अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार वैसे वैसे कार्योंमें लगे हुए हैं' तो फिर ईश्वर करता ही क्या है? उसका नाम क्यों बदनाम किया जाता है? जो जैसा करता है वैसा फल कर्मानुसार उसे मिल जाता है। कर्तावादी ईश्वरको दयालु भी बताते हैं। जो दयालु होता है वह समर्थ होनेपर दुःखी जीवोंके दुःखको दूर कर सकता है, परंतु आज दुनियामें अनेकों अंधे, भिखारी, लूले, लंगडे, दीनहीन दुःख पा रहे हैं। क्यों नहीं ईश्वर उनपर दया करता? क्यों दुष्काल पडते हैं? क्यों असमयमें वर्षा होती है? क्यों अग्नियां लग जाती हैं? क्यों दुनिया महामारी, प्लेग, हैजा, एन्फ्लूएंजा आदि भयंकर रोगोंका ग्रास बनती चली जाती है? क्या समर्थ और सर्वज्ञ ईश्वर इन सब बातोंका कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता? जब कि एक छोटासा राजा अपनी शक्तिके अनुसार अनेक कष्टोंको दूर करनेवाले सुप्रबंध कर डालता है, तो ईश्वरकी शक्ति तो अपार है, सबकुछ सुधार कर सकता है। फिर क्या बात है कि सभी जीव मनचाहा काम करते हैं, सभी परिणमन प्रकृतिके अनुसार होते हैं, ईश्वर द्वारा कभी कोई सुधार देखने-सुननेमें नहीं आता? ईश्वरवादी इन बातोंका कुछ भी संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते। वास्तवमें न कोई ईश्वर ऐसा हो सकता है जो अनादिसे शुद्धबुद्ध हो, सभी जीव अनादिसे अशुद्ध होते हैं, पीछे मुक्तिलाभ करते हैं। जगत् अनादिसे अनंतकाल तक सदा अपने स्वरूपमें रहता है, न उसकी रचना होती है और न प्रलय ही होता है। सभी पदार्थ प्राकृतिक नियमके अनुसार परिणमन करते रहते हैं, प्राकृतिक नियमसे ही नदीके

पत्थर गोल हो जाते हैं, उसीसे परमाणुओंका परिणमन होकर जल बरस जाता है, घास पैदा हो जाती है, जल स्थल हो जाता है, स्थल जल हो जाता है। पुद्गलमें अचिंत्य शक्ति है, उसमें स्वयं क्रिया होती है। संसारमें कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो चेतनकर्ता-द्वारा बनाये जाते हैं, कुछ ऐसे हैं जो अपने कारणों-द्वारा स्वयं बनते और बिगड़ते हैं। ऐसा न तो कोई ईश्वर है जो जगत्‌को बनाता और बिगाड़ता हो, और न जगत्‌का ही यह स्वरूप है कि वह रचाजाता और उसका प्रलय कियाजाता हो। जीव भी सभी अपने कर्मोंके अनुसार फल भोगते हैं, जबतक उनके कर्मोदय रहता है, तबतक उनके इच्छायें उत्पन्न होती हैं; इन्हींके आधारपर वे भले-बुरे कार्योंमें रत होते हैं। कर्मोदयके नष्ट हो जानेपर आत्मा शुद्ध हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है; अर्थात् वीतराग अवस्थाके प्रगट होनेपर उसे कोई कार्य करना बाकी नहीं रहता, वह निज स्वरूपमें तल्लीन होकर सदा आत्मीय सुखका अनुभवन करता रहता है। आत्माकी उसी अवस्थाको "पुरुषार्थसिद्धि"—'पुरुष'—आत्माके, 'अर्थ'—प्रयोजन—मोक्षकी, 'सिद्धि'—प्राप्ति कहते हैं।

जीव और कर्ममें निमित्त-नैमित्तिकभाव।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवकृतं) जीवद्वारा किये गये (परिणामं) रागद्वेषादिक विभाव-भावका (निमित्तमात्रं) निमित्तमात्र (प्रपद्य) पाकर (पुनः अन्ये पुद्गलाः) जीवसे भिन्न जो पुद्गल हैं वे (अत्र) इस आत्मामें (स्वयमेव) अपने आप ही (कर्मभावेन) कर्मरूपसे (परिणमंते) परिणमन करते हैं। अर्थात् पुद्गलद्रव्यकी ही कर्म-पर्याय होती है, जीवके विभावभाव उसमें निमित्तमात्र पड़ते हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें यह बात स्पष्ट की गई है, कि जीव और कर्मका संबंध अनादिकालीन होनेपर भी जीवमें पुद्गलद्रव्य कारण नहीं है, और न पुद्गलमें जीवद्रव्य ही कारण है। दोनों ही भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य हैं। कर्मरूप पर्याय पुद्गलद्रव्यकी है, तथा जीवके विभावभाव जीवद्रव्यके हैं। कर्मरूप पर्यायमें जीवके परिणाम केवल निमित्तमात्र हैं, और जीवके विभावभावोंमें पुद्गलद्रव्य निमित्तमात्र है। निमित्तमात्र कहनेका यही प्रयोजन है कि 'जीव और कर्मका घनिष्ठ संबंध होनेसे पुद्गलके कुछ गुण जीवमें चले जाते हों अथवा जीवके कुछ गुण पुद्गलमें आ जाते हों'—ऐसा कोई न समझ लेवे। कितना ही घनिष्ट संबंध क्यों न हो जाय, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य-रूप परिणमन कभी किसी अंशरूपमें भी नहीं हो सकता। समस्त द्रव्य अपने अपने उपादानकारणोंको लेकर परिणमन करते रहते हैं। हां, इतना अवश्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमनमें निमित्तभूत पड जाता है। निमित्तके साथ 'मात्र'पद देनेका यही प्रयोजन है, कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमनमें अंशांशमात्र भी उपादानरूपसे कारण नहीं हो सकता, केवल भिन्नस्वभाव रखकर ही परिणमनमें साधक हो जाता है।

आत्मामें कर्मरूप पर्याय पुद्गलकी पर्याय है। कर्मपर्याय समस्त पुद्गलस्कन्धोंसे नहीं बनती, और न हर-किसी पुद्गलस्कंधको आत्मा आकर्षण ही करता है, किंतु कार्माणवर्गणासे कर्मपर्यायकी रचना होती है। इसका सारांश इसप्रकार है कि—पुद्गल-द्रव्यकी तेईस प्रकारकी वर्गणाएँ हैं, उनमें पांच प्रकारकी वर्गणाएँ ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्बन्ध है; बाकी १८ प्रकारकी वर्गणाओंसे जीवका कोई प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। पांच प्रकारकी वर्गणाओंमें—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा, इन चार प्रकारकी वर्गणाओंसे नोकर्म बनते हैं, और कार्माणवर्गणाओंसे आठ

प्रकारके कर्म बनते हैं। आहारवर्गणासे औदारिक, वैक्रियक और आहारक, इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। भाषावर्गणासे भाषा अर्थात् शब्दरूप रचना होती है; मनोवर्गणासे द्रव्य-मन बनता है और तैजसवर्गणासे तैजस-शरीर बनता है। इन वर्गणाओंसे बननेवाली पर्यायोंको नोकर्म इसलिए कहा गया है कि वे आत्माके गुणोंका साक्षात् घात नहीं करती हैं, किंतु उन गुणोंके घात होनेमें कर्मोंकी सहायता करती हैं। इसीलिए उन्हें नोकर्म अर्थात् ईषत्कर्म (थोडा कर्म)-रूप संज्ञा दी गई है। कार्माण-वर्गणाओंकी कर्म-पर्याय होती है; वह किसप्रकार बनती है, उसका खुलासा इसप्रकार है—

संसारमें सर्वत्र सूक्ष्म कार्माण-वर्गणाएँ और नो-कार्माणवर्गणाएँ भरी हुई हैं। जिससमय जीव मनोयोग काययोग अथवा वचनयोगकी प्रवृत्तिसे चंचलित होता है, उससमय आत्माके प्रदेश सकम्प होने लगते हैं। आत्माकी वह सकम्प अवस्था ही उन सूक्ष्म वर्गणाओंको खींचनेमें समर्थ होती है। जिस समय आत्मा अपने तीनों योगोंमें योग्यतानुसार, जिस किसी योग-द्वारा भी, वर्गणाओंका आकर्षण

(१) शब्दको नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि अमूर्त एवं आकाशका गुण मानते हैं; परन्तु वास्तवमें शब्द पुद्गलकी पर्याय होनेसे मूर्त है। उसे आकाशका गुण एवं अमूर्त कहना भूल है। शब्द मूर्त इसलिए है कि वह मूर्तिमान् पदार्थोंसे रोका जाता है—बाधा जाता है। शब्द भित्तिसे रुक जाता है, गगनभेदी शब्द कानकी झिल्लियोंको फाड़ देता है। ये सब कार्य मूर्त पदार्थोंमें ही हो सकते हैं, अमूर्तमें कभी नहीं हो सकते। दूसरे, शब्दका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी होता है अर्थात् वह कर्ण-इन्द्रियसे जाना जाता है। और जिसका इन्द्रियप्रत्यक्ष है, वह मूर्त होता है। जैसे कि आंख नाक-मुहसे होनेवाले प्रत्यक्षभूत पदार्थ सभी मूर्त होते हैं। तीसरे, शब्दका स्पर्श होता है, इसलिये उसमें रूप-रस-गन्ध भी अवश्य है। और जिनपदार्थोंका स्पर्श होता है, उन सबमें रूप-रस-गन्ध अवश्य रहते हैं; जैसे कि पुस्तक, कपड़ा, चौकी आदि। शब्द 'टेलीफोन' (एक प्रकारका श्रवण-यन्त्र) द्वारा इधरसे उधर पहुंचाया जाता है, 'फोनोग्राफ' (एक तरहका वाद्ययन्त्र) में भर दिया जाता है, इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भलीभांति सिद्ध होता है कि वह 'मूर्त' है। शरीरधारी आत्मा जो शब्दोच्चारण करता है, वह भाषा-वर्गणाका कार्य है। जो भाषा वर्गणाएँ आत्माने नोकर्मरूपसे ग्रहण की थीं, वे ही उदयमें आकर वचनरूपसे खिरती हैं।

करता है, उससमय सकषाय-रूप परिणाम उन वर्गणाओंमें आत्मीयगुणोंके घात करनेकी योग्यता उत्पन्न कर देते हैं। जिससमय आत्मा योग-द्वारा वर्गणाओंको खींचकर अपनेसे सम्बन्ध करता है, उसी समय उन वर्गणाओंकी वर्गणारूप पर्याय नष्ट होकर कर्मरूप पर्याय हो जाती है। कर्मपर्याय होनेमें जीवके रागद्वेषादिक भाव निमित्त-कारण पड जाते हैं; परंतु कर्मपर्याय पुद्गलद्रव्यकी ही पर्याय है, वह कर्मरूप परिणामके धारण करनेपर भी रूप-रस-गंध-स्पर्शरूप जडताको नहीं छोड सकती। जिन कर्मोंका आत्मा सम्बन्ध कर लेता है, वे ही आबाधाकालके[1] पीछे उदयमें आने लगते हैं, और उन्हींके उदयसे आत्माके विभावभाव रागद्वेषादिक होते हैं। जो कार्माण-वर्गणाएँ कर्मरूप पर्यायको धारण करनेवाली हैं, उनकी 'द्रव्यबंध' संज्ञा है। पुद्गलपिंडको 'द्रव्य' कहते हैं, और उसमें बँधनेको 'बंध'। आत्मामें बंधनेकी शक्ति केवल कार्माण एवं नोकार्माणवर्गणाओंमें ही है, पुद्गलकी पर्यायोंमें नहीं है। जैसे चुम्बक-पत्थरमें लोहेको खींचनेकी शक्ति है—और किसी धातुके खींचनेकी शक्ति उसमें नहीं है, उसीप्रकार लोहेमें चुम्बक-द्वारा खींचे जानेकी शक्ति है। इसलिए कार्माण तथा नोकार्माणवर्गणाओंमें जो आत्मामें बंधनेकी योग्यता है, उसे ही 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं। आत्माके जिन रागद्वेषादि परिणामोंकी निमित्ततासे वे वर्गणाएं आत्मासे सम्बन्ध पाकर कर्म-पर्याय एवं नोकर्म-पर्याय धारण करती हैं, उन परिणामोंको 'भाव-कर्म' कहते हैं। उन्हींका दूसरा नाम चेतनकर्म है। भावकर्मके निमित्तसे ही कर्मपर्यायमें फलदान-शक्तिका पाक होता है। जिससमय कर्म बंधते हैं, उसीसमयसे लेकर उनमें पाक होना प्रारम्भ हो जाता है; फिर आबाधाकालको छोडकर वे कर्म उदयमें आने लगते हैं।

६२

६१

---

(१) जितने समय तक कर्म उदयमें नहीं आता है, उतने कालको आबाधाकाल कहते हैं। हर-एक कर्मके बंधने पर उसके पाकके लिए

उन्हीं उदयमें आयेहुए कर्मोंके निमित्तसे भावकर्म (रागद्वेषरूप आत्माका वैभाविकभाव) उत्पन्न होता है; पुनः उस भावकर्मके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बंध होता है एवं उन नवीन बंधे हुए कर्मोंके उदयसे नवीन भावकर्मकी उत्पत्ति होती है। यही भावकर्म और द्रव्यकर्मकी शृंखला संसारी जीवमें तबतक बराबर लगी रहती है, जबतक कि जीवके कर्मोंका उदय मंद होता-होता निःशेष नहीं हो जाता एवं भावकर्मोंका अभाव नहीं हो जाता। भावकर्मके निमित्तसे द्रव्यकर्मका जो आत्माके साथ एकमएक होना है, अर्थात् आत्माके प्रदेश एवं कर्मप्रदेश इन दोनोंका जो एकक्षेत्रावगाह होना है। वही 'उभयबंध' कहलाता है। इस उभयबंधमें आत्मा और कर्म दोनों ही उपादानकारण हैं तथा निमित्तकारण आत्माके विभाव हैं। इसप्रकार पुद्गल-वर्गणाओंमें कर्मपर्याय स्वयं होती है; जीवकृत परिणाम उनमें केवल निमित्तमात्र पड़ते हैं; अर्थात् स्वभाव अथवा विभाव, दोनोंरूप परिणमन वस्तुके स्व-स्वरूपमें ही होते हैं। परस्वरूप-रूप कोई भी परिणमन तीनकालमें नहीं हो सकता; हां, केवल निमित्तकारणोंको पाकर एक दूसरों पर प्रभावक अवश्य होते हैं।

कुछ आबाधाकाल (व्यवधान-समय) अवश्य लगता है। जिस कर्मकी स्थिति एक सागर प्रमाण होती है, उस कर्मकी आबाधा १ वर्षकी पड़ती है। सबसे जघन्य स्थितिवाले कर्मोंका आबाधाका समय एक आवलि-प्रमाण है। अर्थात् आत्मासे कोई भी कर्म क्यों न संबंध करे, एक आवलिसे पहले तो वह उदयमें आ ही नहीं सकता। इसप्रकारकी आबाधा वहींपर पड़ती है, जहां कि कषायभावोंसे आत्मा कर्मबन्ध करता है। जहां कषायभाव नहीं है, केवल योगोंसे कर्म आते हैं, वहां कर्म आत्मामें ठहरते नहीं है—इधरसे आते हैं, उधरसे निकलते जाते हैं; केवल आत्माको स्पर्शमात्र करते जाते हैं। वहांपर आबाधा नहीं है। जहां कर्मोंका पाक होता है, वहीं अबाधाकालकी आवश्यकता है।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (स्वकैः) अपने (चिदात्मकैः) चैतन्यस्वरूप (भावैः) भावोंसे—रागादि परिणामोंसे (स्वयं अपि) अपने आप ही (परिणममानस्य) परिणमन करनेवाले (तस्य) उस (चितः अपि) जीवके भी (पौद्गलिकं कर्म) पुद्गलके विकाररूप कर्म (निमित्तमात्रं) निमित्तकारण मात्र (भवति) होते हैं।

विशेषार्थ—जीव रागादिक भावोंको धारण करता है। रागादि भाव जीवके ही अशुद्ध भाव हैं। चारित्रगुणकी अशुद्ध पर्याय (विभाव पर्याय)-को ही रागादि कहते हैं; यह जीवका ही परिणाम है, परंतु पुद्गल-कर्म उसमें निमित्तमात्र पडाहुआ है। बिना निमित्तके जीवकी रागद्वेष-रूप अशुद्धपर्याय हो नहीं सकती, परंतु निमित्त पडनेमात्रसे वह पुद्गलकृत भाव नहीं कहा जा सकता, किंतु जीवकृत भाव ही कहलायेगा। 'पुद्गलके निमित्तसे आत्मा अशुद्ध कैसे हो सकता है? पुद्गल जड है, आत्मा चेतन है; चेतन पर जड कर्मका असर कैसे पड सकता है?' इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—यद्यपि पुद्गलकर्म जड है, फिर भी आत्माके साथ उसका अतिघनिष्ट संबंध होनेसे आत्मा पर उसका असर पडता है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मादकपदार्थोंके सेवनसे आत्माका ज्ञान मूर्छित हो जाता है—मदिरा, भंगा आदि मद करनेवाले पदार्थोंका सेवन करनेसे पुरुष मूर्छित हो जाता है। यदि जडमें आत्मा पर असर डालनेकी शक्ति न होती, तो मद-कारक पदार्थोंसे ज्ञान मूर्छित क्यों हो जाता? इसी

प्रकार—बादाम, पिस्ता, घी, दूध, मलाई, फल आदि बलकारक एवं पौष्टिक पदार्थोंके सेवन करनेसे आत्माका ज्ञानगुण विकसित होता है; बासी पकवान दहीके साथ खानेसे बुद्धि मंद होती है। इन सब बातोंसे यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि जडका आत्मापर गहरा प्रभाव पडता है। यह तो बाह्य जडपदार्थोंके संबंधका दृष्टांत है। जो सूक्ष्म कर्मपरमाणु आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाही हो रहे हैं अर्थात् नीरक्षीरके समान जड और चेतनके प्रदेश एकम-एक हो रहे हैं, उन परमाणुओं द्वारा आत्माके ज्ञान दर्शन आदि गुणोंका घात होता है। जो आत्मीय गुणोंका घात करनेवाले स्पर्धक हैं, उन्हें 'घातिया-कर्म' कहते हैं। इन घातिया-कर्मोंमें भी चारप्रकारसे घात करनेकी भिन्न भिन्न शक्तियां हैं। कुछ कर्मपुंज ऐसा है, जो शैल (पर्वत)-के समान कठोर है, वह अपने प्रतिपक्षी गुणको सम्पूर्णतासे घात करता है; ऐसे कर्मपुंजको 'सर्वघाति-स्पर्धक' कहते हैं। कुछ कर्मपुंज ऐसा है जो ऊपर कहे हुए कर्मपुंजसे कम दर्जेकी घातशक्ति रखता है, उसे अस्थिके समान कहा गया है। यह भाग भी सर्व-घाति है—आत्माके गुणका सर्वघात करता है। तीसरा कर्मपुंज ऐसा है जो काष्ठके समान कठोरता लिएहुए है। काष्ठ यद्यपि शैल और अस्थिसे कम कडा है, मोडनेसे मुड भी जाता है, इसलिए यह सर्वघाती होनेपर भी पहले दो भागोंसे हलका है। इसी तीसरे भागके बहुभाग परमाणु सर्वघाति हैं, एकभाग देशघाती हैं; अर्थात् दारू (काष्ठविशेष)-के समान कर्म-परमाणुओंके अनंतवें भाग ऐसे भी परमाणु हैं जो आत्माके गुणोंका एकदेश घात करते हैं, वे उनका सर्वघात नहीं करते। चौथा कर्मपुंज ऐसा है जो लताके समान कोमल है। जैसे लता अति कोमल होती है, उसीप्रकार जो कर्म उसीके समान कोमल रसशक्ति लियेहुए हैं, उनसे आत्माके गुणोंका एकदेश ही घात होता है। इसलिये इसप्रकारके शक्तिवाले कर्मोंको 'देशघाति प्रकृति'योंके नामसे पुकारा

जाता है। इसप्रकार जैसी जैसी कषायभावोंकी तीव्रता या मंदता होती है, वैसी वैसी कर्मोंकी फलदान-शक्तिमें तरतमता होती है; और जैसा जैसा कर्मोंका उदय आता है, वैसा वैसा विभावभाव आत्मामें उत्पन्न होता है। यही कर्म और जीवमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

इस संबंधको दूसरे दृष्टांतद्वारा भी बतलाते हैं—जैसे 'फोटोग्राफर' (तस्वीर वा प्रतिबिंब उतारनेवाला) 'फोटो' (तस्वीर वा प्रतिबिंब) लेते समय एक ऐसा 'कैमरा' (तस्वीर उतारनेका यंत्र) सामने रखता है जिसके काचमें ज्योंकी-त्यों छवि आनेकी योग्यता रहती है। जिसप्रकारकी चेष्टा अथवा व्यापार फोटो उतरवानेवाले पुरुषका उससमय होता है, फोटोवाले कांचमें वह ज्योंका-त्यों अंकित हो जाता है। यह गुण उस कांचमें लगे हुए मसालेका है। यदि उस कांचसे वह मसाला दूर कर दिया जाय, तो फिर उस निर्मल कांचमें यह शक्ति नहीं रहती कि वह सामने बैठे हुए पुरुषके आकार एवं चेष्टाको अंकित कर सके। इसीप्रकार आत्माके जिससमय जैसे जैसे मन-वचन-कायके व्यापारसे शुभ-अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, आनेवाले कर्मोंमें उससमय वैसा वैसा ही फलदानशक्तिके रसका तारतम्य अंकित हो जाता है। जिससमय कोई पुरुष किसीको मारनेके परिणाम करता है, उससमय उन आनेवाले कर्मोंमें उसी जातिका रस पडता है, जिससे कि उन कर्मोंके उदय आनेपर उसे उसी जातिका फल मिलता है। अर्थात् किसीका भाव यह हो कि 'मैं अमुक पुरुषको मारूं, तो उससमय जो कर्म उस आत्मामें बँध रहा है, उसमें वही रसशक्ति पड चुकी है कि उस कर्मके उदयमें वह भी दूसरेसे मारा जायगा। जो दूसरेको सताता है, वह दूसरों-द्वारा सताया जाता है और जो दूसरोंकी भलाई करता है, वह दूसरों-द्वारा भलाई पाता है। इसका तत्त्व ढूंढनेसे यही कर्मसिद्धांतका रहस्य मिलता है कि जो जैसा भाव करता है, उस

भावका असर उसके कर्मपर वैसा ही पडता है। इसलिये फलकाल प्राप्त होने पर उस व्यक्तिको अपने कर्तव्यके अनुसार फल भोगना पडता है। कर्मोंमें ऐसी रसशक्ति क्यों पडती है? इसका कारण आत्मा पर लगा हुआ कषायभाव रूपी मसाला है। जबतक वह मसाला आत्मारूपी काच पर लिपटा हुआ है, तबतक उसके कर्तव्य-द्वारा संचित किये गये कर्मों पर उसका वैसा असर पडता है, जिससमय वह कषायरूपी मसाला आत्मा-रूपी कांचसे दूर हो जाता है, उससमय आत्माका कर्मों पर कोई असर नहीं पडता और न कर्मोंका ही आत्मा पर कोई असर पडता है। उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि जीव और कर्मका परस्पर ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध है कि जिससे एकका दूसरे पर प्रभाव पडाहुआ है। जिसकी शक्ति प्रबल होती है, वही अपने बलसे दूसरे पर आक्रमण कर उसे नष्ट करनेका प्रयास करता है। इसीलिये कभी आत्मा पर कर्मकी विजय होती है, और कर्मभार हलका होने पर कभी आत्माकी कर्म पर विजय होती है। ऐसी संतति तबतक चलती रहती है, जबतक कि आत्मा अपने स्वभावसिद्ध पुरुषार्थबलसे उस परवस्तु—कर्मको अपनेसे जुदा नहीं कर देता।

अज्ञानी जीवोंकी समझ।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥ १४॥

अन्वयार्थ—(एव) इसप्रकार (अयं) यह जीव (कर्मकृतैः) कर्मकृत रागादिक एवं शरीरादिक (भावैः) भावोंसे (असमाहितः अपि) सहित नहीं है तो भी (बालिशानां) अज्ञानियोंको (युक्त इव) 'उन भावोंसे' सहित सरीखा (प्रतिभाति) मालूम होता है, (सः) वह (प्रतिभासः) प्रतिभास—समझ वा प्रतीत (खलु) निश्चयसे (भवबीज) संसारका कारण है।

विशेषार्थ—जीवके रागद्वेषादिक भाव वास्तवमें शुद्धभाव नहीं हैं; पर-निमित्तसे होनेवाले भाव हैं। उपचरित सद्भूतव्यवहारनयसे उन्हें जीवके भाव कहा जाता है; कारण वे जीवकी ही अशुद्ध पर्याय हैं, पुद्गलकी नहीं हैं, पुद्गलके निमित्तसे होती हैं। शुद्धदृष्टिसे जीव न रागी है, और न द्वेषी है—वीतरागी है। इसीप्रकार शरीरादिकसे भी वह पृथक् है, पुत्र-मित्र-स्त्री-बहन-भाई-पिता-माता आदि कुटुम्बियोंसे एवं धन-धान्यादि बाह्यपदार्थोंसे तो सर्वथा जुदा ही है। ऐसी अवस्थामें, समस्त वैभाविकभाव और पर-पदार्थोंसे जुदा होनेपर भी, मोही जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) समझता है कि रागद्वेषादिक जीवसे जुदे नहीं हैं, वे जीवके ही निजी भाव हैं। वह शरीर तथा कुटुम्बियोंको भी अपना ही समझता है। यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे ज्ञानी जीव भी रागद्वेषादिकको जीवकृत भाव कहता ही है एवं शरीरादिकको अपना बतलाता ही है, परन्तु वह वास्तवमें जुदा ही समझता है। उसके श्रद्धानमें यह दृढ विश्वास है कि ये सब विकृतभाव जीवके निजभाव नहीं हैं—जीवके निजभाव शुद्धज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-चारित्र आदि हैं। जीव अमूर्त आकाशके समान निर्मल है, ये सब परकृत भाव हैं। मिथ्यादृष्टि वैसा नहीं समझता, उसका यह श्रद्धान है कि 'वास्तवमें ही जीवके ये भाव हैं। और ग्यारहवां बारहवां और तेरहवां चौदहवां, ये गुणस्थान आत्माके ही निजधर्म हैं; आत्मा इन गुणस्थानस्वरूप ही है' आदि। परन्तु शुद्ध दृष्टिसे यह सब विचार अज्ञान है। कारण आत्माके न ग्यारहवां गुणस्थान है और न बारहवां, न वह अर्हंत है और न मुक्त, न उसके संसार है और न मोक्ष। ग्यारहवां, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान आदिक भी कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम-जनित जीवके भाव हैं। अन्यथा अर्हंत तीर्थंकर कैसे कहे जाते हैं; तीर्थंकरप्रकृतिके उदयसे ही तो तीर्थंकर कहे जाते हैं। इसलिये वह तीर्थंकरकर्मोदय-

जनित जीवकी अवस्था है। उसे जीवका निजभाव नहीं समझना चाहिये। यदि वह जीवका निजभाव होता, तो सिद्धोंमें भी पाया जाता, परन्तु अज्ञानी जीव तीर्थंकर-पर्यायको जीवकी निजपर्याय समझते हैं। यह सूक्ष्म अज्ञान वा मिथ्यात्व अनेक धार्मिक श्रद्धालु पुरुषोंके लगा रहता है, वे वस्तुस्वरूपके अंतस्तत्त्व पर नहीं पहुंच सके हैं। ऐसा सूक्ष्म अज्ञान भी द्रव्यलिंगीके हो सकता है। जिनके तीव्र एवं प्रगाढ मिथ्यात्व है, वे स्थूल कर्मकृत भावोंको जीवके समझ रहे हैं, जैसे कि आर्यसमाजी आदि कुछ मतावलंबी क्रोध-मान-माया-लोभको मुक्त अवस्थामें मानते हैं। वे कहते हैं कि 'जिसप्रकार ज्ञानादि जीवमें पाये जाते हैं, वैसे क्रोधादि भी जीवमें ही पाये जाते हैं; इसलिये ज्ञानादिके समान क्रोधादि भी जीवके भाव हैं।' परंतु यह उनका कहना सर्वथा मिथ्यात्व है और स्थूल मिथ्यात्व है। कारण ज्ञानादिकमें पर-निमित्तकी आवश्यकता नहीं है, वे जीवसे कभी भिन्न नहीं हो सकते, और सदाकाल रहते हैं, परंतु क्रोधादिक भिन्न भी हो जाते हैं और सदाकाल रहते भी नहीं हैं। अनेक जीव ऐसे हैं जिनके क्रोधादि शांत हो चुके हैं, अनेक ऐसे हैं जिनके कषाय कभी नहीं उत्पन्न होती। अनेक ऐसे भी हैं जिनके कषाय सर्वथा नष्ट हो चुकी है। क्रोधादिक पर-निमित्तसे होनेवाले भाव हैं, कारणके नाशमें कार्यका नाश अवश्यंभावी है।

यदि क्रोधादिक भाव आत्मीयभाव होते, तो उनकी वृद्धिमें आत्माकी उन्नति समझी जाती; जैसे ज्ञान और चारित्रकी वृद्धिमें आत्माकी उन्नति समझी जाती है। फिर, जैसे किसीको विशेषज्ञानी या संयमी देख कर यह कहा जाता है कि 'धन्य है आपकी विद्वत्ताको, धन्य है आपकी विरागताको' इसी प्रकार क्या किसीको विशेष-क्रोधी या मानी देखकर यह कहाजाता है कि 'धन्य है आपके क्रोधीपनको,

धन्य है आपके मानीपनको' ? नहीं, संसारमें सभी समझदार क्रोधादिकी निंदा करतेहुए ही पाये जाते हैं, कोई विवेकी ऐसा देखनेमें नहीं आता जो क्रोधी मानी मायावी एवं लोभी पुरुषोंकी प्रशंसा करता हो। विकारभाव कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकते। जो क्रोधादिको जीवके शुद्धभाव बतलाते हैं, वे भी क्रोधी मानी पुरुषोंकी निंदा ही करते हैं। इतना ही नहीं, किंतु अपनेको शांत एवं रागद्वेष-रहित कहतेहुए महत्त्वशाली समझते हैं और उसकी पुष्टि भी करते हैं कि 'देखो! हमें क्रोध कभी नहीं आता, हम बिलकुल मानी नहीं हैं, हमारे मायाचार नहीं है, हम लोभी नहीं हैं!' इसप्रकार क्रोधादिकोंको आत्माके निजीभाव बतलानेवाले पुरुष अपने आप ही अपने सिद्धांतका खंडन करते हैं। एक बात यह भी है कि जो वस्तु निजकी होती है, वह अधिक अथवा अल्परूपमें अपने पास रहती है। यदि क्रोधादिक भाव जीवकी निजकी वस्तु होती, तो क्रोध करनेवाला सदाकाल अधिक या थोडेरूपमें क्रोधी ही रहता; परंतु वैसा नहीं है। थोडी देरके लिए क्रोध आया, फिर शांत हो जाता है। बराबर कभी क्रोध किसी जीवके नहीं देखा जा सकता; किसी कालमें है, किसी कालमें सर्वथा नहीं। ज्ञान वैसा नहीं है, वह सदा ही रहता है; चाहे अधिकरूपमें रहे, चाहे स्वल्परूपमें रहे। इसलिए सिद्ध होता है कि जो वस्तु अपनी निजकी है, वही सदाकाल ठहर सकती है। और जो परनिमित्तसे होती है, वह परनिमित्त रहने तक ही रह सकती है; आगे नहीं। शरीरादिक तो जड हैं, वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। अनेक मिथ्यादृष्टि शरीरको आत्मीय वस्तु समझकर उसकी रक्षाके लिए हरप्रकारके अनर्थ करने लग जाते हैं। जीव-हिंसा करनी पडे तो उसे भी करनेके लिये तयार हो जाते हैं। यह सब गाढ मोही जीवोंका भाव है। यदि निश्चयदृष्टिसे विचार किया जाय तो आत्मा कर्मबंध होनेपर भी मूर्त नहीं होता, वह सदा अपने स्वरूपमें ही रहता है।

मिथ्यादृष्टि जीव कर्मकृत भावोंको जीवके भाव समझते हैं, उनकी यह समझ एवं उनका वैसा श्रद्धान संसारका बीज है। जिन भावोंसे संसारमें घुमानेवाले कर्मोंके बंध हों, उन्हें 'संसारका बीज' कहा गया है। आत्मासे भिन्न पर-पदार्थोंको आत्माके समझना एवं वैसा श्रद्धान करना, यही भाव संसारको बढाने-वाला है। ऐसा विपरीतभाव मिथ्यादृष्टि जीवोंके ही होता है, सम्यग्दृष्टियोंके नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव तो कीचडमें सनेहुए सोनेको मलिनभावसे नहीं देखते, किंतु कीचडको केवल बाह्योपाधि समझ कर सोनेको सदा पीतादिगुण-युक्त शुद्ध सोना ही समझते हैं। लाल पुष्प (जवाकुसुम)-के पृष्ठभागमें लगा देनेसे स्फटिक लाल दीखने लगता है, परंतु जाननेवालेको वह स्वच्छ धवल एवं निर्मल स्फटिक ही प्रतीत होता है; लालपुष्प केवल बाह्योपाधि प्रतीत होता है। जाननेवाला पुष्पके निमित्तसे स्फटिकमें आई हुई रक्तताको स्फटिककी रक्तता नहीं समझता, किंतु पुष्पकी रक्तता समझता है। स्फटिकको वह स्वच्छनिर्विकार ही देखता है। ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको, कर्मबंधन सहित होनेपर भी, अमूर्त वीतराग एवं सर्वज्ञ ही जानता है और वैसा ही श्रद्धान करता है। वही श्रद्धान मुक्तिका कारण है; मिथ्यादृष्टिका इससे विपरीत है और वह संसारका कारण है।

पुरुषार्थसिद्धिका उपाय।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(विपरीताभिनिवेशं) विपरीत श्रद्धानको (निरस्य) दूरकर (निजतत्त्वं) अपने स्वरूपको (सम्यक् व्यवस्य) अच्छीतरह समझकर (यत्) जो (तस्मात्) उस निजस्वरूपसे (अविचलनं) चलायमान

नहीं होना है, (स एवं अयं) वह ही यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय है।

विशेषार्थ—जबतक मिथ्याप्रतीति अथवा मिथ्याश्रद्धानका जीवके उदय रहता है, तबतक उसे निजरूपका यथार्थज्ञान होता ही नहीं है। इस मिथ्यादर्शनके उदयमे जीवोंके अनेकप्रकारके परिणाम हो रहे हैं। कोई तो हितमार्ग ही नहीं पहचानते, कोई हितमार्ग तक पहुंच भी जाते हैं, फिर भी संशयके झूलामें झूलते रहते हैं। 'इससे हित होगा या नहीं' ऐसी संशयबुद्धि उनका हित नहीं होने देती। कोई विपरीत मार्गको ही हितमार्ग समझ कर अपना और दूसरे जीवोंका अकल्याण कर रहे हैं। कोई वस्तुस्वरूपके एकदेशका ज्ञान कर उसे ही सम्पूर्ण वस्तुका स्वरूप समझ, उसी पर एकांतरूपसे दृढ बन हठवादी बन बैठे हैं। कोई कोई तत्त्व-परीक्षामें असमर्थ होनेके कारण हरएक देवकी पूजा करते फिरते हैं। ऐसे लोगोंका मत है कि 'शिवके मंदिरमें भी नमस्कार करनेसे कुछ-नकुछ लाभ हो जायगा, कृष्ण-मंदिरमें भी नमस्कार करनेसे कुछ-नकुछ लाभ हो जायगा। दिगम्बर मुनिको नमस्कार करनेसे लाभ होगा, तो श्वेताम्बर यतिको भी नमस्कार करनेसे लाभ होगा।' इसप्रकारकी विनयबुद्धिसे वे हरएक मतके मानेहुए देवकी उपासना करते फिरते हैं, गंगा-जमुनामें धर्म समझ कर स्नान भी करते हैं, पीर-पैगम्बर, भैरों-भवानी, माता-पथवारी आदि सभी पत्थरों और सांकेतित स्थलोंको सिर झुकाते फिरते हैं। ऐसे ऐसे मिथ्यात्वभावोंसे यह संसारी जीव ठगा जा रहा है। जबतक मोहभाव मंद नहीं होता, तबतक मतवालेके समान अज्ञानभावोंमें तन्मग्न रहता है। जिससमय कर्मका भार कुछ हलका होता है, उससमय जीवका मोहभाव शांत होता है, उसीसमय सद्गुरु आदिकेसदुपदेशसे इस जीवको सुबुद्धि उत्पन्न होती है। तभी यह निजतत्त्व निजस्वरूपको पहचानता है; निजरूपको समझ कर उसीका

श्रद्धान करनेका नाम 'सम्यक्त्व' है। आत्माके शुद्धरूपको पहचान कर उस पर प्रतीति करनेसे आत्मा मोक्षमार्ग पर आरूढ हो जाता है। इसलिए उस प्रतीतिको ही पुरुषार्थसिद्धि—मोक्षसिद्धिका उपाय बताया गया है। अर्थात् जब आत्मासे मिथ्यापरिणति हट जाती है, तब आत्मा निजस्वरूपमें दृढश्रद्धालु बन जाता है, उस दृढश्रद्धानसे वह कभी विचलित नहीं होता। आत्माके उसी भावको सम्यक्त्व कहते हैं; उसीका नाम पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् जीवकी मोक्षसिद्धिका उपाय—मार्ग है। जिससमय आत्मामें सम्यक्त्वगुण उत्पन्न होता है, उसीसमय ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है। अर्थात् आत्मा जिससमय अपने स्वरूपमें प्रतीति करता है, उसीसमय वह उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप जीवका बोध करने लगता है और अपनेमें स्वयं लीन हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र, तीनों ही गुण (रत्नत्रय) मोक्षमार्ग कहलाते हैं। इसीका दूसरा नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है।

मुनियोंकी अलौकिक वृत्ति।

अनुसरतां पदमेतत् करंविताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्) इस (पदं) पदको (अनुसरतां) अनुसरण करनेवाले अर्थात् रत्नत्रयको प्राप्त हुये (मुनीनां) मुनियोंकी (करंविताचार नित्यनिरभिमुखा) पापमिश्रित आचारसे सदा पराङ्मुख (एकांतविरतिरूपा) सर्वथा त्यागरूप (अलौकिकी वृत्तिः 'भवति') लोकको अतिक्रम किये हुये वृत्ति होती है।

विशेषार्थ—इससे पहले श्लोकमें पुरुषार्थसिद्धिका उपाय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको बतलाया गया है। इस श्लोक-द्वारा यह बतलाते हैं, कि इस रत्नत्रयको पूर्णतासे धारण

करनेवाले श्रीमुनिमहाराज होते हैं, उनकी प्रवृत्ति लोकमें विलक्षण–जुदी अर्थात् लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाली होती है। उनकी प्रवृत्तिमें दोष-सहित आचारका लेश नहीं होता, निर्दोष पूर्णचारित्र-सहित ही उनकी प्रवृत्ति होती है । ऐसी निर्दोष प्रवृत्ति होनेका भी यह कारण है कि उनकी प्रवृत्ति सर्वथा त्यागरूप होती है। जिस प्रवृत्तिमें सर्वथा त्याग नहीं है किंतु एकदेश त्याग है, वही प्रवृत्ति सदोष हो सकती है। एकदेश त्यागमें न तो पूर्ण संयम है, और न पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन ही होता है। इसलिये वहां सकषाय आस्रवका ग्रहण होता रहता है। अनेक अनाचारोंका समावेश होता रहता है। मुनियोंका त्याग मनवचनकाय–कृत-कारित-अनुमोदना इन नव भेदोंसे ही होती है। इसलिए वहां अत्यंत मंदरूप सकषाय आस्रव होता है। आगे चलकर ईर्यापथ आस्रव होने लगता है। इसीलिये मुनियोंकी प्रवृत्ति, उनके महा उज्वल परिणाम, लोकसे उत्तर और चमत्कार उत्पन्न करनेवाले होते हैं। मुनियोंके परिणाम सदा निर्मल एवं ध्यानस्थ रहते हैं । मुनिमहाराज न किसीपर रोष करते हैं, न किसीपर प्रेम करते हैं। जो उन्हें कटुवचन कहते हैं, उन्हें भी वे वीतराग परिणामोंसे देखते हैं, और जो उनकी पूजा करते हैं, उन्हें भी वे उसी वीतरागदृष्टिसे देखते हैं। न उन्हें तलवार-प्रहारसे भय है और न उपासनासे अनुराग है—जगत्के समस्त पदार्थोंमें उदासीनता है। त्रस और स्थावरोंकी सदा रक्षा करते हैं, अयाचकवृत्तिसे आहार ग्रहण करते हैं। चाहे कितने ही दिन आहार क्यों न मिले, परंतु वे अयाचकवृत्ति एवं निरंतराय-रूपसे ही उसे लेंगे; अन्यथा कदापि नहीं । कितनी ही कठोर शारीरिक बाधा क्यों न हो, वे कदापि

(१) मन-कृत, वचन-कृत, काय-कृत, मन-कारित, वचन-कारित, काय-कारित, मन अनुमोदित, वचन-अनुमोदित, और काय-अनुमोदित; इस प्रकार नवभेद हैं।

किसीसे उसे दूर करनेके लिये नहीं कहते, और न स्वयं दूर करते हैं। बाह्यमें नग्न दिगम्बर स्वरूप-द्वारा, अंतरंगमें ध्यानद्वारा सदा कर्मोंको नष्ट करते रहते हैं। ध्यानकी सिद्धि और वृद्धिके लिये कभी चातुर्मास एवं शीतकालमें नदीके किनारे ध्यानमें मग्न हो जाते हैं और कभी सूर्यके प्रचण्ड आतापसे तपनेवाली ग्रीष्म ऋतुमें अग्निमें दियेहुए लोहेके समान तपेहुए उन्नत पर्वतकी चोटीपर ध्यान लगाते हैं। कोई कितने ही घोर उपसर्ग क्यों न करे, उनका परिणामरूपी सुमेरु आत्मध्यानसे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता और न उपसर्ग करनेवालेपर रंचमात्र खेद प्रगट करते हैं, किंतु समझते हैं कि कर्मोंका भार हलका किया जा रहा है। वास्तवमें मुनिमहाराज कर्मोंसे युद्ध करते हैं। जिसप्रकार एक राजा अनेक योद्धाओंके बलसे दूसरे राजापर विजय पाता है उसीप्रकार श्रीमुनिमहाराज पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच समिति, इन्द्रिय-दमन, कषाय-निग्रह, दशधर्म आदि अनेक महापराक्रमी योद्धाओंके बलसे चिरकालके शत्रु कर्मराजपर विजय पाकर मोक्षमहलमें सदाके लिये निराकुलतासे निवास करते हैं। इसप्रकारकी शूरवीरता उन कर्म-विजयी मुनियोंमें ही पायी जाती है; इसलिए वे ही साक्षात् मोक्षलक्ष्मीके स्वामी बननेके पात्र हैं। इसीसे उनकी अलौकिकवृत्ति बतलायी गयी है।

एकदेश व्रतका उपदेश किसे देना ठीक है?

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(बहुशः) अनेकबार (प्रदर्शितां) दिखलायी गयी (समस्तविरतिं) सर्वथा त्यागरूप मुनियोंकी महावृत्तिको (यः) जो पुरुष (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) नहीं ग्रहण करता है, (तस्य)

उस पुरुषके लिये (एकदेशविरति) एकदेश त्यागका उपदेश (अनेन बीजेन) इस बीजसे–इस हेतुसे–नीचे लिखेहुए हेतुसे (कथनीया) कहना चाहिये।

विशेषार्थ—जो पुरुष उपदेश ग्रहण करनेका पात्र है, उस पुरुषको सबसे पहले ऊंची श्रेणीका अर्थात् मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिए। कारण, आत्माओंमें सबसे ऊंचे मार्ग पर जानेकी शक्ति विद्यमान है, आवश्यकता केवल उत्तेजनाकी है। जहां आदर्श संयमियोंका उत्तेजनापूर्ण सदुपदेश मिला कि चट आत्माओंका ऊंचा सुधार हुआ। मुनिवृत्ति एवं सकलचारित्र धारण करनेके लिये किसीको किसीसे कुछ चाहना नहीं करनी पडती, किसी सामग्रीकी योजना नहीं करनी पडती। चारित्र आत्माका निजतत्त्व है, वह प्रत्येक आत्मामें विद्यमान है। परन्तु मोहवश प्रगट नहीं है, कर्मोंसे ढका हुआ है। जब किसी सदुपदेष्टाका निमित्त मिला, अथवा सत्समागमकी प्राप्ति हुई, तभी उस निमित्तको पाकर आत्माएँ कठिनसे कठिन चारित्र धारण करनेके लिए तत्पर हो जाती हैं। जिन पुरुषोंने स्वप्नमें भी सम्भावना नहीं थी कि इतने कठिन तपस्वी बन सकेंगे, उनकी प्रवृत्तिने संसारको यह उपदेश दे दिया है कि जबतक जीवके साथ मोह-माया है, तभी तक उसका सुधार दूर है; जहां निमित्त पाकर मोहमाया भगी, फिर उसका सुधार स्वयं उसके समीप दौडा हुआ आता है। स्वामी सुकुमालकी कथा कितनी हृदयद्रावक है, यह बात उस कथाके जाननेवाले जानते हैं। कहां तो उनमें इतनी कोमलता कि–माताके द्वारा आरती उतारते समय दीपककी चमकसे उनके आंसू निकल रहे हैं, ऊपर फेंके हुए सरसोंके दाने शरीरमें चुभ रहे हैं, जिन्होंने कभी महलसे बाहर जानेके लिए एक डग (पैर) भी नहीं रक्खा है, सदा पुष्पोंकी शय्या पर आराम किया है, कभी सूर्यकी धूप देखी भी नहीं है और सदा रत्नोंके समुज्वल

एवं शांत प्रकाशमें ही कार्य किया है; उन्हीं स्वामी सुकुमालकी कहां इतनी कठोरता कि—जिसे कठोरसे-कठोर पुरुष भी, धारण करना तो दूर रहा, सुनकर ही सकम्प होने लगे! जिन हाथोंसे कभी कठिन वस्तुका स्पर्श भी नहीं किया, उन्हीं कोमलातिकोमल हाथोंसे डोरी पकड़कर सहसा गगनस्पर्शी महलसे नीचे उतर आना! जिन कोमल चरणोंका कभी कठोरभूमिसे स्पर्श भी नहीं हुआ, उन्हींसे कंकरीली-पथरीली ऊंची-नीची भूमिसे व्याप्त दुर्गम मार्गोंसे भयानक जंगलमें चले जाना! अहा! जिनका शरीर पुष्पोंके पिछलेभागमें रहनेवाले डंठुलों (बूंगों) को भी सहन नहीं कर सका, उन्हींके पुष्पोंसे भी कोमल शरीरको थोडा-थोडा करके सियालिनी और उसके पांच-सात बच्चे भक्षण कर रहे हैं! और स्वामी सुकुमालका सुमेरुसम आसन रंचमात्र भी सकम्प नहीं हुआ है! एक घण्टा, दो घण्टा, या एकदिन भी नहीं, किंतु तीनदिन तीनरात बराबर इसी घोरातिघोर उपसर्गको जिन्होंने परम-शांतिसे एवं वीतराग-परिणामोंसे सहन किया, वे स्वामी सुकुमाल धन्य हैं! वास्तवमें कर्मोंका विजय कर सदाके लिए जन्म-मरण-रोग-शोक आदि दुःखोंकी बाधासे छूटनेके लिए, ऐसी ही परमवीर महा-गंभीर शूरवीर आत्माएँ समर्थ हैं। तप करना खेल नहीं है, उसका करना लोहेके चनोंका चबाना है। यदि तपश्चर्या सुगम हो, तो हर-एक प्राणी सुगमतासे मोक्ष-महलमें जा सकता है; परन्तु नहीं, मुक्ति-वधूका वही स्वामी बन सकता है जो अपनी आत्माको ध्यानाग्निके प्रज्वलित एवं महाभयंकर अग्नि-कुण्डमें शीलव्रतकी तपश्चर्या करनेवाली सीतादेवीके समान डाल देता है। परन्तु तपश्चर्या महाकठिन होनेपर भी साहसी एवं धर्मपरायण आत्माओं-द्वारा साध्य भी तुरन्त की जाती है। क्या कोई स्त्री अग्निकुण्डमें कूदनेके लिये सहसा तयार हो सकती है? परन्तु सीता जैसी सतियोंको अग्निकुण्डमें

कूदना कोई कठिन बात भी नहीं है ! क्या स्वामी सुकुमालमे ऐसे घोर तपश्चरण एवं उपसर्ग सहन करनेकी कोई कल्पना भी कर सकता था ? नहीं, परंतु उन्हीं स्वामी सुकुमालने मुनिमहाराजका उपदेश मिलने पर शरीरसे सर्वथा ममत्व छोड दिया, फिर उन्होंने कोमलता और कठोरताको अपनी वस्तु समझा ही नहीं। इस कथनका यही प्रयोजन है कि आत्माओंमें अचिन्त्य शक्तियां विद्यमान हैं; केवल उन्हें व्यक्त करनेके लिये उत्तेजक उपदेश तथा आदर्शपुरुषोंके समागमकी आवश्यकता है। फिर उनके सुधारमें कुछ देर नहीं लगती।

एक बात यह भी है, कि प्रारंभमें जीवोंको ऐसा ही उपदेश बारंबार देना चाहिये जिससे कि वे मोक्षके अभिलाषी बन कर साक्षात् मुनिपद धारण करनेके लिये उद्यत हो जांय। जहां एकबार उनमें वैसे भाव जागृत होगये, फिर झट बेडा पार है। वास्तवमें सदुपदेश वही हो सकता है जो पूर्ण सुधारका कारण हो। इसलिये सबसे प्रथम जीवोंको मुनिधर्मका ही उपदेश देना योग्य है। यदि एकबारके उपदेशमे वे मार्ग पर नहीं आसकें तो दूसरीबार, तीसरीबार चौथीबार एवं दश-बीसवारमें तो पूर्ण मार्गपर चलनेके लिये समुद्यत हो ही जांयगे। जो अनेकोंवार उपदेश मिलने पर भी मुनिपद धारण करनेमें असमर्थ हैं, उस साहसहीन निर्बल आत्माको एकदेश त्यागरूप श्रावकधर्मका उपदेश देना ठीक है।

कुछ लोगोंकी ऐसी शंकाएँ सुनी जाती हैं कि 'पहले नीचे दर्जेका ही उपदेश देना ठीक है; यदि पहलेसे ही ऊंचे दर्जेका उपदेश दे दिया जायगा, तो वह पात्र घबडा जायगा अथवा ऊंचे दर्जेके मार्गको पकड कर उसे छोड देगा; वैसी अवस्थामें उसका थोडा सुधार भी नहीं हो सकेगा ?' ऐसी शंकाओंके करनेवालोंको इस बातपर भी थोडी देर विचार करना चाहिये कि आचार्योंने ऐसी कथनपद्धति क्यों

बतलायी ? उनकी अनुभवपूर्ण इस उपदेशपद्धतिमें भी कोई भीतरी रहस्य अवश्य होगा। जिन्होंने अपना समस्त जीवन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके उपार्जनमें लगा डाला है, जिन्होंने आत्माओंका सच्चा सुधार किस पथसे एवं किन-किन कठिनाइयोंके मार्गसे होता है' इस बातको सुन कर ही नहीं किंतु अपने आत्माको स्वयं उन मार्गोंमें ले जाकर स्वानुभवसे जाना है, फिर 'सच्चा सुधार क्या है और उसका मार्ग किस रीतिसे होता है, किस प्रकारका उपदेश किस समय किस जीवके लिये हितकर है' इस बातको आचार्य जान सकते हैं ? या उस मार्गसे कोशोंदूर रहनेवाले एवं आत्मसुधारके स्वादसे रहित पुरुष जान सकते हैं ? शंकाकारोंको सोचना चाहिये कि यदि किसी पात्रको पहले ही जघन्यश्रेणीका उपदेश देकर उसका जघन्यरूपमें ही साहस बढाया जाय, तो फिर उसका साहस उसी जघन्य मार्गमें कार्यानुगामी बन जाता है। संसारी आत्माका यह स्वभाव सा (वास्तवमें विभाव) पड गया है कि वह आत्मीय सुधारमें प्रमाद करता है, परंतु सांसारिक वासनाओंमें विना उपदेशके भी प्रवृत्ति करता जाता है, यह एक कर्मकी ही विचित्रता है। ऐसी अवस्थामें यदि एकबार बडे साहस-पूर्वक आत्मीय सुधारकी ओर बढता है। फिर यदि उसे हलका मार्ग मिल जाता है, तो उसीमें वह रह जाता है; क्योंकि साहसकी मात्रा तो उपदेशकी प्रेरणासे उस क्षणमें जागृत हुई थी, सो तो अब रही नहीं, और प्रमाद तो सदासे लगा हुआ ही है; इसलिए फिर उससे आगे बढनेका मार्ग लम्बा पड जाता है। प्रारम्भकालमें ही जिससमय सांसारिक वासनाओंके कीचडसे निकलनेकी भावना करता है, उससमय ही उसे पूर्ण सुधारपर ले जानेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि पूर्ण-सुधारके मार्ग पर चला जाय, तब तो फिर उस उपदेशकी पूर्ण एवं महती सफलता कहना चाहिये। यदि वहांतक न भी जाय तो जघन्य मार्ग तो स्वयं पकड ही लेगा।

परन्तु पहलेसे ही जघन्यमार्गका उपदेश देनेसे, सम्भव है वह उसे भी न ग्रहण कर सके। यह एक स्वाभाविक बात लोकमें देखी जाती है कि किसीसे किसी वस्तुका त्याग कराया जाता है तो पहले उस निषेधनीय वस्तुके अवगुण (दोष) दिखाकर उसे सर्वथा छोडनेकी प्रेरणा की जाती है। उस प्रेरणासे कोई कोई महात्मा उस वस्तुका सर्वथा सदाके लिये त्याग कर देते हैं और कोई वैसा न कर उसे क्रम क्रमसे छोडते हैं। यही लोकमें उपदेश अथवा शिक्षणकी पद्धति है। उसी पद्धतिका उपदेश श्रीआचार्य महाराजने बतलाया है।

यह जो कहा गया है कि 'जिसकी थोडी शक्ति है, वह उच्चकोटिके व्रतादिक धारण नहीं कर सकता, करेगा तो छोड देगा; इसलिये उसे जघन्य उपदेश देना ही ठीक है' इसका उत्तर यह है कि थोडी शक्ति और अधिक शक्तिकी पहचान क्या है? शरीरकी कृशता स्थूलता? अथवा आत्माकी कमजोरी या बलवत्ता? शरीरकी कृशता स्थूलता तो महाव्रत धारण करने न करनेमें साधन नहीं है, क्योंकि कृश शरीरवाले भी महाव्रत धारण करतेहुए देखे जाते हैं, स्थूल शरीरवाले नहीं भी देखे जाते; अथवा स्थूल शरीरवाले भी महाव्रत धारण करतेहुए देखे जाते हैं, कृश शरीरवाले नहीं भी देखे जाते; इसलिये कृश अथवा स्थूल शरीरके साथ तो महाव्रत धारण करनेकी व्याप्ति नहीं है। शरीर संबंधमें तो इतना ही विचार आवश्यक है कि वह नीरोग है अथवा सरोग है? आंगोपांग ठीक कार्य करते हैं अथवा नहीं? मूल विचार आत्माकी कमजोरी अथवा बलवत्तासे है, सो आत्माकी कमजोरी या बलवत्ता स्थायी वस्तु नहीं है। जिस आत्मामें इंद्रियों एवं मनको दमन करनेकी पात्रता उत्पन्न कर दी जाती है, वही व्रत संयमको धारण करनेके लिये समुद्यत हो जाता है, और जो वैसा पात्र नहीं बनाया जाता, वही कमजोरी

प्रगट करता है । इसप्रकारकी कमजोरी उपदेश एवं आदर्श समागमसे दूर की जा सकती है । यदि उपदेशादिके द्वारा आत्मीय कमजोरी नहीं हटाई जा सके तो फिर जघन्यश्रेणीके उपदेशकी ही क्या आवश्यकता है? जिसप्रकार उपदेशकी शक्तिसे वह अव्रतीसे व्रती बना दिया जाता है, उसप्रकार महाव्रती क्यों नहीं बनाया जा सकता? यदि महाव्रती बननेकी पात्रता होनेपर देशव्रती बनाया जाय, तो उस आत्माकी कितनी भारी हानि है, इसे बुद्धिमान विचार लें। परंतु देशव्रतीकी पात्रता रहनेपर महाव्रती बननेका उपदेश दिया जाय तो उस आत्माकी कोई हानि नहीं है, प्रत्युतः लाभ है। संभव है, वह जगतके पदार्थोंसे उदास होकर एवं शरीरसे ममत्व छोडकर—जैसा कि आत्माका स्वभाव है—सहसा सर्वथा त्याग-वृत्तिपर आरूढ होकर उसी पर्यायसे सदाके लिये संसारबंधन तोड दे। इसलिये सबसे पहले मुनिधर्मका ही उपदेश देना न्याय्य एवं उत्तम मार्ग है ॥

दंडनीय उपदेश

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (अल्पमतिः) तुच्छबुद्धिवाला उपदेष्टा (यतिधर्मं) मुनिधर्मका (अकथयन्) उपदेश न देकर (गृहस्थधर्मं) गृहस्थधर्मका (उपदिशति) उपदेश देता है, (तस्य) उस उपदेशकको (भगवत्प्रवचने) सर्वज्ञप्रणीत सिद्धांतमें (निगृहस्थान) दण्डपात्र (प्रदर्शितं) कहा गया है।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांतमें उस उपदेशदाताके लिये प्रायश्चित्त अथवा दंडविधान है, जो कि पहले

किसीको मुनिधर्मका उपदेश न देकर गृहस्थधर्मका उपदेश होता है। वह दंडविधानका पात्र क्यों है? इसलिये है कि उसने आगमके विरुद्ध भाषण किया।

जैनागममें अन्य समस्त द्रव्योंका भी निरूपण है, परंतु आत्माका निरूपण प्रधानता एवं विशेषतासे किया गया है। उसका कारण भी यह बतलाया है कि जीवके लिये पुरुषार्थसिद्धि–मोक्षको छोडकर अन्य समस्त द्रव्य हेय हैं, इसलिये जीवकी सुधारणाके लिये ही अनेक प्रकारके उपाय जैनशास्त्रकारोंने प्रगट किये हैं। सबसे प्रथम तो उन्होंने अनादि मिथ्यादृष्टिके लिये देशनालब्धि नियमसे बतलायी है, अर्थात् बिना किसी साधु महात्मा अथवा सम्यग्दृष्टिके उपदेशके उस आत्माका मिथ्यात्व कभी छूट ही नहीं सकता। फिर उन्होंने मिथ्यादृष्टियोंके भी अनेक भेद बतलाए हैं। कोई तीव्र मिथ्यात्वी हैं, उन्हें उपदेशका अपात्र ही बतलाया है; गाढ मिथ्यादृष्टियोंको जितना भी उपदेश मिलेगा, वह सब समुद्रमें बरसे हुए जलके समान व्यर्थ ही जायगा। कुछ ऐसे मिथ्यादृष्टि बतलाये हैं जो अगृहीत मिथ्यात्वी हैं। कुछ गृहीत बतलाये हैं। जिन्होंने जन्मजन्मांतरसे मिथ्यात्व धारण कर रक्खा है अर्थात् जो बिना किसीके उपदेशके जन्मांतरसे ही मिथ्यात्वमय संस्कारोंको लेकर आते हैं, वे अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं और जो किसीके उपदेशसे मिथ्यात्वको ग्रहण करते हैं, वे गृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। उनमें भी कोई भद्र हैं, कोई अभद्र हैं। भद्र उन्हें कहते हैं जो अपने मतका–मिथ्यामतका तो सेवन करते हैं परंतु जैनधर्मसे विद्वेष नहीं करते किंतु उसमें रुचि रखते हैं; ऐसे जीवोंको सदुपदेश बहुत जल्दी सुधार देता है। कुछ उनसे भी ऊपर भद्रता रखते हैं जोकि मिथ्यामतमें रहतेहुए भी उस मतसे उपेक्षित–उदासीन हो चुके हैं और जिनधर्ममें विशेष रुचि रखते हैं। ऐसे पुरुषोंके लिये उपदेशका निमित्त मिलना अमोघ-

शक्तिका काम करता है। अभद्र पुरुषोंको उपदेश पहले तो प्रभावक ही नहीं होता, होता भी है तो अत्यंत विलंबसे। इसप्रकार आचार्योंने उपदेशपात्रोंके अनेक सूक्ष्मभेद बतलाये हैं, साथ ही परिणामोंका तर-तमरूप कोटियोंको भी अत्यंत सूक्ष्मतासे बतलाया है। पात्र अपात्रका ही ध्यान रखकर उन्होंने देशना उपदेशका मार्ग बतलाया है। यदि कहा जाय कि आचार्योंने जीवोंकी सामर्थ्यका विचार नहीं करके ऊंची श्रेणीके उपदेशका विधान किया है, तो यह कहना अयुक्त है; क्योंकि उन्होंने सामर्थ्यका सीमातीत विचार किया है, इसीलिये उन्होंने गाढ मिथ्यादृष्टियोंको उपदेशका एकदम अपात्र ही बतला दिया है। यदि उनका लक्ष्य ऊंचा उपदेश देना ही होता, तो वे गाढमिथ्यात्वियोंको उपदेशका अपात्र क्यों कहते? इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने पात्र अपात्रका पूर्ण विचार किया है। फिर भी उपदेश देनेका क्रम यही रक्खा है कि पहले उच्चश्रेणीका उपदेश दिया जाय, पीछे जघन्यश्रेणीका दिया जाय। जब कि जैन-सिद्धांतने अनादि-मिथ्यादृष्टिके सुधारके लिए उपदेश देना नियमसे कारण बतलाया है, तो उसमें जो उपदेशक्रमका विधान किया है वह भी नितांत आवश्यक है। जैसे बिना उपदेशके अनादि-मिथ्यादृष्टि कभी सुधर नहीं सकते, वैसे उपदेशक्रमविधानमे विपरीत क्रम रखनेमे भी जीवोंके सुधारमें बडी भारी हानि होती है। इसीलिये आर्षग्रंथोंमें विरुद्धक्रमसे कहनेवाले उपदेष्टाओंको, चाहे वे किसी पदस्थवाले क्यों न हों, प्रायश्चित्त लेनेका—दंडग्रहण करनेका पात्र कहा गया है॥ १८॥

क्रमरहित उपदेशमें क्या हानि होती है?

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥ १९॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कारणसे (तेन) उस (दुर्मतिना) दुर्बुद्धिके (अक्रमकथनेन) क्रम-विरुद्ध उपदेश देनेसे (अतिदूरं) अत्यंत अधिक (प्रोत्सहमानः अपि) बढे हुए उत्साहवाला भी (शिष्यः) शिष्य–उपदेशका पात्र (अपदेअपि) जघन्यश्रेणीमें ही (संप्रतृप्तः) सन्तुष्ट होता हुआ (प्रतारितः) ठगाया (भवति) जाता है।

विशेषार्थ—जैनग्रन्थोंके मनन करनेसे विदित होता है कि जिससमय किसी पुरुषको किसी निमित्त-से अत्यंत तीव्र वैराग्यकी मात्रा जागृत हो उठती है, उससमय आचार्य उसकी सामर्थ्यका परिज्ञान करके उसे तत्काल कमण्डलु और पिच्छिका दे देते हैं। यदि कमंडलु और पिच्छिका देनेमें वे विलम्ब करें तो जिस पुरुषके किसी निमित्तको पाकर वैराग्य-परिणाम उत्कट हो उठे हैं, वे परिणाम फिर उसके वैसे नहीं रह सकते। एकबार संयम धारण करा दिया जाय तो फिर वह आत्मा पदस्थके अनुसार महाव्रतोंका पालन करता ही है। इसीलिये आत्माओंके सुधारकी पूर्ण भावना रखनेवाले आचार्य लोकोपकारकी दृष्टिसे अपने संघमें कमंडलु और पिच्छिका भी अधिक रखते हैं। काललब्धिका आना और साथ ही साधनोंकी प्राप्ति होना, उस आत्माके सुधारका मार्ग है। यहांपर शंका हो सकती है कि 'अपने कार्यमें आनेवाले पीछी कमंडलुसे अधिक पीछी-कमंडलुका रखना आचार्योंके लिये उचित है क्या? क्या वह परिग्रहमें शामिल नहीं है?' उत्तर—नहीं है। जिसप्रकार अपने कार्यमें आनेवाले पीछी-कमंडलु परि-ग्रहमें नहीं शामिल हैं, क्योंकि उनसे संयमका पालन किया जाता है। इंद्रियोंके विषय एवं शरीरके आराम देनेवाले पदार्थ परिग्रहमें परिगणित किये जाते हैं। जो केवल संयमके साधक हैं, वे परिग्रह नहीं कहे जा सकते। हां, यदि उनमें भी मूर्छाबुद्धि मुनियोंकी हो तो पीछी कमंडलु भी परिग्रहमें समझना चाहिये।

परंतु मुनियोंकी उनमें तनिक भी मूर्छा (ममत्वभाव) नहीं है। यदि उन्हें कोई ले जाना चाहे तो भले ही ले जाओ, उन्हें उनका रंचमात्र भी खेद नहीं होता; इसलिये जैसे अपने कार्यमें आनेवाले पीछी कमंडलु परिग्रहमें शामिल नहीं हैं, उसीप्रकार दूसरे पुरुषोंको दीक्षा देनेके लिये लोकोपकार-दृष्टिसे रक्खे हुए पीछी-कमंडलु भी परिग्रहमें शामिल नहीं है। उनसे भी तो संयमकी ही रक्षा होनेवाली है।

उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि आचार्योंकी दृष्टि जीवोंको संसारपंकसे निकालनेकी है, इसीलिए वे किसी पुरुषको संसारसे उदास देखकर तत्काल दीक्षा देकर उसको मुनिपदमें आरूढ बना देते हैं। उनका लक्ष्य सदा आदर्श मार्गपर रहना है। श्रावकधर्म पापास्रव-सहित है, आरंभ परिग्रहसहित है; इसलिये उससे आत्माका पूर्ण कल्याण नहीं हो सकता, चरम उन्नति नहीं हो सकती। चरम उन्नतिका मार्ग मुनिधर्म ही है। इसलिये आचार्य एवं मुनि संसारी आत्माओंको उसी मार्गका उपदेश देते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'सच्चा सुख कहांपर है?' तो उत्तर मिलेगा—मोक्षमें। 'मोक्षकी प्राप्ति किससे होती है?' उत्तर मिलेगा—रत्नत्रयकी पूर्णतासे। इसलिये इन प्रश्नोत्तरोंसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि पहले ऊंचा एवं अंतिम ध्येय ही सामने रक्खा जाता है। नीचा लक्ष्य पहले कभी निरूपणतामें नहीं आता। ऐसा नहीं कहा जाता कि सच्चा सुख एकदेश संसारमें है, अथवा चौथे गुणस्थानमें है; और न यही कहा जाता है कि मोक्षकी प्राप्तिका उपाय चौथा गुणस्थान या पांचवां गुणस्थान है अथवा सम्यग्दर्शनमात्र है, किंतु रत्नत्रयकी प्राप्ति ही मोक्षप्राप्तिका उपाय (मार्ग) कहा जाता है। फिर भले ही मोक्ष एवं उसका उपाय रत्नत्रय क्रमसे प्राप्त किया जाय, परंतु उपदेशमें पूर्ण सुख और पूर्ण उपायका ही पहले विवेचन होता है। यही लोकप्रसिद्ध एवं शास्त्रप्रसिद्ध पद्धति है। इस आगमानुकूल पद्धतिसे

विपरीत पद्धति-द्वारा जो उपदेश देता है, वह दण्डस्थानीय अर्थात् दण्ड देनेयोग्य बतलाया गया है।

शंका हो सकती है कि 'ऐसा उस उपदेष्टाने क्या अपराध किया है जो दण्डपात्र बतलाया गया है?' इसका उत्तर यह है कि—उसने वैसा उपदेश देकर अनेक आत्माओंको ठग लिया, एवं उन आत्माओंका हित नहीं होने दिया। सम्भव है कि उसके उपदेशकालमें अनेक ऐसे भी पुरुष बैठे हों जो संसारसे उदास हो रहे हैं और मोक्षकी वांछा रखकर धर्म सुननेके पिपासु बने हुए हैं। ऐसे पुरुषोंको मोक्षका साक्षात साधक मुनिधर्मका उपदेश मिलना चाहिये, परन्तु मिला श्रावकधर्मका। ऐसी अवस्थामें वे वहीं रह गये, आगे उन्नतिपथमें नहीं बढ सके, यह बडीभारी हानि उन आत्माओंकी उस उपदेष्टा-द्वारा पहुंचायी गई। भले ही उसकी अजानकारीसे ऐसा क्रमविरुद्ध उपदेश दिया गया हो, परन्तु उसके निमित्तसे उनका पूर्ण सुधार तो रुक ही गया। इसीलिए ऐसे क्रमभंग उपदेश देनेवालेको आत्माओंका ठगनेवाला कहा गया है।

जिसप्रकार आदेश देना केवल आचार्योंका कार्य है, मुनिराज भी आदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं, वे केवल उपदेश दे सकते हैं, *उसीप्रकार उपदेश देनेका भी वही अधिकारी हो सकता है जो शास्त्रोंके* रहस्यका वेत्ता हो, आगमानुकूल प्रतिपादन करनेवाला हो, निष्कषाय हो, निष्पृह हो, जीवोंके सच्चे हितकी भावना रखता हो, स्वयं आगमके अनुकूल पथपर आरूढ हो और श्रद्धा एवं चारित्रमें आदर्श हो। जो उपर्युक्त बातोंसे रहित है, वह उपदेश देनेका कभी अधिकारी नहीं हो सकता। आगमसे किंचिन्मात्र भी जो विरुद्ध भाषण करता है, उसका उपदेश सुनना केवल पापबन्धका कारण है। इसलिए सदुपदेष्टाओंको पहचान करके ही उनका उपदेश सुनना चाहिये। इस कलिकालमें ऐसे उपदेष्टा अनेक मिलते

हैं, जो स्वयं धर्मपथसे दूर हैं, आगमके वाक्योंकी परवा न कर अपने स्वतन्त्र-विचारोंको सुनाते फिरते हैं। ऐसे पुरुषोंके धर्मविरुद्ध भाषणोंसे हितके बदले अहित ही होता है ॥ १९ ॥

उपदेश ग्रहण करनेवाले पात्रका कर्तव्य।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रस्वरूप (मोक्षमार्गः) मोक्षका मार्ग (नित्यं) सदा (तस्य अपि) उस उपदेशग्रहण करनेवाले पात्रको भी (यथाशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (निषेव्यः) सेवन करने योग्य (भवति) होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वा रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है वह उस पात्रको भी यथाशक्ति पालन करना चाहिये। यदि शक्तिकी पूर्णता है, तब तो रत्नत्रयको पूर्णरूपसे पालन करनेके लिये मुनिधर्म धारण कर लेना चाहिये और यदि उतनी शक्ति नहीं है तो क्रमसे एकदेशरूप श्रावकधर्म धारण करना चाहिये। श्रावकधर्म भी अनेकप्रकार है, उसमें भी अपनी सामर्थ्यका विचार कर पहली प्रतिमा, दूसरी प्रतिमा, पांचवीं प्रतिमा, सातवीं प्रतिमा आदि प्रतिमाओंको ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहकर भी जो श्रावकधर्ममें यथाशक्ति दृढ बना रहता है एवं नियमित-रूपसे व्रतोंको धारण कर लेता है, वह भी मोक्षमार्गपर आरूढ है। जो लोग ऐसा कहतेहुए सुने जाते हैं कि 'गृहस्थाश्रममें रहकर धर्मसाधन नहीं हो सकता' यह उनका कथन केवल प्रमादका सूचक है। यदि सावधान हो कर गृहस्थाश्रममें रहकर भी उसके योग्य धर्मका सेवन करना चाहे, तो प्रत्येक पुरुष बहुत

कुछ अपना कल्याण कर सकता है। गृहस्थाश्रममें मुनिधर्मका किंचिन्मात्र भी पालन नहीं हो सकता, कारण घर अथवा गृहस्थाश्रम मुनिधर्मके पालन करनेका सर्वथा क्षेत्र नहीं है। मुनिधर्म आरंभ-परिग्रहसे सर्वथा रहित है, और गृहस्थधर्म आरंभ-परिग्रहसहित है; इसलिये गृहस्थाश्रममें मुनिधर्मका पालन तो असंभव ही है। उसका क्षेत्र तो जंगल ही है और सर्व आरंभपरिग्रहसे रहित नग्न दिगम्बरवृत्ति ही है। परंतु गृहस्थधर्म तो गृहस्थाश्रममें ही रहकर पालने-योग्य है। जो लोग गृहस्थाश्रममें रहते हुए गृहस्थधर्म—श्रावकधर्मका पालन नहीं करते हैं, वे श्रावक भी कहलानेके योग्य नहीं हैं। कारण—जो श्रावकधर्मको धारण करे, उसीको श्रावक कहते हैं। जो धर्मकर्मसे शून्य रहकर केवल सांसारिक वासनाओंमें रत है, वह मोही संसारी है, अज्ञानी है, अपनी आत्माको ठगनेवाला है। तिर्यंचमें और उस पुरुषमें कोई भेद नहीं है, केवल पर्यायका भेद है। इसलिये जैनमात्रका कर्तव्य है कि गृहस्थाश्रममें रह कर अपनी शक्तिके अनुसार व्रत संयम धारण करे। इसीमें मनुष्यजीवनका सार है, अन्यथा वह निःसार है। यह संसार समुद्रतुल्य अथाह है। समुद्रका परिणाम तो भी है, इसका परिणाम भी नहीं है; यह अनंत है। इस अनंत संसारसमुद्रसे पार होनेका यदि मार्ग है, तो वह मनुष्यजीवन है। यथार्थमें मार्ग तो रत्नत्रयरूप धर्म है, मनुष्यजीवन उसका एक प्रधान साधन है। यद्यपि अन्य पर्यायोंमें भी धर्म धारण किया जा सकता है, परन्तु उन पर्यायोंमें पूर्ण धर्म धारण करनेकी पात्रता एवं शक्यता नहीं है। मनुष्यपर्यायमें ही यह सामर्थ्य है कि प्रयत्न एवं सद्विवेकद्वारा यह आत्मा संसारबन्धनको सर्वदाके लिये दूरकर सकता है। अन्य पर्यायोंमें वैसी सामर्थ्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि उनमें अंतरंग एवं बहिरंग साधन वैसे नहीं प्राप्त हैं जैसे कि रत्नत्रयके पूर्ण साधन करनेयोग्य मनुष्य-

पर्यायमें प्राप्त हैं। तिर्यंचपर्यायमें तो पूर्ण श्रावकव्रत भी नहीं पाले जा सकते तो मुनिधर्म कैसे पाला जा सकता है, कारण तिर्यंचके शरीरकी रचना ऐसी नहीं है कि वहांपर मुनिदीक्षा अथवा उच्चकोटिके श्रावकव्रत पालन किये जा सकें। जो कार्य पुरुष-शरीरसे किये जा सकते हैं, वे उस चार पैरवाले मूक तिर्यंचसे हो ही नहीं सकते। नरक और देवपर्यायमें भी संयम धारण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। न तो वहां बाह्यप्रवृत्तियों-द्वारा व्रत ही धारण किये जा सकते हैं और न कर्मोदय-प्राप्त बाह्यप्रवृत्तियोंका सुधार ही हो सकता है। देवोंके मुखमें नियमित अवधिमें नियमसे अमृतरस झरता है, उससे उनकी क्षुधानिवृत्ति होती है। उसे वे रोक भी नहीं सकते, वैसी अवस्थामें उनसे संयम कभी नहीं पल सकता। वे आहारका त्याग करें तो भी नहीं बन सकता, मार्गानुसार उसे ग्रहण करना चाहें तो भी नहीं बन सकता; इत्यादि अनेक ऐसी बातें हैं जो कि देव-तिर्यंच-नारकपर्यायोंमें पूर्णधर्म धारण करनेमें बाधक हैं। इसीलिये उन पर्यायोंमें अंतरंग परिणाम भी संयमी नहीं बन सकते। देव-नारकपर्यायमें प्रवृत्तिमार्ग अनुकूल न रहनेसे केवल सम्यग्दर्शन धारण किया जा सकता है। तिर्यंचपर्यायमें एकदेश श्रावकधर्म भी धारण किया जा सकता है। परन्तु मनुष्यपर्यायमें रहकर आत्मा अपने जीवनको समुज्वल एवं दुःखोंसे निवृत्त बना सकता है। यदि मनुष्यपर्यायमें आकर भी कुछ धर्मसाधन नहीं हो सका, तो फिर उसका मिलना भी नितांत कठिन है। धर्मसाधनकी योग्यतायें हर-एक जीवको नहीं मिल सकती; जिस जीवका सुधार सन्निकट है एवं तीव्र पुण्यकर्मका उदय है, उसे ही धर्म साधनेकी सामग्री मिल जाती है। सामग्री मिलनेपर भी जिसने अविवेक और प्रमादसे उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं किया एवं सांसारिक वासनाओंकी चाहनामें ही पर्यायको खो दिया, तो उसके समान अज्ञानी कौन होगा? ऐसा पुरुष उन्हीं मूर्खोंकी श्रेणीमें शामिल

है जो दैवसे प्राप्त हुए चिंतामणि रत्नको फेंककर काच बटोरते हैं, अथवा कल्पवृक्षको उखाडकर विषका वृक्ष बोते हैं, अथवा मदोन्मत्त सुन्दर ऐरावत सरीखे हाथीसे उतरकर गधेपर चढते हैं। सिवा महामूर्खोंके कोई बुद्धिमान इन कार्योंके करनेमें कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसीप्रकार कोई बुद्धिमान ऐसा न होगा जो बडी कठिनता एवं दैवयोगसे मिले हुए मनुष्य-शरीर, जैनकुलमें उत्पत्ति, जैनधर्मका परिज्ञान, इन समस्त बातोंको पाकर उनसे लाभ न उठावे, और विषयवासनाओंमें ही पर्यायको पूरा कर दे। इसलिये शक्तिको न छिपाकर धर्मको धारण करना ही मनुष्यजीवनका सार है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको ही धर्म कहते हैं; इन तीनोंमें सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये॥

सम्यग्दर्शन ही प्रथम क्यों प्राप्त करना चाहिये।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥ २१॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उन तीनोंमें (आदौ) पहले (अखिलयत्नेन) संपूर्ण प्रयत्नोंसे (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (समुपाश्रयणीयं) भलेप्रकार प्राप्त करना चाहिये; (यतः) क्योंकि (तस्मिन् सति एव) उस सम्यग्दर्शनके होनेपर ही (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (च) और (चरित्रं) सम्यक्चारित्र (भवति) होता है।

विशेषार्थ—तीनोंमें सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त करनेयोग्य बतलाया गया है। इसके लिये हेतु भी दिया गया है कि विना सम्यग्दर्शनके प्राप्त किये ज्ञान और चारित्र दोनों ही मिथ्या हैं। ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र तभी होता है जब कि आत्मामें पहले सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। जिससमय आत्मा मिथ्यादर्शनको छोडकर सम्यग्दर्शन पर्यायको धारण करता है, उसीसमय अर्थात्

दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम होनेके साथ ही कुमति और कुश्रुत नष्ट हो कर सुमति और सुश्रुत (सम्यग्ज्ञान) उत्पन्न हो जाते हैं। दर्शनके साथ ज्ञानका अविनाभाव है, जैसा सम्यक् अथवा मिथ्यादर्शन होगा, वैसा ही ज्ञान होगा; यद्यपि सम्यग्दर्शनको मिथ्यादर्शन बनानेवाला दर्शनमोहनीयकर्म है, और ज्ञानको ढकनेवाला ज्ञानावरणकर्म है। भिन्नभिन्न प्रतिबंधक कर्मोंके होनेसे दोनोंमें भिन्न भिन्न रीतिसे ही शक्तिकी व्यक्ति होती है। यदि ज्ञानावरणका किसी जीवके तीव्र उदय है तो उसके सम्यग्दर्शनके होनेपर भी ज्ञान बहुत ही मंद रहेगा। ऐसा नहीं है कि सम्यक्त्वके प्रगट होनेपर ज्ञान भी अधिक प्रगट हो जाय। यदि ज्ञान प्रगट होगा तो अपने प्रतिबंधक ज्ञानावरणकर्मके हटनेसे अथवा मंदोदय होनेसे ही प्रगट होगा। इसीप्रकार किसीके अधिक ज्ञान रहनेपर उसके सम्यक्त्व भी प्रगट हो जाय ऐसा नहीं है, कारण ज्ञानकी अधिकता ज्ञानावरणकर्मके अभावमें होती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति दर्शनमोहनीयकर्मके अनुदयमें होती है, इसलिये ऐसी भी बात नहीं है कि जिनके ज्ञान अधिक प्रगट हो जाय उनके सम्यक्त्व भी प्रगट हो जाय।

आजकल अनेक पुरुषोंमें ज्ञानका तो आधिक्य पाया जाता है, परंतु सम्यक्त्वका उनमें सद्भाव नहीं पाया जाता। दृष्टांतके लिये अनेक पाश्चात्यभाषा-भिज्ञ भारतवासी एवं पाश्चात्यदेशवासी विद्वानोंको ले लीजिये। उन लोगोंमें ज्ञानका प्रसार अधिक देखनेमें आता है, अनेक भौतिक चमत्कार आज हमारे सामने ऐसे उपस्थित हैं कि जिन्हें देखकर आश्चर्य उत्पन्न होता है, जैसे—बे-तारका तार, वायुयान, टेलीफोन, टेलीग्राफ, ग्रामोफोन आदि। इन अद्भुत आविष्कारोंको देखकर बहुतसे लोग यहां

(१) जो लोग यह समझ बैठे हैं कि भौतिकवादकी उन्नति एवं सूक्ष्म खोज जैसी गौरांगजातिने की है वसी पहले नहीं थी, यह उनकी

तक नवीनतामें गोता खाने लगते हैं। उन्हें संभावना होती है कि इन आविष्कारोंके बढते बढते कहीं जडसे चेतनकी रचना भी न होने लगे। परंतु उन्हें यह नहीं मालूम है कि जहांतक पदार्थोंमें योग्यता है वहींतक उनसे पर्यायें तयार हो सकती हैं; असंभव बातें कभी कोई कर नहीं सकता। जड़से चेतनका होना सर्वथा असंभव है, वह कभी हो नहीं सकता, ये सब आविष्कार पुद्गलके हैं, पुद्गलमें आचिन्त्य एवं अनंत शक्तियां भरी हुई हैं, उन्हींमें अनेक परिणमन होते रहते हैं, ये सब आविष्कार उन्हीं पुद्गल स्कंधोंके मिश्रणसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये पुद्गलतत्त्वकी शक्तियोंके जाननेवालोंको इन आविष्कारोंसे कोई आश्चर्य नहीं होता। अस्तु. वर्तमानयुगमें बहुभाग ऐसे ही आविष्कार लोगोंको सूझा करते हैं जिनसे कि प्राणियोंका संहार हो। वास्तवमें यह सब कुमति-कुश्रुतका ही प्रभाव है, जिससे कि ऐसी ही कुबुद्धि सूझती है; अन्यथा इतना अधिक ज्ञान प्राप्त होनेपर भी लोगोंके मस्तिष्कमें केवल प्राणसंहारक एवं सांसारिक वासनाओंके बढानेवाली बातें ही क्यों सूझती हैं, उन्हें आत्मा-तत्त्व भी कोई वस्तु

समक्ष भारतवर्षके एक इतिहाससे विदित है। परमपूज्य जीवंधरस्वामीके पिता श्रीसत्यंधर राजाने शत्रु काष्ठांगारद्वारा किये गये षड्यंत्रको खबर लगते ही केकियंत्र अर्थात् मयूरके आकारका उड़नेवाला एक यंत्र बनवाया था और उसमें अपनी गर्भवती महारानी विजयाको बिठाकर आकाशमें उड़ाया था; परंतु दैवयोगसे वह वायुयान राजपुरीके श्मशानमें ही गिर पड़ा था। आजकल जो वायुयान बनते हैं वे भी प्रायः मयूरके आकारवाले होते हैं और कलपुर्जे खराब होनेसे पृथ्वीपर अचानक ही गिर पड़ते हैं। इस संबन्धका समस्त इतिहास जाननेके लिये क्षत्रचूडामणि, जीवंधरचम्पू, गद्यचिन्तामणि, इन ग्रन्थोंको देखना चाहिये। उससमय बनवाये गये केकियंत्रके कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि पहले भी इसप्रकारके आविष्कार होते थे परंतु पहले पुरुषोंका ध्यान—उपयोग आत्मसाधनकी ओर अधिक था, इधर भौतिकवादमें बहुत कम था एवं भोगविलासोंमें कषायोंकी मात्रा बहुत कम होनेसे उनकी प्रवृत्ति ऐसे झंझटोंकी ओर बहुत कम होती थी। कारण इन आविष्कारोंका जितना अधिक प्रयोग हुआ है, उतनी ही लोगोंमें आकुलतायें एवं प्राणनाशको संभावनायें बढ़ गई हैं। सुख और शांति तो इससे मिलती ही नहीं।

है, इस बातका रंचमात्र भी ध्यान क्यों नहीं होता ? अतएव इस वर्तमान पाश्चात्य-विकाशवादको कुमति-ज्ञानका विकाश कहा गया है। ऐसे विज्ञानवादियोंका जीवन उन्हीं भौतिक आविष्कारोंकी खोजमें समाप्त हो जाता है, आत्मीय सुख-शांतिकी उन्हें आभा भी नहीं मिल पाती। नरक स्वर्ग क्या हैं, पुण्य-पापसे उनका क्या संबंध है, जीवनकी उज्वलता एवं मारता क्या है, इन बातोंकी ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता; इसीलिये उपादेय पदार्थका बोध न होनेसे अथवा विपरीत बोध होनेसे उनमें ज्ञानका आधिक्य होनेपर भी सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं है। परन्तु जहां सम्यक्त्वका सद्भाव है, वहां स्वल्प बोध होनेपर भी सम्यग्ज्ञान है—आत्मीयसुखका स्वाद है—स्वानुभूतिकी उपलब्धि है। जिस आत्मामें सम्य-ग्दर्शन गुण विद्यमान है, उस आत्माकी रुचि सांसारिक वासनाओंमें न जाकर उपादेय—आत्मीय पदार्थमें जाती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्माकी हितमार्गमें ही प्रवृत्ति रहती है। अहितमार्गमें उसकी प्रवृत्ति कभी नहीं जाती। इसलिये ज्ञान एवं चारित्रप्राप्तिसे पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना नितांत आवश्यक है। बिना सम्यक्त्व प्राप्त किये बढ़ा-हुआ ज्ञान भी केवल व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है। सम्यक्त्वविहीन ज्ञानसे न तो अपना ही कल्याण हो सकता है और न दूसरे आत्माओंका ही कल्याण किया जा सकता है। कारण बिना सम्यक्त्वके, मिथ्याज्ञानसे पदार्थोंकी यथार्थताका बोध नहीं हो सकता और बिना यथार्थ बोधके समीचीनमार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि बडे बडे विद्वान् दर्शनोंकी रचना कर गए हैं, परंतु किसीने पदार्थका स्वरूप कुछ कहा है और किसीने कुछ। कोई हिंसामें ही धर्म समझ बैठे हैं। जिन देवताओंकी कल्पना करके वे उनकी पूजा करते हैं वह भी जीवहिंसासे करते हैं। क्या देवताओंका वह स्वरूप है अथवा जीववधसे क्या कभी देवता प्रसन्न हो सकते हैं ? कोई कोई

अपने कर्तव्योंका फल ईश्वरसे चाहते हैं, कोई झूठा खानेमें धर्म मान बैठे हैं, कोई स्त्रियोंकी पूजामें धर्म समझ रहे हैं, कोई गंगा, जमुना, गोदावरी, कावेरी, नर्मदा आदि नदियोंमें स्नान करनेमें ही धर्म समझ रहे हैं, कोई कहते हैं 'किसकी मोक्ष, किसका नरक और किसका स्वर्ग है? जो कुछ है सो इसी नरदेहमें है। बाकी कुछ नहीं।' कोई एक परमात्माको मानकर सब जगत्के पदार्थोंका लोप करते हैं, वे प्रत्यक्ष दीखनेवाले समस्त पदार्थोंका अपलाप कर रहे हैं। कोई मोक्षसे लौटना बतलाते हैं, कोई मोक्षमें जाकर जीवके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि सब गुणोंका नाश बतलाकर उसे जड बतलाते हैं। कोई जीवको ही नहीं मानते, तो कोई जीवका मरकर फिर जन्म धारण करना ही नहीं मानते, कोई जीवोंका मरकर एक स्थानमें इकट्ठा होना बतलाते हुए यह भी बतलाते हैं कि 'खुदा या परमेश्वर उनका एक साथ न्याय करके नरक या स्वर्गमें उन्हें यथायोग्य भेजेगा', कोई जीवको तथा प्रकृतिको मानते हुए भी जीवको प्रकृतिसे सर्वथा अलिप्त एवं जीवकी वैभाविक अवस्थाओंका होना प्रकृति-द्वारा ही बतलाते हैं, कोई आत्माको मानते हुए भी उसका नष्ट होना बतलाते हैं, इत्यादि अनेक मतवालोंके उपर्युक्त विचार हैं; ये सब अयुक्त असिद्ध एवं प्रमाणबाधित हैं। किसी प्रकरणमें हम इन सब दर्शनों पर प्रकाश डालेंगे। यह सब सम्यक्त्व-विहीन ज्ञानका—मिथ्याज्ञानका माहात्म्य है। इसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके जितनी क्रियायें हैं, सब मिथ्या हैं। देखनेमें आता है कि कोई कुतप करते हैं, शरीरका शोषण भी करते हैं, परंतु विना सम्यग्ज्ञानके उस क्रियासे उलटा पाप बंध होता है। तप तो कर रहे हैं परंतु लकडियोंमें जीवोंको जलाकर पापका संचय करते हैं, दिनभर उपवास तो करते हैं परंतु रात्रिमें अभक्ष्य एवं अनुपसेव्य पदार्थोंका सेवन कर पाप कमाते हैं, जंगलमें तो रहते हैं परंतु आरंभ परिग्रहका संचय करते जाते हैं, शांति

तो चाहते हैं परंतु बालू पत्थर आदिके ढेर तथा अग्नि आदिमें कूद-कूद कर अशांति एवं कषाय पैदा करते हैं। यह सब खोटा चारित्र अथवा मिथ्याचारित्र है। इस रीतिसे शरीरको कष्ट देनेसे सिवा अहितके कोई हित नहीं हो सकता; कारण विना पदार्थ-स्वरूप समझे एवं समीचीन मार्गका बोध किये रातदिन भी परिश्रम करनेसे उसका फल विपरीत ही होगा। जो अज्ञानी आतापका सताया हुआ शीतलताकी चाहनासे एक गहरे कूएमें कूद पडता है, वह गहरी चोटसे और अथाह जलसे अपने प्राणोंका ही घात कर बैठता है। इसलिये विना सम्यग्ज्ञानके प्राप्त किये जो कुछ भी कर्तव्य है, वह मिथ्या है। अतएव तीनोंमें पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना नितांत आवश्यक है। सम्यग्दर्शन नौकाके खेवटियाके समान है। जैसे विना खेवटियाके नौका नहीं चल सकता, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके ज्ञान-चारित्रमें सम्यक्पना आता ही नहीं। अथवा सम्यग्दर्शन बीजके समान है; जैसे बिना बीजके वृक्षकी स्थिति (उत्पत्ति) भी नहीं हो सकती, वृद्धि भी नहीं हो सकती, फलोदय भी नहीं हो सकता, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी स्थिति (उत्पत्ति) भी नहीं हो सकती, वृद्धि भी नहीं हो सकती तथा उनका उत्तम फल भी नहीं हो सकता। अथवा सम्यग्दर्शन नींवके समान है; जैसे विना नींवके मकान नहीं ठहर सकता, उसीप्रकार बिना सम्यक्त्वके सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र नहीं ठहर सकते। अथवा सम्यग्दर्शन सूर्यके समान है; जैसे बिना सूर्यके प्रकाश नहीं हो सकता, वैसे बिना सम्यक्त्वके ज्ञान चारित्र सम्यक् नहीं हो सकते।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'बिना ठीकठीक ज्ञान हुए श्रद्धान कैसे ठीक कहा जा सकता है? बिना पहले पदार्थका ज्ञान किये जो श्रद्धा होगी वह अंधश्रद्धा होगी। इसलिये पहले सम्यग्ज्ञान

होना चाहिये, पीछे सम्यग्दर्शन होना चाहिये। परंतु यहांपर पहले सम्यग्दर्शनका होना बतलाया गया है, पीछे सम्यग्ज्ञानका होना बतलाया गया है, सो किसप्रकार ठीक है ?' उत्तर—जबतक आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्मका उदय रहता है, तबतक पदार्थोंका प्रतिभास विपरीत ही होता है । क्यों विपरीत होता है ? इसका उत्तर यह है कि कर्मकी शक्तिका यह प्रभाव है । और इसप्रकारकी शक्तियां माननी ही पडती हैं, अन्यथा कहा जा सकता है कि ज्ञान संसारी आत्माओंमें कम क्यों पाया जाता है, पूरा सर्वज्ञज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ? इसके उत्तरमें यही बात माननी पडेगी कि ज्ञानावरणकर्मका उदय उन आत्माओंमें हो रहा है, उस उदयसे ही ज्ञानशक्ति आच्छादित हो गई है। एक मनुष्य सुखी देखा जाता है, एक दुःखी देखा जाता है; इसका कारण भी वही कर्मशक्तिका परिणाम है। इससे सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मकी शक्ति ऐसी ही विचित्र है कि उसके उदयमें पदार्थोंका विपरीत प्रतिभास होता है। जैसे—दूध भी पुद्गलपर्याय है और धतूरा भी पुद्गलपर्याय है, परंतु दूध पीनेसे कुछ विकार नहीं होता, धतूरा खानेसे सब कुछ पीला ही पीला दीखता है; क्योंकि धतूरेके परमाणु विकारोत्पादक हैं, वैसे दूधके नहीं है। 'ऐसा भी क्यों है ?' ऐसी आशंकाका यही उत्तर है कि वस्तुस्वभाव अनिवार है, वह तर्कणासे बाहर है। अग्नि क्यों उष्ण होती है, विष खानेसे मनुष्य क्यों मर जाता है, इन प्रश्नोंका भी यही उत्तर होगा कि उन वस्तुओंमें वैसी ही शक्ति है। इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके परमाणु इसी जातिके हैं कि उनका रसोदय विपरीत स्वाद करानेवाला ही होता है, अन्यथा सब मनुष्योंके पास समझ रहनेपर भी अनेक विद्वानों तकमें खोटा आचरण क्यों पाया जाता है ? विद्वान् तो विवेकी होते हैं, वे ऊंची श्रेणीका ज्ञान रखते हैं, फिर क्यों मिथ्यासिद्धांतों पर विश्वास कर बैठते हैं ? अथवा क्यों असदाचरण करते हैं ?

उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि उनकी समझ उलटी है, उनका चारित्र ठीक नहीं है। समझका उलटा होना और चारित्रका कुचारित्र होना जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, यह सब दर्शनमोहनीयका कार्य है, उसके निमित्तसे समझ रहने पर भी वह उलटी कहलाती है, चारित्र कुचारित्र कहलाता है। जिससमय दर्शनमोहनीयकर्म हट जाता है अर्थात् जीवके उसका उदय नहीं रहता, उससमय उस जीवका ज्ञान यथार्थ ही होता है; चाहे वह थोडा ही क्यों न हो, विपरीतवस्तुका ग्रहण नहीं करेगा। वह थोडा जानेगा पर ठीक जानेगा। जैसे—धतूरा पीनेवाले मनुष्य पर जबतक उसका असर रहता है तबतक वह मनुष्य पीला ही पीला देखता है, उसीप्रकार जबतक जीवके दर्शनमोहनीयकर्मका असर रहता है तबतक उसे उलटा ही सूझता है। इसीका नाम 'मोहित बुद्धि' है। यदि कहा जाय कि 'मोहसे पदार्थका प्रतिभास उलटा बना रहे परंतु ज्ञान तो ठीक ही होना चाहिये अर्थात् श्रद्धान भले ही उलटा हो परंतु ज्ञान उलटा नहीं होना चाहिये; क्योंकि दर्शनमोह तो श्रद्धानको बिगाडनेवाला कर्म है, ज्ञानसे उसका क्या संबंध?' तो हम कहते हैं कि धतूरा खानेवालेको पीला ही पीला दीखता रहे परंतु उसके ज्ञानमें तो वस्तुओंका प्रतिभास नहीं होना चाहिये; क्योंकि धतूरेका विकार तो आंखोंमें आता है, सो आंखें भले ही पदार्थोंको विपरीत देखती हों, देखना तो दर्शनावरणका काम है, उस देखनेसे ज्ञानका क्या संबंध? पदार्थोंका ज्ञान तो उसे पीला नहीं होना चाहिये। फिर उसे बोध भी पीला क्यों होता है? यदि कहा जाय कि 'देखनेका ज्ञानसे संबंध है, जैसा देखता है वैसा ही जानता है' तो यह भी ठीक है कि जैसा श्रद्धान करता है वैसा ही जानता है। यदि विपरीत प्रतीति होती है तो विपरीत प्रतिभास भी होता है, यदि यथार्थ प्रतीति होती है तो यथार्थ प्रतिभास भी होता है। जैसे देखने और जाननेका संबंध है; वैसे प्रतीति (श्रद्धान)

और ज्ञानका भी संबंध है । अर्थात् ज्ञानका कार्य जानना है, वह पदार्थोंको जानता रहेगा; जितना ज्ञानावरणकर्मका उदय रहेगा—मंद मध्यम या तीव्र, उसीके अनुसार वह मंद मध्यम या अधिकरूपमें पदार्थोंको जानता रहेगा। वह ठीक जानता है या बेठीक (अयथार्थ) जानता है, यह बात किसी दूसरे पदार्थसे संबंध रखती है। ज्ञानके साथ जो यथार्थ अयथार्थ विशेषण लगाये जाते हैं, वे दूसरेके निमित्तसे लगाये जाते हैं। ज्ञानका काम तो इतना ही है कि वह पदार्थोंको योग्यतानुसार जानता रहे। जाननेमें मंदता या अधिकता होना ज्ञानावरणकर्मका कार्य है, ज्ञानावरणकर्मका कार्य यह नहीं है कि वह ठीक जानें या मिथ्या जानें। अन्यथा ज्ञानावरणके दो भेद मानने चाहिये—एक मिथ्याज्ञानावरणकर्म और दूसरा सम्यक्ज्ञानावरणकर्म। परंतु सिद्धांतमें ज्ञानावरणके दो भेद नहीं कहे गये हैं। ज्ञानावरण तो अपने उदयके अनुसार ज्ञानका आच्छादन करता है—अधिक उदयमें अधिक आच्छादन करता है, मंद उदयमें मंद आच्छादन करता है। जैसा-जैसा आच्छादन होता है एवं जितना-जितना ज्ञानका प्रकाश रहता है, उतना-उतना ही ज्ञान वस्तुओंको जानता है, इसलिये ज्ञानका कार्य जाननामात्र है; और प्रतिपक्षी कर्म उतने ही कार्यको रोकता है। ज्ञानके साथ जो सम्यक् जानना या मिथ्या जानना ये 'सम्यक् मिथ्या' विशेषण लगे हुए हैं, वे ज्ञानके परिणाम नहीं हैं। यदि उन्हें ज्ञानके ही परिणाम कहाजाय तो प्रतिपक्षी कर्म (ज्ञानावरणकर्म)-के कार्य भी दो मानने पड़ेंगे। जिस कर्मका अनुदय होगा, उसीप्रकारका ठीक या विपरीत ज्ञान होगा। ऐसा मानने पर, मिथ्यादृष्टिके भी यथार्थ बोध होना चाहिये, क्योंकि उसके भी अच्छे-बुरे-रूपमें क्रमसे ज्ञानावरणका उदय-अनुदय होता रहेगा। अथवा सम्यग्दृष्टिके भी मिथ्याज्ञान होना चाहिये, क्योंकि वहां भी ज्ञानावरणका अच्छे या बुरे-रूपमें क्रमसे उदय-अनुदय होता रहेगा।

परंतु वैसा होता नहीं है । न तो मिथ्यादृष्टिके सम्यग्ज्ञान होता है और न सम्यग्दृष्टिके मिथ्याज्ञान। इसलिये ज्ञानके यथार्थ अयथार्थ विशेषण दूसरेके संबंधसे प्राप्त है, और वह संबंध दर्शनमोहनीयकर्म है। जबतक जीवके उसका उदय रहता है तबतक वह जीव पदार्थोंमें उलटी प्रतीति करता है और उसीके अनुसार उसका ज्ञान भी उलटा प्रतिभास करता है । जिससमय दर्शनमोहका उदय उस जीवके नहीं रहता, उससमय उसकी पदार्थोंपर यथार्थ प्रतीति होती है; उसके अनुसार उसका ज्ञान भी उन्हें यथार्थ जानने लगता है । जैसे आंखके नीचेके पलकपर उंगली लगा लेनेसे दो चंद्रमा दिखाई देते हैं और ज्ञान भी दो चंद्रमाका होता है—दो चंद्रमाओंके न होनेपर भी दर्शनमें भ्रम रहनेसे ज्ञानमें भी भ्रम रहता है, उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके रहनेसे—पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान होनेसे उसके साथ होनेवाला ज्ञान भी मिथ्या होता है। जिससमय आत्मामें उस मिथ्यादर्शनके अभाव होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, उससमय मिथ्याप्रतीति आत्मासे एकदम दूर हो जाती है तथा आत्मा पदार्थोंका यथार्थ प्रतिभास करने लगता है। उसकी बुद्धि भी पदार्थोंको यथार्थरूपसे ही ग्रहण करती है । सम्यक्त्वगुणका यही माहात्म्य है कि उसके प्रगट होनेपर बुद्धिमें विपर्यय होता ही नहीं, सदा वह सत्य पदार्थकी ही ग्राहक होती है। इसप्रकारके विभाव एवं स्वभाव (आत्मीय परिणाम) जीवोंके नानारूपसे उदित होते रहते हैं। विभावपरिणामोंके उदयमें आत्मा असत्प्रवृत्ति एवं असत्विचारोंमें प्रवृत्त हो जाता है, स्वभाव परि-णामोंके प्रगट होनेपर वही आत्मा सत्प्रवृत्ति एवं सद्विचारोंमें बिना उपदेश एवं बिना शिक्षण आदिके स्वयं प्रवृत्त हो जाता है। उपर्युक्त कथनसे सम्यग्ज्ञानको पहले और सम्यग्दर्शनको पीछे बतलानेवालोंकी शंकाका निरसन (खंडन) हो चुका।

अब एक शंका यह हो सकती है कि 'यदि सम्यग्ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शन होता है तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये जो देशनालब्धिका आवश्यक विधान किया गया है वह क्यों ? अर्थात् सम्यग्दर्शनके पहले जितना भी ज्ञान है सभी मिथ्या है तो सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारणभूत जो सद्गुरुके उपदेशसे ज्ञान होगा वह भी मिथ्या होगा, फिर उस मिथ्याज्ञानसे सम्यक्त्वप्राप्ति कैसे हो सकती है ?' इस शंकाका यह परिहार है कि–पदार्थोंको ठीक-ठीक जान लेनेका ही नाम सम्यग्ज्ञान नहीं है, पदार्थोंका ठीकठीक ज्ञान तो मिथ्यादृष्टिको भी होता है, वह भी व्यावहारिक सभी पदार्थोंको ठीक रूपसे जानता है। इतना ही नहीं, किंतु बडेबडे विज्ञानवादी पदार्थ-खोजमें अतिसूक्ष्म गवेषणा करते हैं। सम्यग्दृष्टियोंसे भी अधिक पदार्थ-स्वरूप तक जाते हैं, फिर भी उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान रहता है और सम्यग्दृष्टियोंका स्वल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसलिये सबसे पहले हमें सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है। वास्तवमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण यही है कि–जिस ज्ञानमें आत्माका निजस्वरूप प्रतिभासित होता हो, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् जिस ज्ञानमें स्वानुभूति (अपने आत्माका अनुभवन) होता हो, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। बाह्यपदार्थोंके ठीक जानने न-जाननेसे उसकी यथार्थता अयथार्थताका संबंध नहीं है। मिथ्यादृष्टि भी लौकिक पदार्थोंको जैसेके-तैसे समझता है; अथवा सम्यग्दृष्टि भी कभी कभी नेत्रादिमें विकार आजानेसे बाह्यपदार्थोंमें विपरीत बोध कर लेता है, परंतु वह केवल बाह्य-

---

(१) सम्यक्त्व-प्राप्तिके योग्य सदुपदेश मिलनेको देशनालब्धि कहते हैं। सम्यक्त्व-प्राप्तिमें कारणभूत पांच लब्धियोंमें एक देशनालब्धि है। (२) अनादि-मिथ्यादृष्टिके लिये देशनालब्धि आवश्यक कारणोंमें है, बिना देशनालब्धिके अनादि-मिथ्यादृष्टिको सम्यक्त्व नहीं हो सकता। सादि-मिथ्यादृष्टिके लिये ऐसा नियम नहीं है।

विकारका दोष है। अंतरंगमें स्व-स्वरूपका अनुभव एवं साक्षात्कार करनेसे सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। दूसरी बात, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके भेदमें यह है कि सम्यग्दृष्टि तो सदा आत्मोपयोगी पदार्थोंमें रुचि, प्रतीति, श्रद्धा करता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि आत्मोपयोगी पदार्थोंमें श्रद्धा नहीं करता; केवल (बाह्य आत्मभिन्न) जड़पदार्थोंमें अपनी बुद्धिका कौशल प्रगट करता रहता है। और जबतक आत्मोपयोगी—सप्त तत्त्व, नवपदार्थ आदिमें प्रतीति अथवा श्रद्धा इस जीवकी नहीं होती, तबतक उसका बाह्यपदार्थोंमें जितना भी ज्ञान है वहसब व्याकुल अशांत एवं मिथ्या है। कारण, उस ज्ञानसे आत्मा वास्तविक सुखी नहीं बन सकता; क्योंकि वह आत्मोपयोगी तत्त्व तक पहुंच ही नहीं पाया है। ऐसी दशामें यह कहना असंगत नहीं है कि सम्यग्दृष्टि-पशुओंका ज्ञान भी आत्मोपयोगी एवं स्वानुभवयुक्त होनेसे सराहनीय है, और मिथ्यादृष्टि एक बडे विद्वानका ज्ञान भी आत्मानुपयोगी एवं स्वानुभवशून्य होनेसे सराहनीय नहीं है। इसलिये बाह्यपदार्थोंके जानने न-जाननेसे ज्ञानमें सम्यक्-मिथ्यापन नहीं आता किंतु प्रयोजनीभूत (आत्मोपयोगी) पदार्थोंकी अभिरुचि (प्रतीति) करनेसे ही सम्यक्-मिथ्यापन आता है। फिर देशनालब्धिको जो सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण कहा गया है, उसका प्रयोजन यह है कि जिससमय आत्मामें मोहनीयकर्मका प्रभाव कुछ मन्द हो जाता है अर्थात् जब कुछ कर्मोंकी स्थितिमें और रसोदयमें मन्दता आ जाती है तथा परिणामोंमें विशुद्धता आ जाती है, उससमय किसी सद्गुरुका सदुपदेश मिलने पर आत्मा करणत्रय[1] (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) माडनेके योग्य परिणामोंवाला बन जाता है। अर्थात् देशनालब्धिसे आत्मा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उन्मुख हो जाता है

(१) करणत्रयका स्वरूप आगे सम्यक्त्वके स्वरूपमें कहा जायगा।

यदि उससमय उसके कर्मोंकी स्थिति एवं रसोदय मन्द न हो तो उस देशनालब्धिका कुछ फल नहीं हो सकता, और जिससमय कर्मोंके उदयकी मन्दता हो उससमय उसे सदुपदेशकी प्राप्ति न हो तो भी उस आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिये देशनालब्धिको सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण बतलाया गया है। देशनालब्धि सम्यग्दर्शनके पूर्वज्ञानकी अवस्था है; इसलिये स्वानुभवशून्य होनेसे वह मिथ्याज्ञान है परन्तु सद्गुरुका उपदेश होनेसे वह आत्मोपयोगी पदार्थोंका यथार्थ बोध है एवं सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण है, इसलिये उसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जाता है। यदि देशना मिथ्याज्ञान ही हो। तो मिथ्यादृष्टिकी आत्मामें आत्मोपयोगी पदार्थोंके परिज्ञानसे होनेवाले स्वानुभूति-प्राप्तिके योग्य विशुद्ध परिणाम कभी नहीं हो सकते। इसलिये देशनालब्धि व्यवहारदृष्टिसे सम्यग्ज्ञान तथा निश्चयदृष्टिसे मिथ्याज्ञानरूप है।

इस समस्त कथनसे, जिसप्रकार सम्यग्ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शन उपादेय है, उसीप्रकार सम्यक्-चारित्रके पहले सम्यग्ज्ञान उपादेय है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर तीनोंकी प्राप्ति एकसाथ होती है—जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसीसमय उसमें सम्यग्ज्ञान और स्वानुभवरूप स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होते हैं, फिर भी जो तीनोंकी क्रमप्राप्तिका विधान कियागया है वह विशेष विवक्षासे किया गया है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भजनीय (प्राप्तव्य, प्राप्त करनेयोग्य) हैं। सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानमें उत्पन्न हो जाता है और प्रतिपक्षी कर्मके सर्वथा क्षय होनेसे प्रगट होनेवाली पूर्णता सातवें अप्रमत्तगुणस्थान तक पूर्ण (क्षायिक) प्रगट हो जाती है; उसके पूर्ण होनेपर भी

(१) क्षायिकसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें हो जाता है। और वह फिर कभी आच्छादित नहीं होता, सिद्धोंमें भी बना रहता है।

सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता नहीं हो पाती इसलिये वह सम्यग्दर्शनके पीछे भजनीय बना रहता है। सम्यग्ज्ञान भी चौथे गुणस्थानसे प्रगट होकर तेरहवें गुणस्थान (सयोगकेवली)-के प्रथमक्षणमें—प्रारंभकालमें ही पूर्ण (सर्वज्ञ) ज्ञान हो जाता है। उसके पूर्ण होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय बना रहता है। सम्यक्चारित्र पांचवेंसे व्यक्त होता है और बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानमें पूर्ण हो जाता है। यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'सम्यक्चारित्र जब क्षीणकषायमें ही पूर्ण हो जाता है और सम्यग्ज्ञान तेरहवेंमें पूर्ण होता है, तो इससे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्र होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, परंतु सम्यग्ज्ञानके पीछे चारित्रको भजनीय कहा गया है यह कैसे हो सकता है?' इसका उत्तर यह है कि सम्यक्चारित्र यद्यपि बारहवें गुणस्थान तक पूर्ण हो जाता है परंतु जिसे परमावगाढ चारित्रकी पूर्णता कहते हैं जोकि मोक्षप्राप्तिमें साक्षात् (पूर्वक्षणवर्ती) कारण पडता है, उसकी पूर्ति चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानमें ही होती है; उसके पहले नहीं होती। क्षीणकषायमें प्रतिबंधी कषायोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे यद्यपि पूर्णचारित्र प्रगट हो जाता है परंतु फिर भी योग आदिक शक्तियोंके विभावपरिणमनके रहनेसे एवं समस्त आत्मीयगुणोंमें तादात्म्यसंबंध (एकत्वभाव) होनेसे चारित्र भी चरमविशुद्धिके

(१) इस चरमविशुद्धि एवं परमावगाढताको संबंधविशुद्धिके नामसे कहा जाय तो और भी उत्तम है। कारण चारित्र तो परम विशुद्ध एवं परम पूर्ण क्षीणकषायमें ही हो चुका, परन्तु दूसरे गुणोंकी पूर्ण निर्मलता (स्वभाव अवस्था) प्रगट न होनेसे केवल संबंध होनेसे सम्यक्चारित्रकी परमावगाढताका निषेध किया गया है। इस संबंधजनित दोषको छोडकर चारित्रमें निश्चयसे कोई दोष नहीं रहा है। ऐसे दोषको आनुषंगिकदोषके नामसे कहा जाता है। जैसे किसी परम सज्जन भद्रपुरुषका पुत्र जुआ आदि व्यसनोंमें फँसकर पकड़ा जाय तो उसके उस भद्र पिताको भी पकड़ लिया जाता है, वास्तवमें पिता तो सर्वथा निर्दोष है परंतु सम्बन्धी होनेसे उसे भी उस दोषी पुत्रके साथमें फँसा लिया जाता है; इसीप्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिये। योगके दोषी होनेसे चारित्र भी दोषी समझा गया है, वास्तवमें वह दोषी

लिये भजनीय बना रहता है। सम्यक्चारित्रकी परम (चरम) श्रेणीकी महाविशुद्धि यही है कि समस्त आत्माके गुणोंका विशुद्ध हो जाना। जहांतक एक भी गुण विभाव अवस्थामें रहेगा, वहांतक सम्यक्चारित्र भी परमावगाढ़ श्रेणीतक नहीं पहुंच सकेगा। इसलिये क्षीणकषायमें सम्यक्चारित्रके पूर्ण होनेपर भी सयोगकेवली तक योगशक्ति विभावरूप धारण करती रहती है, तबतक सम्यक्चारित्र भजनीय बना रहता है। इसीसे सम्यग्ज्ञान होनेपर सम्यक्चारित्रको भजनीय कहा गया है। जहां सयोगीके अंत होने पर योगगुण स्वभाव अवस्थामें परिणमन करने लगा, वहीं अयोगी गुणस्थानमें आत्मा अवशिष्ट कर्मोंका, व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा परमशुक्लध्यानसे, एकदम ध्वंस करके अंतर्मुहूर्तमात्रमें अविनश्वर धाम सिद्धालयमें जा विराजता है।

इसलिये जैनसिद्धांतमें जो रत्नत्रयको मोक्षप्राप्तिका कारण बतलाकर तीनोंका क्रम रक्खा है, वही युक्तियुक्त है। उस क्रमके विपरीत यदि पहले सम्यग्ज्ञानको उपादेय कहा जाय, पीछे सम्यग्दर्शनको कहा जाय, अथवा सम्यग्ज्ञानके पूर्व सम्यक्चारित्रको उपादेय बतलाया जाय, तो वह क्रम न सिद्ध ही हो सकता है और न उपादेय श्रेणीतक ही पहुंच सकता है। विपरीत क्रम युक्ति प्रमाण दोनोंसे बाधित है। इसलिये "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यही दिगम्बर जैनसिद्धांत-निर्दिष्ट क्रम उपादेय एवं मोक्षका साधक है॥

नहीं है। और सभी गुणोंके अभिन्न होनेसे एक गुणकी अशुद्धिमें दूसरा निर्मलगुण भी अपनेको स्वतन्त्र मोक्षधाम पर ले भी तो नहीं जा सकता। इसलिये सबोंकी निर्मलता होने पर ही पूर्ण निर्मलता समझी जायगी। जिसप्रकार शरीरके किसी एकदेशमें कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो कहा यही जायगा कि 'इसका शरीर रोगी है'। समस्त शरीरमें रोग न होनेपर भी अभिन्नतावश उसे भी रोगीकी श्रेणीमें शामिल होना पड़ता है; इसीप्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिये।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यं।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवाजीवादीनां) जीव अजीव आदिक (तत्त्वार्थानां) तत्त्वोंका (विपरीताभिनिवेशविविक्तं) मिथ्या अभिप्रायरहित—मिथ्याज्ञानरहित—जैसेका तैसा (सदैव) सदा ही (श्रद्धानं) श्रद्धान—विश्वास—अभिरुचि—प्रतीति (कर्तव्यं) करना चाहिये, (तत) वही श्रद्धान (आत्मरूपं) आत्माका स्वरूप है; अथवा आत्मस्वरूप है अर्थात् आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण यहां पर तत्त्वार्थश्रद्धान किया गया है, तत्त्वार्थसूत्रकार श्रीउमास्वामिमहाराजने भी यही लक्षण किया है। 'रत्नकरंडश्रावकाचार'के कर्ता श्रीसमंतभद्राचार्यने देवशास्त्रगुरुके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। आचार्योंके शिरोमणि श्रीकुंदकुंदस्वामीने स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व बतलाया है। इत्यादि रूपसे सम्यक्त्वके अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं। इनमें कौनसा लक्षण सुघटित एवं यथार्थ समझा जाय, तथा कौनसा अनुपयुक्त समझा जाय, और सम्यक्त्वके लक्षणमें इसप्रकारका मतभेद क्यों हुआ? इन प्रश्नोंको वे पुरुष उठाये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके अंतरंग भाव पर गहरी दृष्टि नहीं डाली है। जो विद्वान् सम्यग्दर्शनके लक्षणकी गहरी गवेषणा कर चुके हैं उन्हें फिर ऊपर दियेगये लक्षणभेद एवं मतभेद सब एक ही प्रतीत होते हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो उपर्युक्त सभी लक्षण एक ही हैं, केवल शब्दभेदसे भिन्नाभिन्न प्रतीत होते हैं। 'क्यों एक हैं?' इसका खुलासा इसप्रकार है,—सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर विदित होता है कि ऊपर कहेगये सभी सम्य-

त्वके लक्षण ज्ञानरूप पडते हैं; क्योंकि जीवादिक तत्त्वोंका श्रद्धान करना यह ज्ञानकी ही पर्याय है। यद्यपि विश्वासमें और ज्ञानमें स्थूलरीतिसे भेद मालूम होता है, परंतु जैसेका-तैसा श्रद्धान करनेका यही अभिप्राय है, कि पदार्थोंका जो वास्तविक स्वरूप है उसे पहचान कर उसपर दृढ रहना चाहिये। अथवा देवगुरुशास्त्रका जो सच्चा स्वरूप है उसे विदित कर उसीपर दृढ रहना चाहिये। यह दृढता दृढज्ञान एवं संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय-रहित निश्चल ज्ञानको छोडकर दूसरी वस्तु नहीं पडती है। अर्थात् पदार्थोंके ठीक ठीक ज्ञान पर ही दृढ बने रहना, कभी उससे विचलित नहीं होना, इसी ज्ञानकी पर्यायको सम्यक्त्वके लक्षणके नामसे कहा गया है। वास्तवमें सम्यक्त्वका लक्षण ज्ञानसे भिन्न ही है, वह अवक्तव्य है, वचनके अगोचर है। इस संबंधमें 'पंचाध्यायी' नामक शास्त्रके दूसरे अध्यायमें श्रीअमृतचंद्रसूरिने कहा है कि—

'सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरः। तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥' (अध्याय २)

'सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरं। गोचरं स्वावधिस्वांतपर्ययोः ज्ञानयोः द्वयोः ॥ ३७५ ॥' (अध्याय २)

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शनगुण वास्तवमें बहुत सूक्ष्म है, वह वचनोंसे नहीं कहा जा सकता; इसलिये उसे न तो कोई कह ही सकता है और न कोई सुन ही सकता है। जो पदार्थ वचनातीत है, उसे कहने सुननेका किसीको अधिकार ही नहीं है। यह सम्यक्त्व केवलज्ञानके गोचर है तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भी गोचर है। परन्तु मतिज्ञान श्रुतज्ञानके गोचर नहीं है। अवधिज्ञानमें भी परमावधि सर्वावधि इन दो अवधियोंसे ही प्रत्यक्ष होता है—देशावधिसे नहीं होता। अर्थात् सम्यग्दर्शनके स्वरूपको अथवा सम्यग्दृष्टिके उस सम्यक्त्वगुणसे विभूषित आत्माको केवलज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी तथा परमावधि सर्वावधिवाले वीतरागी मुनिराज ही जानते हैं, देशावधि और मति-

ज्ञानी श्रुतज्ञानी उस सूक्ष्मस्वरूपके जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं। 'सम्यग्दर्शन वचनोंसे क्यों नहीं कहा जा सकता?' इसका उत्तर यह है कि ज्ञानको छोडकर सभी गुण निर्विकल्पक हैं, ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो सविकल्पक है, एवं स्वस्वरूप परस्वरूपका प्रकाशक है। इसलिये सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेकी वचनोंमें योग्यता ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें सम्यक्त्वका स्वरूप ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है, और ज्ञानके द्वारा ही विवेचन किया जा सकता है। ज्ञानका आश्रय लेकर ही आचार्योंने उस वचनातीत भी, सम्यक्त्वका स्वरूप यह बतलाया है कि जिससमय सम्यक्त्वके अविनाभावी अथवा सहवर्ती ज्ञान-विशेषका प्रादुर्भाव हो जाय, उससमय समझलो कि आत्मामें सम्यक्त्व प्रगट हो गया। जिसप्रकार एक अन्धे आदमीको आम्रफलके पीलेपनका बोध करानेके लिये यह कहा जाता है कि 'जिससमय उस आम्रफलमें खट्टेपनेको लियेहुए गंध न रहे किंतु मीठेपनेको लिएहुए सुगंधि आने लगे, उससमय जान लेना चाहिए कि आम पीला हो चुका।' यह एक निर्णीत विषय है कि एक पदार्थका बोध उसके सह-भावी दूसरे पदार्थसे सहज किया जाता है। उसीप्रकार सम्यक्त्व यद्यपि निर्विकल्पक है, फिर भी उसका परिज्ञान उसके सहभावी ज्ञानविशेषसे सहज कर लिया जाता है। वह ज्ञानविशेष स्वानुभूतिके नामसे विख्यात है। अर्थात् स्वानुभूत्यावरणकर्मके क्षयोपशमसे—मतिज्ञानावरणकर्मका विशेष क्षयोपशम होनेसे जो आत्माका साक्षात्कार करनेवाली स्वानुभूति उत्पन्न होती है, वह सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके सहभावमें ही होती है। इसलिये जिससमय आत्मामें स्वानुभव होने लगे, उससमय समझ लेना चाहिये कि आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका। इस स्वानुभूतिका सम्यक्त्वके साथ सहभाव होनेसे अर्थात् सम(१)व्याप्ति होनेसे

(१) जिसके होनेपर जो हो, उसे व्याप्ति कहते हैं। अर्थात् दो पदार्थोंके अविनाभावसंबन्धका नाम ही व्याप्ति है। वह व्याप्ति कहीं सम

स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्वको लक्षण कह दिया गया है। जैसे श्रीसमयसारकार आचार्यप्रमुख श्रीकुंद-कुंदस्वामीने स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कहा है। श्रीसर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपाद श्रीपूज्यपाद महा-राजने भी सम्यक्त्वका अंतरंगलक्षण यही कहा है कि "आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्" अर्थात् आत्माकी विशुद्धिविशेष ही अंतरंगसम्यक्त्व है। यद्यपि स्वानुभूति ज्ञानकी पर्याय है, वह सम्यक्त्वसे भिन्न वस्तु है; फिर भी सम्यक्त्वका सहभावी ज्ञानका परिणाम है, इसलिये उसे ही सम्यक्त्वके स्वरूपका द्योतक कहा गया है अथवा सम्यक्त्वस्वरूप मान लिया गया है। जहां स्वानुभूति आत्मामें प्रगट हुई वहां आत्मीय सच्चे सुखका एकदेश (एक अंश) भी प्रगट हो जाता है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंको सिद्धोंकी तुलना दी जाती है: कारण जिस आत्मीय सच्चे सुखका पूर्ण अनुभव सिद्धभगवान एवं अर्हत्परमेष्ठी करते हैं, उसी सुखका एकदेश अनुभव सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। चाहे मनुष्य हो, चाहे देव हो, चाहे तिर्यंच हो और चाहे नारकी हो, किसी भी पर्यायमें जीव क्यों न हो, सम्यग्दृष्टिकी अवस्थामें वह वहीं आत्मीय सुखका अनुभोक्ता बन जाता है। जब अंतरंगमें सम्यग्दृष्टिमात्रके स्वानुभूतिका होना अवश्यम्भावी है, तब बाह्यमें उसका [1]उपलक्षण चाहे देवगुरुशास्त्रका श्रद्धान कहा जाय, चाहे तत्त्वार्थ-

---

होती है, कहीं विषम। जहां एकतरफा एक पदार्थका दूसरेके साथ अविनाभाव होता है, वहां विषमव्याप्ति कहलाती है। जैसे—धूमका अग्निके साथ अविनाभाव है: वह एकतरफा है, क्योंकि धूम तो अग्निके साथ रहता है, वह उसे छोड़कर नहीं रह सकता। परंतु अग्निका धूमके साथ अविनाभाव नहीं है, अग्नि धूमको छोड़कर भी अयोगोलक (अग्निसंतप्त लोहे) आदिमें रहती है। जहां दोनों ओरसे अविनाभाव होता है, वहां समव्याप्ति कहलाती है। जैसे—जहां स्पर्श होगा वहां रूप-रस-गन्ध अवश्य होंगे, जहां रूप-रस-गन्ध होंगे वहां स्पर्श अवश्य होगा। इसी-प्रकार सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें समव्याप्ति है। एक किसीके अभावमें दूसरा नहीं रह सकता।

(1) लक्ष्यके लक्षणको भी उपलक्षण कहते हैं और उपचरित लक्षणको भी उपलक्षण कहते हैं।

श्रद्धान कहा जाय, चाहे प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य कहा जाय; सभी अभिन्न पडते हैं, किसीमें कोई विशेष नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिस जीवके तत्वार्थश्रद्धान होगा, उसके देवगुरुशास्त्रका श्रद्धान अवश्य होगा। जिसके देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान होगा, उसके तत्त्वश्रद्धान अथवा आस्तिक्यादिक भाव भी अवश्य होंगे। कारण जो देवशास्त्रगुरु पर पूर्ण श्रद्धान रखता है, वह सर्वज्ञदेव-कथित आचार्य-वचनों (जिनवाणी) पर पूर्ण विश्वासी अर्थात् तत्त्वश्रद्धानी अवश्य होता है। इसीप्रकार जो तत्वोंका यथार्थ श्रद्धानी है, वह देवगुरुशास्त्रका भी अवश्य श्रद्धानी है; कारण देवगुरुशास्त्र भी तो तत्त्वोंमें आ चुके, इसलिये तत्त्वश्रद्धानी, देवगुरुशास्त्र-श्रद्धानी, दोनों ही एक अर्थके द्योतक हैं। किसी एकके कहनेसे दोनों तीनों बाह्यलक्षणोंका समावेश हो जाता है। जो देवगुरुशास्त्रका श्रद्धानी है, तत्वार्थश्रद्धानी है, उसके परिणामोंमें प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्यभावोंका संचार होता ही रहता है। इसलिये जो भिन्न भिन्न सम्यक्त्वके बाह्यलक्षण हैं वे सब एक ही हैं, केवल शब्दनिरूपणामें भेद है। इतना अवश्य है कि ये सभी बाह्यलक्षण स्वानुभूतिके सद्भावमें सम्यक्त्वस्वरूप हैं. बिना स्वानुभूतिके सम्यक्त्वके कारण-रूप हैं। ऐसी अवस्थामें कारण-कार्यकी अभेदविवक्षा रखकर उन्हें सम्यक्त्वके लक्षणमें प्रगट किया गया है। यह नियम नहीं है कि तत्त्वार्थश्रद्धान आदिके होनेपर अंतरंग-सम्यक्त्व हो ही हो। बिना सम्यक्त्वके प्रादुर्भाव हुए भी बाह्यश्रद्धानादिक होते हैं। इसीलिये उन्हें उपलक्षण (उपचरितलक्षण) कहा गया है। जहां सम्यक्त्वके होनेपर श्रद्धानादिक पाये जाते हैं वहां वे उपलक्षण (लक्षणके लक्षण) हैं। सम्यक्त्वका लक्षण स्वानुभूति है, और स्वानुभूतिके लक्षण श्रद्धानादिक हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान किसे कहते हैं, इसका खुलासा इसप्रकार है,—'तत्त्व' नाम पदार्थके भाव (धर्म)-को

कहते हैं, 'अर्थ' नाम निश्चय करनेका है। जो भावरूपसे निश्चित किया जाय उसे तत्त्वार्थ कहते हैं, अर्थात् जो जिस वस्तुका धर्म है, भाव है, उस धर्मको लियेहुए उस वस्तुको निश्चय करनेका नाम ही तत्त्वार्थ है। 'जो जिस धर्मको लियेहुए है' ऐसा यदि नहीं कहा जाय तो यह दोष होगा कि जिस वस्तुका जो स्वरूप नहीं है उस रूपसे भी उसका श्रद्धान किया जा सकता है अर्थात् विपरीत श्रद्धान भी सम्यक्त्वका लक्षण ठहरेगा। इसलिए अपने स्वभावको लियेहुए वस्तुका श्रद्धान करना ही यथार्थश्रद्धान है। वस्तुके यथार्थश्रद्धानका नाम ही तत्त्वार्थश्रद्धान है। तत्त्व जगत्में सात ही हैं; न ज्यादा हैं, न कमती हैं। इन्हीं सात तत्त्वोंमें जगत्के समस्त पदार्थ गर्भित हैं। ये सात भेद भी जीवकी विशेष पर्यायोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं, मूलमें दो ही तत्त्व हैं—१ जीव और २ अजीव। यदि भेदनिरूपणसे मूल तत्त्वोंका विचार किया जाय तो छह भेदोंमें समस्त तत्त्व आ जाते हैं। वे छह भेद—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। हमारे नेत्रोंसे जितने पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, वे सब एक ही पुद्गलतत्त्वके विकार हैं। नेत्रोंसे जो भी पदार्थ दीखते हैं वे सब रूपवाले हैं, जो रूपवाले हैं वे सब पुद्गलके भेद हैं। इसीप्रकार कानसे सुने जानेवाले शब्द, नाकसे सूंघे जानेवाले सुगंधित दुर्गंधित पदार्थ, जीभसे स्वादमें आनेवाले खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन आदि पदार्थ एवं शरीरद्वारा स्पर्श होनेवाले हलके, भारी, कोमल, कठोर, रूखे, चिकने, ठंडे, गरम आदि जितने भी पदार्थ हैं, रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले हैं; इसलिये सभी पुद्गलके स्कंध हैं। बहुतसे पुद्गल ऐसे भी हैं जो हमारी इंद्रियोंसे जाने भी नहीं जा सकते; जैसे कि कार्माणवर्गणायें, नोकार्माणवर्गणायें आदि सूक्ष्मस्कंध। कुछ दार्शनिक लोग ऐसा मानते हैं—'पृथिवीके परमाणु भिन्न हैं, जलके भिन्न हैं, अग्निके भिन्न हैं, वायुके भिन्न हैं; इसलिये वे चारों ही जुदे जुदे चार द्रव्य हैं।'

परंतु ऐसा उनका मानना युक्तिसे एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित है। देखनेमें आता है कि लकडी ही जलकर अग्नि बन जाती है। अग्निके परमाणु ही जल-जलाकर भस्मरूपमें आकर पृथिवीका रूप धारण कर लेते हैं। जल आतापके निमित्तसे भाफ बनकर वायुरूपमें उड जाता है। दो वायुओंके मिल जानेसे जल बन जाता है, एवं जलसे ओलेरूप पत्थर बन जाते हैं। बरफरूप पत्थरसे और पहाडोंसे जलकी उत्पत्ति हो जाती है। दो बांसोंकी रगड़से वहींके परमाणु अग्निरूप धारण कर लेते हैं। मिट्टीका (किरासिन) तेल कोयलोंमें निकलता है, इसलिये पृथ्वीसे जल बन जाता है; एवं स्वयं जलरूप होकर भी अग्निके साथ अग्निरूप धारण कर लेता है। टेलीग्राफ (तार, शब्द भेजनेका एक यंत्र) आदिके द्वारा जो शब्द निकलता है, वह मध्यवर्ती सूक्ष्मपरमाणुओंको बिजलीकी टक्करसे शब्दरूप बनाता जाता है। इत्यादि अनेक उदाहरणोंसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि जल अग्नि पृथ्वी वायु सब एक ही द्रव्यके निमित्त पाकर होनेवाले विकार हैं। जल अग्नि आदि नामोंवाले जुदेजुदे चार द्रव्य नहीं हैं। आजकल विज्ञानवादियों-(साइंटीफिकों)-ने पृथिवी जल आदि अनेक भिन्नभिन्न स्कंधोंको मिश्रण द्वारा (मिलाकर) एकका दूसरेरूप परिणमन प्रत्यक्ष कर दिखाया है। जैनसिद्धांत तो अनादिसे रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले समस्त पदार्थोंको एक पुद्गलद्रव्यकी ही पर्याय कहता आया है। इसलिये ऊपर कहे हुए सिद्धांतके अनुसार छूए जानेवाले, गंध देनेवाले, चखे जानेवाले एवं देखे जानेवाले (रंगवाले) जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको पुद्गलद्रव्य समझना चाहिये।

दूसरा द्रव्य है धर्मद्रव्य। यह द्रव्य उस धर्मसे जुदा है जोकि जीवका परिणाम है। जो जीवका परिणाम धर्म है, वह द्रव्य नहीं है किंतु जीवके चारित्रगुणकी पर्याय है। जीवोंको पुण्यरूप फल इसी जीवके

परिणाम (धर्मपर्याय)-से मिलता है। परंतु ऊपर जिस धर्मका उल्लेख किया गया है, वह पर्याय नहीं है किंतु छह द्रव्योंमें एक द्रव्य है। वह जीवका परिणाम नहीं है किंतु अजीव है, जड है। जीवका परिणामरूप जो धर्म है वह तो व्युत्पादित शब्द (योगज) है । उसका अर्थ होता है–"जो सुखमें धारण करे वह धर्म कहलाता है"। जीवको स्वर्गादिके सुखोंमें धारण करनेवाला जीवका ही शुभपरिणाम है। इसलिये उसीका नाम धर्म है। परंतु 'धर्म'द्रव्य योगज शब्द नहीं है किंतु रूढि है। एकद्रव्यविशेषकी एक धर्मसंज्ञा नियत है । वह जीवसे सर्वथा भिन्नपदार्थ है । रूप-रस-गंध-स्पर्श उसमें भी नहीं पाये जाते हैं, वह भी अमूर्त है–इंद्रियोंसे नहीं जाना जाता। वह समस्त लोकमें व्याप्त है। लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं, उन सबोंमें उसके प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं। परंतु वह धर्मद्रव्य एक ही द्रव्य है, उसके प्रदेश असंख्यात हैं। द्रव्य असंख्यात नहीं है, द्रव्य एक ही है। उसका कार्य यही है कि जिससमय जीव या पुद्गल चलने लगें उस समय उन्हें चलनेमें सहायता देना। जब जब जीव पुद्गल कोई क्रिया करेंगे, तभी तभी धर्मद्रव्य उन्हें क्रियामें सहकारी कारण पड जायगा। बिना धर्मद्रव्यकी सहायताके कोई द्रव्य हिल भी नहीं सकता। इतना विशेष है कि सहायतायें दो प्रकारकी होती हैं। एक सहायता प्रेरणा करनेवाली होती है, दूसरी उदासीन होती है। जैसे फुटबाल (गेंद)-में धक्का देकर उसे दौडाया जाता है, गाडियां घोडोंकी शक्ति लगनेसे अथवा वाष्प (वाफ) या बिजलीकी शक्ति लगनेसे उनकी प्रेरणासे खींची जाती हैं। यह सहायता प्रेरक सहायता है। धर्मद्रव्य ऐसी सहायता नहीं करता। वह केवल उदासीन कारण है। जीव पुद्गल उसकी प्रेरणासे नहीं चलते किंतु स्वयं चलते हैं। क्रिया करना, उन दोनोंका स्वभाव विभाव है; इसलिये क्रिया उनमें स्वयं होती है। जिससमय क्रिया उनमें होती है, उससमय धर्मद्रव्य उदासीन सहायक हो

जाता है। उदासीन सहायक होनेसे कोई उसकी आवश्यकता न समझे, अथवा कल्पित द्रव्य कहने लगे तो उसकी भूल है । बहुतसे कारण उदासीन होते हैं; उदासीन होने पर भी उनके बिना काम नहीं चल सकता। जैसे—मनुष्य या पशुपक्षियोंके चलनेमें पृथ्वी या आकाश उन्हें सहायता देता है। उनके बिना क्या कभी वे चल-फिर सकते हैं ? कभी नहीं। परंतु उन मनुष्य पशु पक्षियोंको आकाश और पृथ्वी प्रेरणा तो नहीं करती कि 'तुम चलो'। अथवा गाडीमें जुतेहुए घोडों तथा बिजली आदिके समान प्रेरणा भी चलानेकी नहीं करते। रेलगाडी अथवा ट्रामगाडी लोहेकी पटरियों पर चलती है; पटरियोंके बिना उन्हें बडाभारी शक्तिवाला एंजिन भी नहीं खींच सकता; क्योंकि गाडियां बहुत ही भारी होती हैं, वे जमीनमें खींचनेसे गड़ जांयगी, सुगमतासे आगे नहीं बढ सकतीं। परंतु पटरियोंके बिछा देनेसे उनपर वे ढरकती हुई चलीजाती हैं, इसलिये पटरियां गाडियोंके चलनेमें सहायता देती हैं। सहायता देने पर भी वे उन गाडियोंसे चलनेके लिये प्रेरणा नहीं करतीं । जल मछलियोंके चलानेमें सहायता देता है, परंतु उन्हें चलाता नहीं, मछलियां स्वयं चलती हैं। इन्हीं दृष्टांतोंके समान धर्मद्रव्य है, वह क्रिया करनेवाले जीव पुद्गलोंको क्रियामें सहायता देता है, परंतु प्रेरणा नहीं करता। कदाचित् कोई यह शंका करे कि 'धर्मद्रव्य माननेकी आवश्यकता ही क्या है, चलनेमें सहायता जमीन एवं आकाश देता है ?' इस शंकाका उत्तर यह है कि जिसप्रकार आकाशद्रव्य हमारी इंद्रियोंसे नहीं जानाजाता है, वह केवल पोल मात्र है, तथा कालद्रव्य भी इंद्रियोंसे नहीं जानाजाता है, परंतु समस्त वस्तुओंको अवकाश मिलनेसे (ठहरनेका स्थान पाजानेसे) और सब वस्तुओंके स्वयं परिणमन करते रहने पर भी उनमें नवीनता और जीर्णता (पुरानापन) आनेसे, आकाश और कालद्रव्यको जगतके प्रायः बहुभाग दार्शनिकोंने स्वीकार किया

है। इसीप्रकार जगतके समस्त जीव पुद्गलोंको विना किसीके धक्के आदिके एकसाथ इधरसे उधर चलने फिरनेमें एक सहायकद्रव्य स्वीकार करना ही पडता है। जैसे—पदार्थ स्वयं स्थान ग्रहण करते हैं, परंतु स्थान मिलना आकाशकी सहायताका फल है। नये पुराने स्वयं पदार्थ होते हैं परंतु नयेपुरानेपनमें 'काल' सहायक पड जाता है। इसीप्रकार गमन स्वयं पदार्थ करते हैं, उनमें धर्मद्रव्य सहायक हो जाता है। धर्मद्रव्यके माननेमें दूसरा हेतु यह है कि जैनसिद्धांतके अनुसार जैसी व्यवस्था पदार्थोंकी प्रमाणसिद्ध पायी जाती है, वैसे हेतु एवं साधन भी प्रमाणसिद्ध पाये जाते हैं। जैनसिद्धांतने लोक-अलोकका विभाग बतलाया है और जीवका गमन लोक-शिखर तक ही बतलाया है, आगे नहीं। इसीप्रकार पुद्गलका गमन भी लोक तक ही बतलाया है, आगे नहीं। बाकी कोई द्रव्य तो गमन ही नहीं करते, सदा स्थिर ही रहते हैं। लोक-अलोकका विभाग करनेवाला एवं जीव पुद्गलको लोक-शिखर तक ही रखनेवाला धर्मद्रव्य ही है। यदि धर्मद्रव्य न माना जाय तो लोक-अलोकका विभाग भी नहीं हो सकता; विभाग होने पर जीव पुद्गलका गमन अलोकाकाशमें भी हो सकता है और वैसी अवस्थामें पदार्थोंकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि 'व्यवस्था बनो या न बनो, लोक-अलोकका विभाग बनो या मत बनो, जीव पुद्गल लोक-शिखर तक ठहरो या आगे चले जाओ; परंतु युक्तिप्रमाणसिद्ध ही पदार्थ माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। धर्मद्रव्य क्या युक्तिप्रमाणसे उनका साधक है? और साधक है, तो किस प्रकार?' उत्तर—लोकअलोकका विभाग नीचे लिखे अनुमानसे मानना ही पडता है,—

"लोकालोकविभागोस्ति, लोकस्य सांतत्वात् वनपर्वतादिवत्। लोकः सांतः, रचनात्मकत्वात् गृहादिवत्। लोकः रचनात्मकः आकारवत्त्वात् घटपटादिवत्। यत् खलु विभाग सीमांते पदार्थनियो-

जकं, तदु एव धर्मद्रव्यं तेनैव जीवद्रव्यस्य पुद्गलद्रव्यस्य वा लोकाकाशाद्बहिर्गमनं न संभाव्यत इति विद्वद्भिर्निश्चेतव्यम् ।" अर्थात् लोक-अलोकका विभाग अवश्य मानना पडता है, क्योंकि लोकका अंत है। जिन जिन वस्तुओंका अंत होता है, उनका विभाग अवश्य होता है; जैसे वन, पर्वत, नदी आदिका अंत होता है, जहां उनका अंत है वहीं उनका विभाग है । इसीप्रकार लोकाकाशका अंत होता है। अंत होनेसे जहां लोकाकाश समाप्त होता है, वहीं अलोकाकाशका प्रारंभ होता है। लोकका अंत होता है, यह बात भी माननी पडती है, क्योंकि वह रचनावाला है। जितने रचनावाले पदार्थ होते हैं, वे सब अंतवाले होते हैं; जैसे घर गांव शहर आदि रचनावाले पदार्थ हैं, इसलिये इन सबका कहीं न कहीं अंत अवश्य होता है। लोक भी रचनावाला है, ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और पाताललोकमें भिन्न भिन्न रचनायें हो रही हैं, रचनात्मक होनेसे उसका अंत अवश्य होता है । लोककी रचना भी देखनेमें आती है; क्योंकि वह भिन्न भिन्न आकारवाला है। पाताललोक वेत्रासन (बेतके बने आसन–मूंडे)-के समान है, मध्यलोक झल्लरीके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदंगके समान आकारवाला है, तीनों लोक कटिप्रदेशमें दोनों हाथोंको रखकर खडे हुए पुरुषके समान है। जितने पदार्थ आकारविशेषवाले होते हैं, वे सब रचनावाले होते हैं। जैसे घडा, कपडा, चौकी आदि पदार्थ आकारविशेषवाले हैं वे सब रचनात्मक हैं, उसीप्रकार लोक भी आकारविशेषवाला है इसलिये वह भी रचनात्मक है । इसप्रकार लोक आकारवान होनेसे रचनावाला सिद्ध होता है, रचनावाला सिद्ध होनेसे अंतवाला सिद्ध होता है, अंतवाला सिद्ध होनेसे वह

(१) रचनात्मक होनेसे लोक किसी ईश्वर या परमात्माद्वारा बनाया गया सिद्ध होता है ऐसा समझना केवल भ्रम है । यह नियम नहीं है जो कि रचनावाले पदार्थ हैं, वे सब किसी चेतनद्वारा बनाये गये हों । पर्वत, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, जंगल आदि सभी रचनावाले होनेपर भी स्वयं

विभागवाला सिद्ध होता है। जहां लोकका अंत होता है (वहीं लोक अलोकका विभाग, भेद) सिद्ध होता है। लोकका अंत कहां होता है? इसका विचार करनेसे विदित होगा कि जहांतक धर्मद्रव्य है, वहांतक लोक है; जहां धर्मद्रव्यकी समाप्ति है, वहीं लोककी समाप्ति है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीव-पुद्गलोंका गमन भी लोकशिखर तक (लोकाकाशके अंततक) ही होता है; क्योंकि वहींतक धर्मद्रव्य-द्वारा उन्हें गमनमें सहायता मिलती है। इसलिये जो पदार्थ लोकमें स्थिर हैं वे तो स्थिर हैं ही, परंतु जो गमन करते हैं वे भी लोकके अंततक ही जा सकते हैं, बाहर नहीं। कारण, गमनमें सहायता देनेवाला धर्मद्रव्य लोक तक ही है। इसलिये धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल ये पदार्थ लोकमें ही पाये जाते हैं, बाहर नहीं। लोकके बाहर केवल आकाश अवशिष्ट रहता है; क्योंकि वह अनंत है एवं व्यापक है। और द्रव्य जो अनंत भी हैं, वे सर्वत्र व्यापक नहीं हैं। जो अनंत नहीं हैं किंतु एक होतेहुए असंख्यातप्रदेशी हैं अथवा असंख्यात द्रव्यरूप हैं, वे सब असंख्यातप्रदेशीक्षेत्र तक अर्थात् लोक तक रहते हैं। आकाश एक ऐसा द्रव्य है जो अनंतव्यापक होनेसे लोक अलोकमें सर्वत्र रहता है। वास्तवमें आकाशद्रव्य दो नहीं है, वह एक ही सर्वत्र है; केवल धर्मद्रव्यके निमित्तसे लोकाकाशका विभाग होनेसे वह (आकाश) दो टुकडोंमें विभक्त हो गया है। इस उपर्युक्त लोक अलोक विभागसे धर्मद्रव्यकी पूर्ण आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। इसलिये पहले जो यह कहा गया है कि जैनधर्मने जैसी व्यवस्था पदार्थोंकी स्वीकार की है, उसके अनुसार उनकी योजना भी (कारणकलाप-सामग्री) संतोषप्रद बतलायी है। अर्थात् जिस-

---

अपने कारणोंसे (पुद्गलस्कंधोंसे) बने हुए हैं; उनका बनानेवाला कोई चेतन कर्ता नहीं है। इसीप्रकार लोक भी अनादिनिधन है; इसका बनानेवाला कोई नहीं है।

प्रकार जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव मानकर भी उसे लोकके अग्रभागमें ठहरा हुआ बतलाया है, उसी प्रकार 'आगे क्यों नहीं गमन करता' इसका समाधान भी सकारण एवं सयुक्तिक बतलाया है। जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव तो माना जाय, परंतु धर्मद्रव्यकी सहायताका कुछ विचार न किया जाय, तो पदार्थ-व्यवस्थामें कभी संतोष नहीं हो सकता। जैनधर्मने पदार्थका यथार्थ विवेचन किया है; क्योंकि वह सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। इसीलिये जैनधर्ममें ऐसी मिथ्या एवं प्रमाणबाधित व्यवस्था नहीं है कि 'लोककी रचना ईश्वरने की है, लोकको वह बनाता है फिर बिगाड देता है।' ये सब बातें प्रमाणबाधित हैं। जैनधर्मने जितना पदार्थस्वरूप बतलाया है, वह सकारण सयुक्तिक एवं प्रमाणसिद्ध बतलाया है। धर्मद्रव्य यद्यपि परोक्षपदार्थ है, वह अमूर्तिक होनेसे इंद्रियग्राह्य नहीं है, आगम-प्रमाणसिद्ध है, तो भी युक्तिसे उसकी सत्ता सिद्ध होती है। वास्तवमें विचार किया जाय तो जैनधर्मके मर्म जाननेवालोंको वस्तुभाव पर संतोष करना होता है। वहां यह आशंका भी नहीं होती कि 'यह क्या माना गया, इसके बिना भी काम चल जाता।' ये सम्पूर्ण बातें यद्यपि युक्तिसे समझा देनेसे संतोष दिलाती हैं, परंतु मूल संतोष पदार्थस्वरूपसे होता है। धर्मद्रव्य एक स्वतंत्र पदार्थ है, वह गमनमें सहायक होता है; यह एक वस्तुभाव है, उस स्वभावप्राप्त वस्तुस्वरूपके सामने 'यह न होता तो भी काम चल जाता' ये सब बातें व्यर्थ हैं। 'क्यों न होता और कैसे काम चल जाता' इसका भी उन तर्कशालियोंके पास कोई सदुत्तर नहीं है। तर्क तो उपस्थित व्यवस्थामेंसे ही किया जाता है; जबकि जीव पुद्गलमें गमनक्रिया स्वतंत्र देखनेमें आती है और सहायक उदासीनकारण भी आवश्यक साथ लगे हुए हैं (काल आकाश आदि), ऐसी व्यवस्थामें धर्मद्रव्यकी सहायताका विधान भी मानना पडता है। जब अन्य पदार्थोंकी व्यवस्था जैसी

आगम-कथित है, वैसी ठीक ठीक उपलब्ध हो रही है, तब धर्मद्रव्यकी व्यवस्था भी आगम-कथित है, वह भी ठीक माननी ही चाहिये।

तीसरा द्रव्य है अधर्मद्रव्य। यह द्रव्य भी उस अधर्मसे भिन्न है जो अधर्म जीवका अशुभ परिणाम है एवं पापफलका देनेवाला है। जीवका परिणाम अधर्म 'पर्याय' है, यह अधर्म 'द्रव्य' है। वह अधर्म चेतनका परिणाम होनेसे 'चेतन' है, यह 'जड़' है। धर्मद्रव्यका कार्य जो जीव पुद्गलके गमनमें सहायता देना बतलाया गया है, अधर्मद्रव्यका उससे सर्वथा प्रतिकूल है। अर्थात् वह जीव और पुद्गलोंको चलनेमें ठहरते समय ठहरानेमें सहायता करता है। यह भी ठीक वैसा ही उदासीन कारण है जैसा कि धूपका सताया हुआ पथिक किसी वृक्षकी शीतल छाया देखकर उसके नीचे बैठ जाता है; यदि मार्गमें वृक्षका आश्रय न मिले तो पथिकका ठहरना भी नहीं हो सकता, परन्तु वृक्ष उस ठहरते हुए पथिकको प्रेरणा भी नहीं करता कि वह वहां ठहरे ही। अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलोंके स्वयं ठहरनेपर उनके ठहरानेमें सहायक तो हो जाता है परंतु किसी प्रकारकी प्रेरणा नहीं करता। यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'चलनेवाले तो जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं, इसलिये धर्मद्रव्य तो उन दोनोंमें ही सहायक होता है; परंतु स्थिर होनेवाले तो छहों ही द्रव्य हैं, इसलिये अधर्मद्रव्य तो सभी द्रव्योंके ठहरानेमें सहायक होना चाहिये, वह दो ही द्रव्योंमें क्यों सहायक कहा गया है?' इसका उत्तर यह है कि—जो सदासे स्थिर हैं वे तो स्थिर हैं ही, उनके लिये सहायककी आवश्यकता ही नहीं। जो चलतेचलते स्थिर होते हैं, उन्हींके लिये सहायककी आवश्यकता है। ऐसे दो ही द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल। अधर्मद्रव्य भी धर्मद्रव्यके समान असंख्यातप्रदेशी है और लोकाकाशमें व्याप्त है। उसकी सिद्धि भी धर्मद्रव्यके समान समझ लेना चाहिये।

चौथा 'आकाशद्रव्य' है। यह द्रव्य एक है, अनंतप्रदेशी है। लोक अलोक सर्वत्र व्याप्त है। पदार्थोंको अवगाह (स्थान) देना इसका कार्य है। आकाश भी धर्म अधर्मद्रव्योंके समान अमूर्तिक है। यदि कोई शंका करने लगे कि 'आकाश कुछ वस्तु नहीं है, पोलका नाम ही आकाश है, पोल खुले प्रदेशोंको कहते हैं अर्थात् खाली (रीते) स्थानको आकाश कहते हैं, वह अन्य वस्तुओंके अभावस्वरूप है।' इसका उत्तर यह है कि—जब जगत्की समस्त वस्तुओंकी खोज एवं गणना की जाती है, तब पोल जिसे कहते हैं उसकी भी किसी वस्तुमें सम्हाल करनी ही पडेगी। क्योंकि "जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमित्ताणि होंति परमत्था" जितने शब्द होते हैं, उतने ही उनके अर्थ होते हैं। और संसारमें ऐसा कोई वाच्य (अर्थ) नहीं जो अभावरूप हो। इसलिये जो पोलके नामसे प्रसिद्ध है, वह भी एक भावरूप द्रव्य है। उसीका नाम आकाश है। आकाशद्रव्य प्रायः सभी दर्शनवालोंने स्वीकार किया है। इस द्रव्यके संबंधमें किसीको निषेध नहीं है; इसलिये इस द्रव्यकी विशेष सिद्धिकी आवश्यकता नहीं है।

पांचवां 'कालद्रव्य' है। यह द्रव्य असंख्यात है, लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालद्रव्य जुदा जुदा ठहरा हुआ है। हर-एक द्रव्यके समान इस द्रव्यका भी प्रतिक्षण परिणमन हुआ करता है, कालके एक क्षणवर्ती परिणमनको समय कहते हैं। वास्तवमें लोकमें जो समय समयका व्यवहार होता है, वह कालद्रव्यकी ही पर्याय है। प्रत्येक द्रव्यके परिणमनके साथ जो यह व्यवहार होता है कि 'अमुक वस्तु इतने समयकी है, अमुक वस्तु अमुक समयमें आई थी और अमुक समयमें चली गई, गतवर्षके समयमें हमने एक छात्रको पंचाध्यायी और राजवार्तिक ये दो ग्रन्थ पढाये थे, उससमय परीक्षा देने पर वह छात्र पास भी उन ग्रन्थोंमें हुआ था' इत्यादि जो प्रत्येक वस्तुके साथ समयका व्यवहार होता है,

उसका मूल कारण यही कालद्रव्य है; क्योंकि समय कहो अथवा काल कहो, ये दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं। यह कपडा इतने समयका है अथवा यह इतने कालका है। यह बालक वीर संवत् २४४० के समयका है अथवा यह बालक उस कालका है। दोनोंमें कोई अंतर नहीं है। कालद्रव्यकी प्रत्येक क्षणवर्ती पर्यायका नाम जब समय है तो उसका व्यवहार प्रत्येक द्रव्यकी क्षणवर्ती पर्यायके साथ होता है। क्योंकि हर-एक द्रव्यका परिणाम समय समयमें ही होता है, और उसमें काल उदासीन कारण है। इसलिये वास्तवमें समय कालद्रव्यकी एकक्षणवर्ती पर्याय होनेपर भी प्रत्येक द्रव्यकी क्षणवर्ती पर्यायोंके साथ व्यवहारमें आता है। यह उपचरित प्रयोग है। यही उपचरित प्रयोग पल, घंटा, घडी, मुहूर्त, दिन-रात, महीना, वर्ष, युग, कल्प, इत्यादि नामोंसे व्यवहारमें आता है। यथार्थदृष्टिसे यदि विचार किया जाय, तो ये पल घडी घंटा आदि कुछ भी नहीं है किंतु उस कालद्रव्यकी प्रतिक्षणवर्तीपर्याय जो समय है, उन्हीं समयोंकी क्रमसे अनेक संख्या बीतनेपर पल घंटा घडी आदि नाम पडते जाते हैं। अन्यथा २४ घण्टोंका दिनरात होता है, और ३० दिनका महीना होता है, १२ महीनोंका वर्ष होता है; ये दिनरात, महीना, वर्ष आदि मूलमें कुछ तत्त्व नहीं हैं, किंतु समय समयकी पर्याय होनेसे अनेक समयोंके बीतनेपर घंटा नाम कहलाया, और २४ घंटोंमें जितने समय होते हैं उतने क्रमसे बीतनेपर दिनरात कहलाया, ३० दिनरातमें जितने समय होते हैं उतने समय बीतनेपर महीना कहलाया, १२ महीनोंमें जितने समय होते हैं उनके बीतनेपर वर्ष कहलाया। इसीलिये उन घंटा, दिन, महीना, वर्ष

(१) यथार्थमें तो वह न हो, परंतु प्रयोजन और निमित्तवश उसका व्यवहार दूसरेमें किया जाय, उसे ही उपचरित कहते हैं। "मुख्याभावे प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते" अर्थात् मुख्य पदार्थके स्थानमें दूसरे पदार्थका व्यवहार जहां होता है, वहां उपचार कहा जाता है।

आदि सबके साथ भी 'समय' व्यवहृत होता है; जैसे—एक घंटा समय हो गया, एक वर्षका समय हो गया, छह महीनेका समय बीत गया आदि। सब द्रव्यें पर्यायें धारण करती हैं और वे पर्यायें समय समयमें होती हैं। इसलिये उन पर्यायोंके साथ भी समय शब्दका प्रयोग होता है; तथा उन नाना पर्यायोंके बीतनेपर महीना वर्ष आदि उपचरितकालका प्रयोग होता है। बिना मूल पदार्थकी सत्ताके उपचार हो नहीं सकता। यदि सूर्यको न माना जाय तो किसी तेजस्वी राजाको यह नहीं कहा जा सकता कि 'आप तो सूर्य हैं और मैं आपके सामने खद्योत (जुगनू) हूं।' यह व्यवहार तभी होता है कि जब सूर्य और खद्योतकी सत्ता कहींपर है, बिना उनके इन नामोंका प्रयोग राजाकी तेजस्विताके लिये किया ही नहीं जा सकता। कोई तेजस्वी सूर्य पदार्थ है तथा मंद तेजवाला खद्योत पदार्थ है, तभी उनका प्रयोग दूसरे तेजवाले पदार्थमें उपमानरूपसे अथवा अन्य निमित्तसे किया जाता है। यदि कहा जाय कि उस राजाको ही वास्तवमें सूर्य मान लिया जाय अथवा उससे मंद तेजवालेको ही खद्योत मान लिया जाय और वह उपचरित प्रयोग न समझा जाय, तो फिर उस राजाको अथवा उस पुरुषको सभी पुरुष सूर्य और खद्योत क्यों नहीं कहते? जो उपमा देता है, वही क्यों कहता है? इसीप्रकार काल वास्तवमें स्वतंत्र द्रव्य है, उसके माननेपर ही लोकमें काल (समय)का व्यवहार प्रचलित है; अन्यथा इतना प्रबल व्यवहार कभी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि कालको स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना जाय किंतु जिन समस्त द्रव्योंके परिणमनके साथ कालका व्यवहार होता है, उन्हीं समस्त द्रव्योंका ही वह स्वरूप समझा जाय, तो फिर कालका स्वतंत्र प्रयोग और द्रव्योंके साथ जुदा प्रयोग नहीं होना चाहिये। कालका स्वतंत्र प्रयोग द्रव्योंका साथ छोडकर भी होता है; जैसे एक वर्ष काल बीत गया। यह प्रयोग किसी द्रव्यके साथ

अथवा किसी द्रव्यके परिणमनकी अपेक्षासे नहीं किया गया है, किंतु स्वतंत्र है । इसीप्रकार जहां द्रव्योंके परिणामोंके साथ कालका प्रयोग होता है, वहां भी जुदा ही होता है; जैसे 'यह बालक १ वर्षका है'। यहांपर यह बात कम जानकारकी समझमें भी आजाती है कि बालकके साथ जो १ वर्षका प्रयोग है, वह बालकसे भिन्न पदार्थ है। यदि बालककी पर्यायोंका नाम ही एक वर्ष होता, तो फिर यह व्यवहार नहीं होता कि 'बालक १ वर्षका हो गया है' किंतु ऐसा होता कि 'बालक १ वर्ष है'। इसलिये कालके स्वतंत्र-प्रयोग और द्रव्योंके साथ जुदा प्रयोग होनेसे उसकी सत्ताका निश्चय किया जाता है। उसी कालद्रव्यके उपचरितप्रयोग भूतकाल, भविष्यत्काल, वर्तमानकाल होते हैं। ये उसके स्वतंत्रप्रयोग हैं और पदार्थके साथमें भी इनका प्रयोग आता है; जैसे—यह आजकल ही पैदा हुआ है, यह बहुत वर्षोंका है, यह अभी बहुत कालतक ठहरेगा। ये सब प्रयोग कालद्रव्यकी स्वतंत्र सत्ताको सिद्ध कराते हैं। इसप्रकार युक्तिसे कालद्रव्यकी सत्ता सहज ही समझमें आजाती है, तो आगमप्रमाणसे बतलाई गई कालद्रव्यकी असंख्यात संख्या माननेमें जो अविश्वास रखते हैं, वे भूलते हैं; क्योंकि जो मूलमें वस्तु न हो उसका जगत्में व्यापक-रूपसे शब्दप्रयोग एवं उसके निमित्तसे होनेवाला व्यवहार कभी नहीं हो सकता।

छठा जीवपदार्थ है। जीवका लक्षण चेतना है। जीवका स्वरूप "अस्ति पुरुषश्चिदात्मा" इस श्लोकमें कह चुके हैं; इसलिये यहांपर नहीं लिखते। इस जीवका अजीव (कर्म)के साथ संबंध होनेसे आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष ये पांच तत्त्व उन्हीं दोनोंके पर्यायस्वरूप होते हैं। इसप्रकार जीव अजीव और पांच उनकी उत्तरपर्यायें, सब मिलाकर सात तत्त्व कहलाते हैं। उनमें आस्रव और बंध ये दो पर्यायें तो

(१) श्वेतांबरजैन कालद्रव्यको नहीं मानते हैं। अन्यान्य दर्शनवाले तो प्रायः बहुभाग कालद्रव्यको स्वीकार करते हैं।

अशुद्ध जीवकी हैं तथा संवर निर्जरा और मोक्ष ये तीन पर्यायें शुद्ध जीवकी हैं। मोक्षपर्याय परमशुद्ध जीवकी है। इनमें आस्रव और बंध संसारके कारण हैं तथा संवर और निर्जरा मोक्षके कारण हैं। जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, जीवके उन परिणामोंको भावास्रव कहते हैं। जो पौद्गलिक कर्म आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। जिन जीवके परिणामोंसे बंध होता है, उन्हें भावबंध कहते हैं। जो कर्म आत्माके साथ बंधते हैं, उन्हें द्रव्यबंध कहते हैं। जिन आत्मीय भावोंसे आतेहुए कर्म रुकते हैं, उन्हें भावसंवर कहते हैं। जो कर्म रुकते हैं, उन्हें द्रव्यसंवर कहते हैं। जिन आत्मीय भावोंसे एकदेश कर्मोंका क्षय होता है, उन्हें भावनिर्जरा कहते हैं। जो कर्मोंका क्षय होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। जिन आत्मीय अत्यंत विशुद्ध परिणामोंसे समस्त कर्मोंका क्षय होता है, उन परिणामोंको भावमोक्ष कहते हैं; तथा जो समस्त कर्मोंका क्षय होता है, उसे द्रव्यमोक्ष कहते हैं। इन सात तत्त्वोंमें पुण्य और पाप ये दो और मिला दिये जांय, तो नव पदार्थ कहलाते हैं। यद्यपि पुण्य पाप जीवकी ही शुभाशुभ अवस्थायें हैं, इसलिये उनका ग्रहण आस्रव और बंधतत्त्वमें आ जाता है, फिर भी इनका जुदा ग्रहण जो किया गया है, वह प्रधानताकी अपेक्षासे किया गया है। जैसे-सब अध्यापकोंके आजाने पर कहना कि 'सब अध्यापक आगये और प्रधानाध्यापक भी आगये'। यद्यपि प्रधानाध्यापकका ग्रहण 'सब अध्यापकों'में आचुका, तथापि प्रधानताकी अपेक्षासे प्रधानाध्यापकका ग्रहण जुदा किया जाता है। इन सात तत्त्व एवं नव पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना, इसीका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है।

पांच इंद्रियोंके विषयोंमें एवं क्रोधादिक कषायोंमें मनका शिथिल होना, अथवा जिन जीवोंने अपना अपराध किया है, उनपर भी कषायभाव जाग्रत नहीं करना, इसीका नाम प्रशम है। संसारसे

भयभीत रहनेका नाम संवेग है, अर्थात् संसार एवं शरीर आदि पदार्थोंमें उदासीनता होना सो संवेग है। जीवों पर दया करनेका नाम अनुकंपा है। और आत्मामें, धर्ममें, धर्म-कारणोंमें तथा धर्मके फलमें विश्वास करना, उन सबको जैसा शास्त्रोंने प्रतिपादन किया है मानना, उनपर ही दृढता रखकर आत्मीय सुधार करना, इसीका नाम आस्तिक्य है। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य, इन चारोंका नाम भी व्यवहार-सम्यक्त्व है। जिनके इंद्रियोंके विषयोंमें लोलुपताके साथ रुचि लगी हुई है, जगत् एवं शरीरसे तीव्र राग लगा हुआ है, जीवोंपर दयाका भाव उत्पन्न ही नहीं होता, तथा आत्मापर, धर्मपर, धर्मके साधक कर्मकांड आदि पर तथा धर्मके फलस्वरूप नरकस्वर्गादि पर श्रद्धान नहीं है, जो आगममें कही-गई बातों पर प्रतीति नहीं करते हैं, अपनी कुतर्कणासे आगमके विरुद्ध कल्पनायें करते हैं, उन सबके व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है; ऐसे जीव अभद्रोंकी श्रेणीमें हैं।

व्यवहारसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्वका साधक है, और निश्चयसम्यक्त्वकी पहचान स्वानुभूतिसे होती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति इस जीवके यदि एकबार भी हो जाय, तो फिर उस जीवकी नियमसे मुक्ति होती है। अर्धपुद्गल-परावर्तनकालमें वह नियमसे मोक्ष चला जाता है। सम्यक्त्वप्राप्तिके लिये जैसे काललब्धि तथा देशनालब्धि बाह्यकारण है, वैसे क्षायोपशमिकीलब्धि, विशुद्धिलब्धि, प्रायोगिकीलब्धि तथा करण-लब्धि ये अंतरंग कारण हैं। इन लब्धियोंमें पांच लब्धियां तो भव्य तथा अभव्यके भी हो जाती हैं, परंतु करणलब्धि केवल भव्यके ही होती है। तथा करणलब्धिके होनेपर अंतर्मुहूर्तमें नियमसे उस जीवके

(१) 'खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धीया, चत्तारिवि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते।' (गो० जी० ६५१)

अर्थात्—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोगिकी, और करण, इन पांच लब्धियोंमें चार सामान्यरीतिसे भव्य अभव्य सभीके होती है। परन्तु करणलब्धि भव्यको होती है, जिस भव्यके अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। सम्यक्त्वके मूलमें तीन भेद हैं—१ औपशमिकसम्यक्त्व, २ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ३ क्षायिकसम्यक्त्व। जो सम्यक्त्व चार अनंतानुबंधि, तथा सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यङ्मिथ्यात्व-प्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है, उसे औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। जो छह प्रकृतियोंके उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। यहांपर इतना विशेष है कि सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय, क्षय, सत्तामें उपशम होना तथा केवल देश-घातियोंका उदय होना आवश्यक है। सातों प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयमें होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिक-सम्यक्त्व कहते हैं। तीनों सम्यक्त्वोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, केवल कर्मोंके उदय स्थिति आदि-की विवक्षामें भेद है। जितने अंशमें सम्यक्त्व प्रगट हो गया है, वह तीनों भेदोंमें समान* है; क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्माका निजरूप है, वह समस्त भेदोंमें आत्मीय परमानंदमय समरसका अनुभव कराता है।

---

* "मिश्रौपशमिकंनाम क्षायिकंचेति तत्त्रिधा। स्थितिबंधकृतोभेदो न भेदो रसबंधसात् ॥" (पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध ६३५)

अर्थात्—तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबंधकृत भेद है; स्थितियां तीनों सम्यक्त्वोंकी भिन्न भिन्न हैं, परन्तु अनुभागबंधकृत इनमें कोई भेद नहीं है। सभी भेदोंमें आत्माको स्वानुभूत्यात्मक आनन्दका देनेवाला एक ही सम्यक्त्वगुण है। इसीलिये रसोदयजनित कोई भेद उद्भूत हुए सम्यक्त्वगुणमें नहीं है। इसीका खुलासा नीचेके श्लोकोंसे और भी हो जाता है—

"स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बंधः स्याद्रससंज्ञकः। शेषबंधत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ ९३८ ॥

ततःस्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते। ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥ ९३९ ॥"

अर्थ—अनुभागबंध ही स्वार्थक्रिया करनेमें अर्थात् अपना फल देनेमें समर्थ है, शेष तीन बंध कुछ भी गुणोंका विघात नहीं कर सकते। इसलिये तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबंधकी अपेक्षासे सत्तामात्रमें ही भेद है उससे सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाविनी ज्ञानचेतनामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् तीनों सम्यक्त्वोंमें समानता है। उनके उद्भूत रूपमें कुछ भी स्वरूपभेद नहीं है। उक्त तीन प्रकारके सम्यक्त्वके ही, उत्पत्तिकी अपेक्षासे, दश भेद और भी हैं। और वे इसप्रकार हैं—

[दूसरे पृष्ठमें नीचेकी टिप्पणी देखो]

सम्यग्दृष्टिका आत्मा इतना प्रबल एवं निर्भीक हो जाता है कि उसे किसीप्रकारका भय नहीं होता। इसका कारण यही है कि वह सदा यही विचारा करता है कि—मैं पुद्गलसे सदैव भिन्न एवं अकेला हूं, मैं विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, ये सब विकार पुद्गलके हैं, तथा शरीर सांसारिक सुख वा दुःख पुत्र पौत्र आदि सब अनित्य हैं, मुझसे इनका कोई संबंध नहीं है, यह जीव नाना गतियोंमें कर्मवश घूमता फिरता है, कर्मोंकी प्रेरणासे एक दूसरेको साथी समझ लेता है; यह सब कर्मोंका फल है, मेरे स्वरूपसे सर्वथा जुदी बात है। सम्यग्दृष्टि आत्माके ऐसे विचारोंके कारण ही, किसीप्रकारका भय उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। वह विचारता है कि—मेरा लोक तो चैतन्यलोक है, वह सदा नित्य है;

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्। विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥११॥" (आत्मानुशासन)

अर्थ—(१) वीतराग सर्वज्ञदेवके आज्ञारूप वचनोंका श्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है। अर्थात् आप्त सर्वज्ञ श्रीजिनदेवके कथनानुसार रचे गये आचार्यप्रणीत आगम पर श्रद्धान करना "आज्ञासम्यक्त्व" है। (२) मोहनीयकर्मके शांत होनेसे परिग्रहादि-रहित कल्याणकारी अविनश्वर रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है, उसका श्रद्धान करना सो मार्गसम्यक्त्व है। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है, ऐसा श्रद्धान करना "मार्गसम्यक्त्व" है। (३) जो तीर्थंकरोंके उपदेशसे प्रगट हुए सम्यग्ज्ञानरूप आगमसमुद्र हैं, उनके तथा गणधर आचार्य श्रुतकेवली आदिके उपदेशसे उत्पन्न हुए सम्यक्त्वको "उपदेशसम्यक्त्व" कहते हैं। (४) मुनियोंके चरण समीपमें बैठकर आचार-सूत्रोंके विवरण सुननेसे, अन्तर श्रद्धान होनेसे जो सम्यक्त्व होता है, वह "सूत्रसम्यक्त्व" है। (५) मोहनीयकर्मके उपशम होनेसे किन्हीं किन्हींको जो कठिन शास्त्रोंके रहस्योंके एवं करणबीजोंके मर्मको समझनेसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह "बीजसम्यक्त्व" कहलाता है। (६) पदार्थोंको संक्षेपसे समझ कर उन पर श्रद्धान करनेसे जो सम्यक्त्व होता है, वह "संक्षेपसम्यक्त्व" है। (७) द्वादशांगवाणीको विस्तारपूर्वक सुनकर उसके समझनेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह "विस्तारसम्यक्त्व" है। (८) शास्त्रवचनोंके बिना किसी अन्य पदार्थसे उत्पन्न जो सम्यक्त्व है, वह "अर्थसम्यक्त्व" है। (९) अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यरूप श्रुतज्ञानका अवगाहन करनेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह "अवगाढसम्यक्त्व" है। और (१०) केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे जो समस्त गुणोंकी विशुद्धतासे सम्यक्त्वगुणकी परमनिर्मलता होती है, वह "परमावगाढसम्यक्त्व" है।

दूसरा मेरा कोई लोक ही नहीं है तो मुझे जन्ममरणका क्या भय ? मैं जब पुद्गलसे भिन्न चैतन्यधाममें निवास करनेवाला हूं तो मुझे कभी कोई व्याधि नहीं हो सकती, ये समस्त व्याधियां शरीरमें होती हैं। शरीर पुद्गल है, मैं अमूर्त हूं; मेरे ऊपर उन वेदनाजनित व्याधियोंका क्या प्रभाव हो सकता है ? जैसे लगी हुई अग्नि घरको जला देती है परंतु घरके आकार प्रतीत होनेवाले आकाशको तो वह नहीं जला सकती, इसीप्रकार शरीरको व्याधियां नष्ट भ्रष्ट कर सकती हैं, आकाशतुल्य अमूर्त आत्माका तो वे कुछ नहीं कर सकतीं। मेरा आत्मा नित्य सदा रहनेवाला है; पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहो, उनसे मेरे स्वरूपका कभी प्रतिघात नहीं हो सकता। लोकमें आयु, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, इन प्राणोंके नाशसे मृत्यु मानी जाती है; परंतु यह सब पुद्गलकी पुद्गलमें कल्पना है। मेरे तो चेतना ही प्राण है, उसकी कभी मृत्यु हो नहीं सकती। मैं सदा अपने अमूर्त चैतन्य स्वभावमें रहनेवाला हूं, मेरे ऊपर बिजली आदि मूर्त पदार्थोंका क्या असर हो सकता है ? मेरे ऊपर इन सब बातोंका कभी कोई प्रभाव नहीं पड सकता। ये सब विचार सम्यग्दृष्टि जीवके सदैव जागृत रहते हैं, इसलिये वह सदा निर्भीक बना रहता है। इसके विपरीत मिथ्य दृष्टि सदैव भयभीत रहता है, वह चित्तमें निरंतर व्याकुल एवं कंपायमान रहता है। उसे चिंता रहती है कि 'मैं जल्दी न मर जाऊं, मैं मरकर स्वर्ग जाऊं तो अच्छा, कहीं दुर्गतिमें चला गया तो बहुत दुःख उठाना पडेगा। मैं सदैव नीरोग बना रहूं, मुझे कोई व्याधि न हो जाय, मेरे ऊपर कहीं बिजली न गिर जाय, कोई सर्प बिच्छू सिंह आदि भयंकर जीव कहीं खा न लेवें, मैं अब वृद्ध हो चला, कहीं मर न जाऊं !' इत्यादि सभी भय मिथ्यादृष्टिको लगे रहते हैं। इसका कारण यही है कि वह जिन पुद्गलोंसे संबंध कर रहा है, उन्हींको अपना समझ रहा है; तथा अपने निजस्वरूपका उसे बोध नहीं है। इसीलिये

उसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना रहती है। सम्यग्दृष्टिके सदैव ज्ञानचेतना रहती है। क्योंकि मिथ्या-दृष्टि मोहमलीमस परिणामोंवाला है, अतएव वह स्वानुभूतिसे च्युत है; और सम्यग्दृष्टि मोहमलीमस परिणामोंसे रहित है, अतएव वह स्वानुभूतिसहित है। स्वानुभूतिसहित जीवोंके ज्ञानचेतना ही होती है, उससे रहित जीवोंके कर्मचेतना और कर्मफलचेतनायें ही होती हैं। जैसे मिथ्यादृष्टिके ज्ञानचेतना कभी नहीं होती, वैसे सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतनायें कभी नहीं होतीं।

यहांपर शंका हो सकती है कि 'जब सम्यग्दृष्टि जीव भोगसेवन करता है, इंद्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त है, इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष भी करता है, तो उसके कर्मचेतना कर्मफलचेतनायें क्यों नहीं हो सकतीं? केवल ज्ञानचेतना ही क्यों होती है?' इसका निर्णय नीचे लिखे हेतुओं और प्रमाणोंसे किया जाता है।

१—कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाओंके स्वरूप-कथनसे मिथ्यादृष्टि ही उनका स्वामी सिद्ध होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। २—सम्यग्दृष्टिके, लब्धिरूप अवस्थामें भी ज्ञानचेतना ही रहती है। ३—बाह्यपदार्थोंका उपयोग ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होता। ४—सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा, रुचिपूर्वक भोगसेवन नहीं है। ५—उसकी रागक्रिया बन्धका कारण नहीं है। ६—उसकी रागक्रिया कर्मोदयजनित क्रिया है; वह राग-पूर्वक की-गई क्रिया नहीं समझी जाती। ७—सम्यग्दृष्टिके रागभाव भी नहीं है, बंध भी नहीं है, इसलिये उसके कर्मफलचेतना भी नहीं है। ८—उसका भोगसेवन बंधहेतु नहीं किंतु निर्जराका हेतु है। ९—अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्वके अभावमें ही होती है, उसीमें बंधफल कर्मचेतना, कर्मफल चेतनायें होती हैं। १०—सम्यग्दृष्टिके सदा शुद्धोपलब्धि रहती है, इसलिये उसके सदा ज्ञानचेतना ही रहती है। अब इन दश हेतुओंका सप्रमाण खुलासा नीचे दिया जाता है—

कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका लक्षण पंचास्तिकायकी तत्त्वप्रदीपिका वृत्तिमें श्रीमत्परमपूज्य अमृतचंद्र स्वामीने यह किया है कि "एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन, प्रकृष्टतरज्ञानावरण-मुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यांतरायावसादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपं कर्मफल-मेव प्राधान्येन चेतयंते। अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभा-वेन मनाग्वीर्यांतरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखानुरूपकर्मफलानुभवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयंते।" अर्थात् ज्ञानवरण दर्शनावरण वीर्यांतराय और मोहनीय-कर्मोदयवश सुखदुःखरूप कर्मफलको भोगनेकी जहां प्रधानता है, वहां कर्मफलचेतना होती है। तथा उक्त कर्मोंके उदयसहित जहां इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेषमोहपूर्वक कार्य करनेका उद्योग प्रधान है अर्थात् राग-द्वेषमोह-विशिष्ट बुद्धिपूर्वक कर्म करनेकी प्रधानता है, वहां कर्मचेतना होती है। इसी बातको स्वामी जय-सेनाचार्यने पुष्ट किया है; साथ ही उन्होंने "निर्मलशुद्धात्मानुभूत्यभावोपार्जितप्रकृष्टतरमोहमलीमसेन चेतकभावेन प्रच्छादितसामर्थ्यः" यह विशेषण कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनोंके लिए दिया है।

स्वामी अमृतचंद्राचार्य और स्वामी जयसेनाचार्यने दोनों चेतनाओंके स्वरूपमें 'मोहमलीमस' विशेषण दिया है। यह शब्द मिथ्यात्वकर्मके उदयमें ही सर्वत्र आता है, चारित्रमोहनीयके उदयके लिये 'रागद्वेषमलीमस' विशेषण दिया जाता है। रागद्वेष और मोह, इनमें मोह शब्दसे मिथ्यात्वका ही ग्रहण है। जैसेकि रत्नकरण्डश्रावकाचारके इस श्लोकमें किया गया है—"मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥" अर्थात् मोह (मिथ्यात्व)-रूपी अंधकारके नष्ट हो जानेसे सम्यग्दर्शनके लाभसे जिसको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो गई है, ऐसा साधुपुरुष रागद्वेष (चारित्रमोह

नीय)-की निवृत्तिके लिये चारित्र धारण करता है। श्रीसमयसारमें भी मोह शब्दसे मिथ्यात्वका ही ग्रहण किया गया है; यथा—"जो मोहंतु मुइत्ता" आदि (गाथा १३४)। स्वामी अमृतचंद्राचार्यने "रागद्वेषमोहाः" कहा है, वहां भी मोह शब्दसे मिथ्यात्वका ही ग्रहण है। अन्यथा रागद्वेषका प्रयोग व्यर्थ पडता है। अतः प्रकृतमें 'मोहमलीमस' विशेषण सिद्ध करता है कि कर्मफलचेतना और कर्मचेतनाका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। सम्यग्दृष्टि तो मोहमलीमस (मोहसहित) न होकर निर्मोह (मोहरहित) है; इसलिये उसके उक्त दोनों चेतनायें नहीं हो सकतीं।

मोहमलीमसता एवं निर्मल शुद्धात्मानुभूतिका अभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है, सम्यग्दृष्टिके लब्धिरूप सद्भाव सदैव रहता है। बाह्यपदार्थोंकी उपयोगावस्थामें भी उसका अभाव कभी नहीं कहा जासकता। चाहे आत्मा बाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त हो अथवा न हो, वह स्वानुभूतिवाला सदैव है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिका परस्पर अविनाभाव है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका स्वामी स्वानुभूतिके अभाववाला बतलाया गया है। इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि वह मिथ्यादृष्टि होता है। 'निर्मलशुद्धात्मानुभूतिके अभावमें उपार्जित जो मोहमलिनमा' इस वाक्यसे तो स्पष्ट सिद्ध है कि कर्म एवं कर्मफलचेतनाओंका स्वामी मिथ्यादृष्टि ही बतलाया गया है। आगे चलकर स्वामी जयसेनाचार्य और भी इस बातको विशद करते हैं; वे तात्पर्यवृत्तिमें लिखते हैं—"निर्विकारपरमानंदैकस्वभावमात्मसुखमलभमानाःसंतो विशेषरागद्वेषरूपा तु या कर्मचेतना तत्सहितं कर्मफलमनुभवंति।" अर्थात् विकार-रहित परमआनंदस्वरूप

---

(१) "गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥" (रत्नकरंडश्रावकाचार)
अर्थात्—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग पर आरूढ है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि नहीं, इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनिसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

अद्वितीय स्वभाववाला जो आत्मीय सुख है, उसे नहीं प्राप्त होनेवाले पुरुष विशेष रागद्वेषरूप कर्मचेतना तथा उस-सहित कर्मके फलका (कर्मफलचेतनाका) अनुभव करते हैं। आत्मीयसुखसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव ही होता है। सम्यग्दृष्टिको आत्मसुखसे रहित नहीं बतलाया गया है। इस कथनसे कर्म कर्मफल-चेतनाओंका स्वामी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, यह बात स्पष्टरीतिसे सिद्ध हो चुकी।

समयसारकार स्वामी कुंदकुंद मुनिराजने चेतनाको दो भेदोंमें बांटा है,-१ ज्ञानचेतना, २ अज्ञान-चेतना। अज्ञानचेतनाके उन्होंने दो भेद किए हैं-१ कर्मचेतना और २ कर्मफलचेतना। मूलगाथा इस-प्रकार है-"वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणइ कम्मफलं। सो तं पुणोवि बंधदि बीजं दुःखस्स अट्ठविहं।" इसीप्रकार दो गाथायें और हैं, जिनमें अज्ञानचेतनाओंका वर्णन है (गाथा-४१७, ४१८, ४१९)। इन्हीं गाथाओंके आशयको स्वामी अमृतचंद्रसूरिने स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं-"ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना द्विविधा भवति, इयं तावत् अज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते,-उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद्भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति। मयाकृतं कर्मेति च भणति। स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं? बीजकारणं। कस्य? दुःखस्य।"

यहांपर कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाको अज्ञानचेतनाके नामसे प्रगट किया गया है। यदि इन दोनों चेतनाओंका स्वामी सम्यग्दृष्टि जीव भी होता, तो "अज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद्भ्रष्टो भूत्वा" ये विशेषण उसके लिये कभी नहीं आ सकते थे। सम्यग्दृष्टि यदि बाह्यपदार्थोंमें भी उपयुक्त हो, तो भी वह स्वस्थभाव (आत्मीयभाव)से भ्रष्ट नहीं कहा जा सकता, और न वह अज्ञानीके नामसे ही कहा जाता है। अज्ञानी संज्ञा मिथ्यादृष्टिके लिये ही सर्वत्र आती है। यथा-"एकः सम्यग्दृगात्मासौ केवलं ज्ञानवानिह।

ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥" आगे चलकर तात्पर्यवृत्तिकार दोनों चेतनाओंके अर्थको और भी विशद करते हैं; वे लिखते हैं—"कर्मचेतना कोर्थः ? इतिचेत् मदीयं कर्म मयाकृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपराग शुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत् सो बंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते । कर्मफलचेतना कोर्थः ? इतिचेत् स्वस्थभावरहितेन अज्ञानभावेन यथासम्भवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत् सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते ।" अर्थात्—यह मेरा कर्म है, मैंने इस कर्मको किया है, इसप्रकार ईहापूर्वक इष्ट-अनिष्टरूप अज्ञानभावसे उपरागरहित शुद्धात्मानुभूतिसे च्युत जीवके मन-वचन-कायका जो व्यापार है, वही बंध-कारणस्वरूप कर्मचेतना कही जाती है । तथा स्वस्थभावसे रहित, अज्ञानभावने यथासंभव ईहापूर्वक प्रगट-अप्रगट स्वभावरूप इष्ट-अनिष्ट विकल्प परिणामोंसे हर्षविषादस्वरूप जो सुखदुःखका अनुभव किया जाता है, वह बंध-कारणभूत कर्मचेतना कहलाती है ।

आत्मानुभूति-च्युत जीवके स्वस्थभाव-रहित अज्ञानभावसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है; दोनों ही बंधकारणस्वरूप हैं । सम्यग्दृष्टिको दुःखबीज कर्मबंधका कर्ता भी नहीं कहा गया है, क्योंकि वह अस्ताभिलाषी है । इस बातको आगे व्यक्त करेंगे । स्वामी अमृतचन्द्रसूरिने आत्मख्याति टीका पृष्ठ १९५ पर लिखा है कि "ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना ॥" दोनों चेतनाओंको संसारबीज बतलाया है । सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानसे भिन्न अज्ञानभावोंमें वेदन नहीं करता; इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मफलचेतना तथा कर्मचेतना दोनों ही नहीं होतीं, यह बात ऊपरके समस्त प्रमाणोंसे निर्णीत हो चुकी ।

अब कर्मचेतना और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टिके क्यों नहीं हो सकती, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है। सम्यग्दृष्टिके कर्म कर्मफलचेतना माननेवाले यही एक हेतु देते हैं कि 'जब वह आत्मानुभूतिसे हटकर आरंभ परिग्रह भोगोंमें अपने उपयोगको लगाता है, रागद्वेषपूर्वक किसी कामको करता है तथा विषयभोगोंमें अनुरक्त होता है, उससमय उसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कही जायगी।' यह कथन युक्ति और सिद्धांत दोनोंसे ही प्रतिकूल पडता है। पहले तो आत्मानुभूति और रागद्वेषपूर्वक काम करनेका कोई संबंध ही नहीं है। आत्मानुभूति मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धिकर्मके अभावमें प्रगट होती है, और रागद्वेषकी प्रवृत्ति चारित्रमोहनीयके उदयसे होती है। इस कार्य-कारणकी विचारणासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जहां चारित्रमोहनीयके उदयसे रागद्वेषपूर्वक जीवकी प्रवृत्ति है, वहां मिथ्यात्वका अभाव हो तो आत्मानुभूति भी होती रहती है। जीवका उपयोग स्वानुभूतिमात्रमें हो, अथवा स्वानुभूति लब्धिरूप ही रहे और उपयोग बाह्यपदार्थोंमें हो, तो भी रागद्वेषसे उसका कोई संबंध नहीं है। उपयोग ज्ञानात्मक है। उसीके लब्धि और उपयोग दो भेद हैं। क्षयोपशमरूप जितने भी ज्ञान हैं सभी संक्रमणात्मक हैं। वे सदा अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण करते ही रहते हैं। उनमें कोई ज्ञान मनसे साक्षात् उत्पन्न होता है; किसीमें मनकी परम्परा निमित्तता है। इसीलिये एक समयमें एक ही उपयोग क्षयोपशमज्ञानधारियोंके होता है। केवलज्ञान क्षायिक है; उसमें मनकी निमित्तता किसीप्रकार नहीं है; इसलिये वह स्वोपयोगी और परोपयोगीरूप सदा एक साथ ही रहता है। इसीलिये उसे संक्रमणात्मक नहीं कहा गया है। हां, परपदार्थोंमें उसका भी पदार्थोंके संक्रमणसे संक्रमण होता है, परंतु आत्मोपयोग तथा परोपयोग दोनोंमें कभी व्युच्छित्ति नहीं आती; इसलिये उसे संक्रमणमें शामिल नहीं किया जाता।

इसप्रकारका संक्रमण शुद्धात्मानुभूतिमें बाधक नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि केवलज्ञान वीतराग है; क्षयोपशम-ज्ञान सराग है। इसी सरागता और वीतरागताके कारण सम्यक्त्वको भी कोई कोई सराग और वीतराग समझकर सराग-सम्यक्त्वीके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना भी कह देते हैं। और वीत-राग-सम्यग्दृष्टिके (केवलज्ञानीके) केवलज्ञानचेतना कहते हैं। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना वहींपर होती है, जहां अभिलाषापूर्वक (रुचिपूर्वक) एवं अज्ञानभावसे रागद्वेषपूर्वक कर्म किया जाता है। सम्यग्दृष्टिके जो रागद्वेष है, वह केवल चारित्रमोहनीयके उदयसे है। मिथ्यात्व-मिश्रित न होनेसे वह कर्मबंधक नहीं माना गया। चारित्रमोहनीयका उदय, और उपयोगमें उपयोगान्तर जोकि क्षयोपशम-ज्ञानका स्वभाव है, दोनों ही सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं हैं। इसी बातको पञ्चाध्यायीकी कतिपय कारिकाओंसे स्पष्ट किया जाता है—

"हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः। प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

दृग्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्। न भवेद्विघ्नकरः कश्चित् चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥"

अर्थात्—शुद्धात्मानुभवमें मिथ्यात्वका उपशम हेतु है। मिथ्यात्वकर्मका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक है, वह उसका प्रतिपक्षी है। दर्शनमोहनीयके अस्त होनेपर अर्थात् अनुदय होने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है; उसमें चारित्रमोहनीयका उदय बाधक नहीं हो सकता। उपयोगके विषयमें कहते हैं—

"स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः। उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥ ८६५ ॥"

अर्थात्—ज्ञान चाहे स्वोपयुक्त हो या परोपयुक्त हो, दोनों ही अवस्थामें कोई गुण दोष नहीं है। ज्ञानोपयोगके परिवर्तनसे सम्यग्दर्शनमें कुछ गुण दोष नहीं होता है,—

"चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया । न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६७ ॥"

ज्ञान पदार्थोंमें लीलामात्रसे घूमता फिरता है, वह प्रत्येक पदार्थको जानता हुआ न तो कोई दोष पैदा करता है और न कोई गुण पैदा करता है। अर्थात् ज्ञानगुणका कार्य प्रत्येक पदार्थको जाननामात्र है, उसका सम्यक्त्वके गुणदोषसे कुछ प्रयोजन नहीं है। यहां दोषसे प्रयोजन सम्यग्दर्शनकी हानिसे है और गुणसे प्रयोजन उसकी उत्पत्ति और वृद्धिमें है। यह बात श्रीपंचाध्यायीके ८६८, ८६९, ८७०, ८७१ और ८७२वें श्लोकोंसे जानना चाहिये। ज्ञान दर्शन कहांतक सविकल्प कहे जाते हैं, सो कहते हैं—

"हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतं। आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकं ॥ ९१४ ॥
ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकं। शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९१५ ॥
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्मा शुद्धचेतना। अस्तीति वासनोन्मेषः कथंचित् स न सन्निह ॥ ९१६ ॥"

अर्थ—स्थूलपदार्थको लक्ष्य रखनेवाले जिन प्रसिद्ध पुरुषोंने केवल रागरूप हेतुसे ऐसा कहा है, उनका कहना है कि प्रमत्तगुणस्थानपर्यंत सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही सविकल्पक हैं। प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं, वही शुक्लध्यान कहलाता है। और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है। किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके 'प्रमत्त जीवोंके विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्धचेतना नहीं हो सकती है' इसप्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है। भावार्थ—जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'प्रमत्तगुणस्थान पर्यंत बुद्धिपूर्वक राग होता है, इसलिये वहांतक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्पक हैं; सविकल्पअवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है, अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है, नीचे नहीं' उनके लिये आचार्य कहते हैं कि—ऐसा कहनेवाले यथार्थवस्तुके विचारक नहीं हैं। क्यों नहीं हैं, सो बताते हैं—

"यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत् परं। परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणंचापि पराश्रितं ॥ ११७ ॥"

अर्थ—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुणदोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सकता; इसीप्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुणदोषोंको अपने आश्रित नहीं बना सकता। अर्थात् जिस आश्रयमें जो दोष अथवा गुण होता है, वह दोष अथवा गुण उसी आश्रयमें हो सकता है; अन्य किसी आश्रयमें नहीं हो सकता। यहांपर जो प्रमादावस्थामें रागद्वेषपूर्वक प्रवृत्तिके समय शुद्धचेतनाका अभाव मानते हैं, उन्हींके उत्तरमें यह ऊपरका श्लोक कहा गया है। और भी देखिये—

"पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुट। सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ११८ ॥"

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मका पाक होनेसे राग होता है। राग आत्माका औदयिकभाव है, अर्थात् कर्मोंके उदयसे होनेवाला है। वह औदयिकभाव अनुदयस्वरूप सम्यक्त्व अथवा ज्ञानमें किसप्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। और भी विशेष स्पष्ट करते हैं—

"अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोयं बुद्धिपूर्वकः। नूनं हेतुं क्षमो न स्यात ज्ञानसंचेतनामिमां ॥ ११९ ॥"

अर्थ—बुद्धिपूर्वक रागभाव सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता है; इसलिये वह सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना (लब्धिरूप)-का भी घात नियमसे नहीं कर सकता है। अर्थात् रागभाव आत्माके चारित्रगुणका ही विघात करेगा, वह न तो सम्यक्त्वका ही विघात कर सकता है और न ज्ञानचेतनाका ही विघात कर सकता है। राग चारित्रका ही प्रतिपक्षी है, दोनों (सम्यक्त्व और चारित्र)का नहीं है; इसलिये चतुर्थगुणस्थानमें भी ज्ञानचेतना होती है। उसका कोई बाधक नहीं है।

"तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः। सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥"

अर्थात् आत्मानुभूति आत्माका विशेष ज्ञान है। वह आत्मानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेकसे अविनाभाविनी है। अर्थात दोनोंकी समव्याप्ति है। इसीकी स्पष्टता और भी नीचेके श्लोकसे होती है—"सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः। सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥"

अर्थात् ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है, तभी तक सम्यक्त्व है; और जबतक सम्यक्त्व है, तभीतक ज्ञानचेतना है। इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो भाव सम्यक्त्वका घातक होगा वही ज्ञानचेतनाका भी घातक होगा, और जो सम्यक्त्वका घातक नहीं है वह ज्ञानचेतनाका भी घातक नहीं होगा।

परोपयोगके समय यदि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना न मानकर कर्मचेतना मानी जाय तो सम्यक्त्वका अभाव भी उससमय मानना पडेगा। इसलिये यह निर्णीत बात है कि जिससमय सम्यग्दृष्टिके स्वात्माके विषयमें अनुपयुक्त अवस्था है अर्थात् लब्धिरूप स्वानुभूति है। उससमय भी उसके ज्ञानचेतना ही है, ज्ञान-चेतनाका अभाव उसके किसी समय भी नहीं है। रागद्वेषपूर्वक प्रवृत्तिके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्धोपलब्धि होती है या नहीं? यदि होती है, तब तो उससमय सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं बन सकती। यदि उससमय शुद्धोपलब्धि नहीं स्वीकार की जाय तो उससमय सम्यक्त्वका भी निषेध करना होगा; इसलिये अगत्या यह बात स्वीकार करनी पडती है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें हरसमय ज्ञानचेतना है। जिससमय सम्यग्दृष्टि रागक्रियामें उपयुक्त है उससमय वह सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, जिस समय वह केवल स्वात्मोपयोगमें अनुरक्त है उससमय वह भी निर्विकल्पक कहा जाता है। सराग सम्य-ग्दृष्टिके जो ज्ञानचेतना नहीं मानते हैं अथवा सम्यग्दृष्टिके सरागी और वीतरागी ऐसे जो दो भेद करते

हैं, उनके लिये आचार्य खेद प्रकाशित करते हुए उनके शास्त्राभ्यासको भी व्यर्थ बतलाते हैं एवं उन्हें दुराशय बतलाते हैं–

"व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्। निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम्। तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना। सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः। प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना॥
इति प्रज्ञापराधेन ये वदंति दुराशयाः। तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम्॥"

इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है कि जो लोग 'एक सरागसम्यक्त्व एक वीतरागसम्यक्त्व' ऐसे सम्यक्त्वके दो भेद करके सरागसम्यग्दृष्टिके प्रतीतिमात्र मानते हैं, केवल वीतरागसम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना मानते हैं, ऐसे पुरुषोंके श्रुताभ्यासको श्रीआचार्य महाराज व्यर्थ ही बताते हैं। इन्हीं श्लोकोंके आगे यदि श्रीपंचाध्यायीका स्वाध्याय किया जाय तो विदित हो जायगा कि सरागता एवं उपयोगांतरता सम्यग्दर्शनके विशेषण ही नहीं हैं, किंतु उपयोगांतरता ज्ञानकी लीला है और सरागता चारित्रमोहनीयकी उदयरूप अवस्था है। प्रतिपक्षी कर्मोंके अभावमें सम्यक्त्व तो सदा टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है, उसको सराग मानना सिद्धांतविरुद्ध है। जहांकहीं ऐसे भेद किये गये हैं, वहां स्थूलदृष्टिसे किये गये हैं अथवा चारित्रकी सहयोजनासे किए गए हैं, जोकि गुणस्थान क्रमवृत्तिके सूचक हैं। सम्यक्त्वमात्रकी स्वरूप-विवेचनामें उक्त दोनों भेदोंका उल्लेख करना कार्य-कारणभावका विघात करना है एवं कार्य-सांकर्य तथा गुण-सांकर्य करना है। रागादि परिणामोंको सम्यक्त्वमें सर्वथा अकिंचित्कर समझकर ग्रन्थकारने यही निष्कर्ष निकाला है कि जहां सम्यक्त्व है वहां ज्ञानचेतना अवश्य है। यथा–

"तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि। तद्यथावश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥"

इसका अभिप्राय यही है कि सम्यग्दर्शन वास्तवमें एकरूप ही है, उसके सराग वीतराग आदि भेद नहीं हैं, और जहां सम्यक्त्व है वहां नियमसे ज्ञानचेतना है। ऊपरके कतिपय श्लोकों-द्वारा यह सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना क्यों नहीं होती। अब नीचे कुछ श्लोकों-द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि सम्यग्दृष्टिके हर समय ज्ञानचेतना ही रहती है।

"किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना। अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वा खंडैकधारया ॥"

इस श्लोकमें 'सर्वस्य-नित्य-अव्युच्छिन्नप्रवाहेन-अखण्डैकधारया' ये चारों ही पद स्पष्ट प्रगट करते हैं कि सम्यग्दृष्टिको चाहे किसी नामसे क्यों न कहा जाय, उसके हर समय अव्युच्छिन्न प्रवाहसे, निरंतर रूपसे, अखण्ड धारारूपसे ज्ञानचेतना रहती है। नित्य ज्ञानचेतना क्यों रहती है, इसके लिये हेतु यह है—

"हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह। ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ ८१३ ॥"

अर्थात् सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनालब्धि नित्य रहती है, उसके आवरण-कर्मका क्षय हो जाता है; इसलिये अन्वयरूपसे सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतना रहती है। आचार्य बारबार स्पष्ट कथन करते हैं कि जहां सम्यक्त्व है वहां सदा शुद्धात्माकी ही उपलब्धि है। यदि उपयोगांतर-अवस्थामें किसी समय शुद्धात्मोपलब्धिका अभाव कहा जायगा तो वैसी अवस्थामें सम्यक्त्वका भी अभाव कहना चाहिये। इसीको इस श्लोकार्धसे उन्होंने पुष्ट किया है—"शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्" अर्थात् यदि शुद्धचेतना है तो सम्यक्त्व है, यदि शुद्धचेतना नहीं है तो सम्यक्त्व भी नहीं है। सम्यग्दृष्टिके प्रतिसमय ज्ञानचेतना रहती है, इस विषयमें अधिक प्रमाण देनेसे और भी विस्तार हो जायगा। उपर्युक्त प्रमाणोंसे

प्रकृतकी सिद्धिमें पुष्टि भी पर्याप्त हो चुकी। यदि यह शंका उठाई जाय कि 'जिसप्रकार मतिज्ञान श्रुत-ज्ञान दोनोंकी लब्धि एक साथ है परंतु उपयोग एकका ही होता है, उसीप्रकार जिससमय ज्ञानचेतना उपयोगात्मक नहीं है उससमय उपयोगात्मक कोई चेतना अवश्य माननी होगी। वह कर्म कर्मफलचेतना ही होगी।' यहांपर पहले तो दृष्टांत दार्ष्टांतका संबंध ही कोई नहीं बैठता। यदि मतिश्रुतके समान चेत-नाओंकी भी भिन्न भिन्न लब्धि एक आत्मामें एकसाथ होती, तब तो एक समयमें एक उपयोगके लिये मतिश्रुतका दृष्टांत देना ठीक भी था। दूसरे, जिस जीवके सम्यग्ज्ञानरूप लब्धि है उसके क्या कभी मिथ्याज्ञान भी उपयोगात्मक हो सकता है? एक समयमें एक ही उपयोगात्मक होता है, इसका निषेध तो हम भी नहीं करते हैं परंतु 'लब्धि किसीकी हो और उपयोग किसीका हो' इसका निषेध अवश्य करते हैं। जिसकी लब्धि होती है उसीका उपयोग हो सकता है।

यदि सुमति सुश्रुतकी लब्धि है, तब उपयोगमें कुमति अथवा कुश्रुत प्रगट नहीं हो सकते। इसी प्रकार दृष्टांतमें विचार करना आवश्यक है। स्वानुभूति कब होती है? जब मिथ्यात्वके अभावसे सम्यक्त्व प्रगट होता है। उसके साथ मतिज्ञानावरणीयकर्मका भी विशेष क्षयोपशम होता है, तभी स्वानुभूति होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होता है तभी स्वानुभूति होती है। ऐसी अवस्थामें उपयोग किसी अवस्थामें क्यों न हो, यदि चेतना उपयोगरूपमें प्रगट होगी तो वह ज्ञानचेतना ही होगी; जिसप्रकार सर्पमें रस्सीका भान एवं सीपमें चांदीका भान होनेपर भी सम्यग्ज्ञानीका उपयोग सदा सम्यग्ज्ञानरूप ही रहता है। उसका भी कारण यह है कि केवल बाह्यसाधकोंमें दूषण है, दृष्टिदोष अथवा प्रकाशाभावसे ऐसा होता है। अंतरंगमें ज्ञानको दूषित बनानेवाला वहां कारण न होनेसे

सम्यग्दृष्टिका बोध सदा सम्यक्‌बोध ही कहलाता है । इसीप्रकार स्वानुभूतिरूप ज्ञानचेतनाकी लब्धि होनेसे उपयोगांतर होनेपर भी उपयोग सदा ज्ञानचेतनारूप ही कहा जाता है । स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशम एवं मिथ्यात्वकर्मके अभावमें उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाको चारित्रमोहका उदय और ज्ञानका उपयोगांतर हटा नहीं सकते, और न सर्पमें रस्सीके बोधके समान अभिलाषा-विहीन रागक्रिया कर्म-चेतनाको ही उत्पन्न कर सकती है। इसलिये यह असंभव है कि लब्धिमें चेतना ज्ञानरूप हो और उपयोगमें वह कर्मरूपसे प्रगट हो। यहांपर विचार करनेकी बात यह है कि जिस रागक्रियासे कर्मचेतना होती है अथवा भोगोंकी जिस अनुरक्तिसे कर्मचेतना एवं उनके अनुभवनसे कर्मफलचेतना होती है, वह राग-क्रिया अथवा भोगोंमें अनुराग अभिलाषापूर्वक होता है। अभिलाषा अथवा रुचिपूर्वक ही रागद्वेषसे किये गये कामों-द्वारा दुःखबीज कर्मबंध होता है तथा वही बंधकारणभूत रागद्वेषपूर्वक होनेवाली बुद्धि-पूर्वक क्रिया कर्मचेतना कही जाती है । परन्तु सम्यग्दृष्टिकी जितनी भी क्रियाएं हैं, वे न तो बंधकी कारण ही कही जाती हैं और न रागक्रियाके नामसे ही कही जाती हैं। उसके रागभाव होते हुए भी उसे रागक्रियारहित कहा गया है। इसीसे सिद्ध होता है कि जहां बंधकारणभूत अभिलाषा रुचिपूर्वक रागक्रिया है, वही कर्मचेतनाके नामसे कही जाती है। सम्यग्दृष्टि बंध करता है, परंतु उसका बंध 'बंध' नहीं कहा जाता, प्रत्युतः उसकी क्रिया निर्जराका कारण कही जाती है । जैसा कि भाषा छन्दसे कहा गया है—"ज्ञानीको तो भोगनिर्जरा हेतु हैं, अज्ञानीको भोगबन्ध फल देते हैं।" इसी बातको पंचाध्यायी-कारने इसप्रकार कहा है—

"आस्तां न बंधहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया। चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥ २३० ॥

क्रिया साधारणी वृत्तिः ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा । अज्ञानिनः क्रिया बंधहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥"

सम्यग्दृष्टिकी कर्मजा क्रिया बंधका कारण तो है ही नहीं, वह उलटी निर्जराका कारण है। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंकी क्रिया यद्यपि समान है, तथापि अज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण है, ज्ञानीकी क्रिया बन्धकारण नहीं है किंतु वह निर्जराका कारण है। ऐसी अवस्थामें सम्यग्दृष्टिके रागद्वेषपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अपेक्षा कर्मचेतना कहना नितांत असंगत एवं सिद्धांतबाधित है। सम्यग्दृष्टि रागी भी वास्तवमें नहीं है। यथा—

"सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम्। निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥"

इस श्लोकसे स्पष्ट किया गया है कि सम्यग्दृष्टि वीतरागी है, उसके अरुचिपूर्वक की गई क्रिया रागमें शामिल नहीं की जा सकती। नीचेके श्लोक-द्वारा यह बात पंचाध्यायीकारने बिलकुल स्पष्ट कर दी है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका फल बन्ध है। सम्यग्दृष्टिके रागका अभाव है, इसलिये उसके बंध नहीं होता; अतएव उसके ज्ञानचेतना ही है। श्लोक यह है—

"चेतनायाः फलं बंधस्तत्फले वाऽथ कर्मणि। रागाभावान्न बंधोऽस्ति तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥"

अर्थ ऊपर किया जा चुका है। और भी विशदता देखिये—

"सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः। नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥"

अर्थ—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंको सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है, बिना इच्छाके अर्थात् बिना रुचिके किया हुआ कर्म (क्रिया) वीतरागीके रागके लिये नहीं होता है। नीचेके श्लोकसे सम्यग्दृष्टिके अभिलाषाका निषेध किया गया है। यथा—

"कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियां। नेच्छेत्कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥"

इस श्लोकसे क्या यह बात अवशिष्ट रह जाती है कि अभिलाषापूर्वक की गई क्रिया ही कर्मचेतनामें सामिल की जाती है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दृष्टिके अभिलाषाका इस श्लोकसे निषेध किया गया है। रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है, यह बात भी नीचे स्पष्ट की जाती है—

"वैषयिकसुखे न स्याद् रागभावः सुदृष्टिनां। रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटं ॥"

सम्यग्दृष्टिके रागभाव नहीं होता किंतु मिथ्यादृष्टिके ही होता है; इसलिये उसकी समस्त क्रियायें कर्मोदयजनित हैं, वे रागपूर्वक नहीं समझी जातीं। ऐसी अवस्थामें उसके रागपूर्वक बंध करनेवाली कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी नहीं होती। ऊपरके समस्त श्लोकोंसे यह परिणाम निकल चुका है कि सम्यग्दृष्टिकी स्वोपलब्धि चाहे उपयुक्त हो चाहे अनुपयुक्त हो, चाहे वह भोगसेवनमें उपयुक्त हो चाहे अन्य क्रियाओंमें उपयुक्त हो परंतु वह न तो रागी है और न बंध करनेवाला ही है। तथा उसकी उपलब्धि प्रत्येक अवस्थामें शुद्ध है, सम्यग्दृष्टि सदा शुद्धोपलब्धिवाला है। मिथ्यादृष्टिकी उपलब्धि ही अशुद्ध होती है, इसलिये वही बंध करनेवाला है और उसीके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना होती है। सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि भी कभी नहीं होती, यह बात ऊपर सप्रमाण कही गई है। बंध भी नहीं होता, इसलिये उसके कर्मचेतना कर्मफलचेतनायें भी नहीं होतीं, यह बात नीचेके श्लोकोंसे भी प्रगट होती है—"उपलब्धिरशुद्धासा परिणामक्रियामयी। अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किंतु कर्मतत्फलचेतना ॥ २१३ ॥"

अर्थ ऊपर किया जा चुका है। इस अशुद्धोपलब्धिका स्वामी मिथ्यादृष्टि ही बतलाया गया है।

इस प्रकरणका पूर्वापर स्वाध्याय करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रमाणके लिये एक श्लोक उन्हीं श्लोकोंके आगेका नीचे दिया जाता है—

"इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः। अस्ति साधारणी वृत्तिर्न स्यात्सम्यक्त्वकारणम् ॥ २१४ ॥"

अर्थात्—अशुद्धोपलब्धि संसारी मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है, क्योंकि वह ज्ञानाभास अवस्थामें होती है; यह बात ऊपरके श्लोकमें प्रगट कर दी गई है। ज्ञानाभास मिथ्यादृष्टीके ही कहा गया है। जहां अशुद्धोपलब्धि है वहीं कर्मचेतना कर्मफलचेतनाएं होती हैं। इसप्रकारकी अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्व-पूर्वक नहीं होती है किंतु मिथ्यात्वपूर्वक ही होती है; जैसा कि—"अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्" इस श्लोकार्धसे स्पष्ट है।

उपर्युक्त कथनसे इस बातका पूर्ण खुलासा हो जाता है कि सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि न होनेसे उसके कर्मफलचेतनायें नहीं होतीं। सम्यग्दृष्टिके सदा शुद्धोपलब्धि ही होती है, अन्यथा उसके सम्य-क्त्वका भी अभाव मानना पडेगा। यह बात ऊपर स्पष्ट करचुके हैं; जैसा कि—"शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्" इस पूर्व कथित श्लोकार्धसे स्पष्ट है। सम्यग्दृष्टिके उपलब्धि सदा शुद्ध ही होती है, इस बातका पंचाध्यायीकारने अनेक श्लोकों-द्वारा शंका समाधानपूर्वक पुष्ट किया है। यथा—

"सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना। सत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥ २१७ ॥"

अर्थात् सम्यक्त्वके सद्भावमें शुद्धात्मोपलब्धि ही होती है और उसमें बन्ध नहीं होता, तथा सम्य-क्त्वके अभावमें ही अशुद्धोपलब्धि होती है, उसीका फल बंध कहा गया है। यह बात ऊपर खुलासा की जा चुकी है कि बंध अशुद्धोपलब्धिमें ही होता है, जहां बंधफला—अशुद्धोपलब्धि है, वहीं कर्मचेतना

कर्मफलचेतनायें होती हैं । सम्यक्त्वके सद्भावमें सदा शुद्धोपलब्धि ही रहती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि केवल ज्ञानचेतनाका ही स्वामी है ।

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें प्रथम निःशंकित अंगका स्वरूप ।

सकलमनेकांतात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(इदं) यह (सकलं) सम्पूर्ण (वस्तुजातं) वस्तुसमूह (अखिलज्ञैः) सर्वज्ञदेवने (अनेकात्मकं) अनेकांतस्वरूप (उक्तं) कहा है; (किमु) क्या (सत्यं) सत्य है (वा) अथवा (असत्यं) असत्य है (जातु) कभी (इति) इसप्रकार (शंका) शंका—संदेह (न) नहीं (कर्तव्या) करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जैनधर्म अथवा जैनागम सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है, इसलिये वह किंचिन्मात्र भी अन्यथा नहीं हो सकता है। वस्तुरूप वही अन्यथा होता है, जिसका वक्ता अल्पज्ञ और रागी-द्वेषी होता है। समस्त वस्तुओंका पूर्णज्ञान न होनेसे, बिना किसीप्रकारका रागद्वेष होनेपर भी, पदार्थका स्वरूप विपरीत कहा जा सकता है अथवा पदार्थका पूरा ज्ञान होनेपर भी रागद्वेषसे अन्यथा कहा जा सकता है। जहां रागद्वेष भी नहीं है तथा समस्त पदार्थोंका परिपूर्ण ज्ञान है अर्थात् जहां सर्वज्ञता भी है और वीतरागता भी है, वहां कभी पदार्थ-स्वरूपमें विपरीतता नहीं आती। जैनधर्मने जिन पदार्थोंका विवेचन किया है, वे सभी सर्वज्ञदेव एवं वीतरागदेव श्रीअर्हंतदेवने कहे हैं, उनसे सुनकर उनके साक्षात् शिष्यस्थानीय श्रीगणधरदेवने उन्हें प्रतिपादन किया है, उनसे उनके शिष्य श्री प्राचीन आचार्योंने उन समस्त पदार्थोंका ज्योंका-त्यों स्वरूप-विवेचन किया है; उनसे उनके शिष्य पीछे होनेवाले आचार्योंने निरूपण किया है । समस्त आचार्योंकी रचना

पूर्वाचार्योंकी प्रमाणता लिये हुए है, निजकी स्वतंत्र-विवेचनाका प्रत्येक आचार्यने अपनी कृतिमें निषेध किया है। आजतकका जैन-इतिहास देखनेसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि कोई आचार्य ऐसे नहीं हुऐ हैं जिन्होंने पूर्वाचार्योंकी कृतिको प्रमाणभूत एवं महत्वास्पद न स्वीकार किया हो। महान्से महान् आचार्योंमें प्रमुख आचार्यकी कृतिको देखनेसे भी यही बात मिलेगी कि उन्होंने अपनी रचनाको पूर्वाचार्योंकी रचनाकी प्रमाणतासे ही प्रमाण बतलाया है। श्री 'प्रमेयरत्नमाला' के रचयिता श्रीअनंतवीर्य-आचार्यने कहा है—"प्रभेंदुवचनोदारचंद्रिकाप्रसरे सति। मादृशाः क नु गण्यंते ज्योतिरिंगणसन्निभाः॥" अर्थात् श्री 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के कर्ता श्रीप्रभाचंद्राचार्यकी वचनरूपी उदार एवं विशाल चांदनीके फैलने पर हम सरीखे जुगुनू (पटवीजना)-कीसी चमकवाले पुरुष किस गणनामें सामिल हो सकते हैं। इस श्लोकको देखनेसे यह पता चलता है कि जैनाचार्योंने पूर्वाचार्योंको कितनी पूज्यता प्रदान की है। आगे और भी देखिये—"अकलंकवचोम्भोधे रुद्दध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनंदिने॥" आचार्य कहते हैं कि अकलंकस्वामीके वचनरूपी समुद्रसे जिन बुद्धिमान श्रीमाणिक्यनंदि आचार्यने न्याय-विद्यामृतको लिया, उन माणिक्यनंदि मुनिराजके लिये मैं नमस्कार करता हूं। उत्तरोत्तर प्रमाणता एवं पूज्यताका इस श्लोकसे पूरा परिज्ञान हो जाता है। इस प्रमाणतासे वचनोंकी अनुगामिता एवं मान्यता सिद्ध होती है। यही कारण है कि जैनसिद्धांतका समस्त निरूपण एक शृंखलामें चला आ रहा है, उसमें कहीं पूर्वापर विरोध नहीं है। जैनसिद्धांतने जिन पदार्थोंका विवेचन किया है वे सब युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं, इसीलिये वे प्रमाणभूत हैं। युक्ति, शास्त्रसे उनकी अविरुद्धता इसलिये सिद्ध है कि उनमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण द्वारा कोई विरोध नहीं आता। इसप्रकार जैन-

सिद्धांतमें अनेकांतस्वरूप वस्तुका जो प्रतिपादन किया गया है, वह सब सर्वज्ञकथित है। इसलिये उसमें 'यह सत्य है क्या, अथवा असत्य है क्या ?' ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिये। जैनागम जिनेंद्र-द्वारा कहा हुआ है, वह जिस रूपमें कहा गया है उसी रूपमें ठीक है। जो स्वरूप जैनागममें वस्तुओंका बतलाया गया है वह उसीप्रकार है, अन्यथा प्रकार कभी हो नहीं सकता। जो कुछ छद्मस्थोंको अन्यथा प्रतीति कभी किसी पदार्थमें होती है वह उनकी समझकी भूल है। इसलिये सदा जैनागममें दृढश्रद्धान रखना, थोडी भी शंकितवृत्ति नहीं रखना, इसी परिणामका नाम निःशंकित अंग है। यह सम्यक्त्वका प्रथम एवं प्रधान अंग है।

यहांपर यह प्रश्न खडा हो सकता है कि 'क्या कभी किसी पदार्थका स्वरूप समझमें न आनेपर भी शंका नहीं उठानी चाहिये; जबकि छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान परिपूर्ण नहीं है तब किसी पदार्थकी पूर्ण खोज हो जाना नितांत कठिन है, वैसी अवस्थामें अल्पज्ञ जीवोंके परिणामोंमें उस पदार्थ संबंधमें शंकाका उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात है; ऐसी अवस्थामें यातो सम्यग्दृष्टि पुरुषोंसे निःशंकित अंग नहीं पल सकता अथवा सर्वज्ञ सम्यग्दृष्टि ही निःशंकित अंगके पालक हो सकते हैं ?' इस प्रश्नका उत्तर इसप्रकार है—अल्पज्ञोंको किसी पदार्थमें शंकाका उत्पन्न होना स्वाभाविक बात होनेपर भी उनके निःशंकित अंग पालनेमें कोई बाधा नहीं आती। कारण शंका होनेमें और शंकितवृत्ति रखनेमें बहुत अंतर है। शंका तो हर एक पदार्थमें उठाई जासकती है और न शंकाका उत्पन्न करना सम्यक्त्वकी शिथिलताका सूचक है। सम्यग्दृष्टिको भी शंका होती है परंतु शंका होनेपर भी वह पदार्थस्वरूपपर उसीप्रकार श्रद्धा रखता है जैसाकि जैनशास्त्रोंमें उसका स्वरूप कहा गया है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि पदार्थका स्वरूप तो

जो जैनागममें लिखा है वही ठीक है, पर मेरी बुद्धि अभी वहांतक नहीं पहुंच सकी है। यह मेरी अल्पज्ञताका दोष है। इसीलिये वह शंका-द्वारा उसका स्वरूप समझनेकी चेष्टा करता है, नहीं समझमें आने पर भी वह उसकी श्रद्धासे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता। शंकितवृत्ति उसे कहते हैं कि जो पदार्थ-स्वरूप जैनागममें बताया गया है वह ठीक है या नहीं, ऐसा उसमें संदेह रखना। संदेह रखनेवाला पुरुष अपनी नासमझीपर ध्यान नहीं देता; किंतु अपनी समझके अनुसार जहांतक वह समझ लेता है उससे आगे समझसे बाहरके पदार्थस्वरूपको उलटा समझता है, इसीका नाम विपरीत श्रद्धा है; यह मिथ्यादृष्टिका लक्षण है। आजकल अनेक जैन कहलानेवालोंमें भी ऐसी ही विपरीत श्रद्धा अथवा कुबुद्धि देखनेमें आती है। जो सूक्ष्म विवेचन भरतक्षेत्र जंबूद्वीप आदि मध्यलोकका जैनागममें किया गया है वहांतक उनकी बुद्धि जाती नहीं, नहीं जानेका भी कारण यह है कि वे लोकरचनासंबंधी शास्त्रोंका स्वाध्याय तो करते नहीं किंतु प्रारंभसे भूगोलविद्याको पढ लेते हैं उसके पढनेसे उनके हृदयमें वे ही बातें स्थान पा जाती हैं उसी आधारपर वे अपनी तर्कणाओंको इधर उधर दौडाया करते हैं। वे उनकी तर्कणायें सर्वथा निर्मूल एवं युक्तिप्रमाणबाधित रहती हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि पहले शास्त्राधारसे लोकरचनासंबंधी शास्त्रोंका परिज्ञान किया जाय, पीछे भूगोलविद्याका अध्ययन भी किया जाय तो उससे फिर विपरीतबुद्धि नहीं हो सकती। इसीप्रकार चारित्र एवं पुराणोंके संबंधमें बिना उनका स्वरूप समझे और उस विषयके शास्त्रोंका रहस्य समझे, वे लोग अपने बुद्धिकौशलसे अन्यथा निरूपण करते हैं। इसका कारण यही है कि वे अपनी समझतक ही पदार्थस्वरूप समझते हैं, शास्त्रोंका रहस्य जाननेका प्रयास करते नहीं हैं, साथ ही उन्हें कुमतिज्ञानधारियोंकी प्रारंभसे ही शिक्षा दे दी जाती है। बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि वह

पदार्थको परीक्षापूर्वक ग्रहण करनेका प्रयास करता रहे, परंतु परीक्षा भी परीक्षाकोटि तक पहुंचकर ही करें। परीक्षा करनेकी योग्यता न होनेपर जो परीक्षाके लिए अपनी स्वतंत्रबुद्धिको कष्ट देते हैं, वे विद्वानोंमें कभी प्रशंसाके भाजन नहीं बन सकते। आगमके अनुकूल ही बुद्धिका विकाश एवं झुकाव करना प्रत्येक बुद्धिमानके लिये हितकारी है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जो परीक्षाकी योग्यता रखते हुए परीक्षापूर्वक पदार्थको ग्रहण करते हैं वे उसमे फिर कभी विचलित नहीं होते। इसमें भी संदेह नहीं है कि जैनधर्मकी परीक्षा करना अग्निमें तपाये-हुए सोनेके समान उसको महत्त्व देना है। जिसप्रकार सोनेको जितना अग्निमें तपाया जायगा उतना ही वह महत्त्वशाली एवं बहुमूल्य होता जायगा, उसी-प्रकार जैनधर्मकी जितनी छानबीन-पूर्वक परीक्षा की जायगी उतना ही वह महार्घ्य असाधारण हित-कारी तथा अद्वितीय सद्धर्मनिरूपक प्रतीत होता जायगा। परंतु जिन्हें सोनेकी पहचान नहीं है वे यदि सोनेको सोनेरूपमें श्रद्धान न करें, तो क्या उनकी नासमझी एवं अहितता नहीं समझी जायगी! इसी प्रकार जो जैनधर्मको परीक्षापूर्वक ग्रहण करनेमें असमर्थ बनकर श्रद्धानपूर्वक न ग्रहण करें, तो क्या उनका अहित न होगा? इसलिये परीक्षाकी योग्यता न रहनेपर श्रद्धापूर्वक ही जैनधर्मको ग्रहण करनेमे जीवोंका हित हो सकता है। जैसे जो पुरुष चतुर एवं विश्वासभाजन हितैषी वैद्य-द्वारा बतलाई गई औष-धियोंकी पहचानमें असमर्थ रहनेपर भी हितैषी वैद्यके विश्वासपर ही उन्हें खाकर लाभ उठाता है, उसी प्रकार परमहितैषी श्रुतज्ञानके पारगामी महर्षियों-द्वारा निरूपण किए-गए जैनधर्मकी पहचानमें जो असमर्थ पुरुष हैं उनका उन महर्षियोंके वचनोंपर विश्वास रखनेसे ही परमकल्याण हो जाता है। जैसे वैद्य-विद्यामें निपुण एवं हितैषी मित्र वैद्य विपरीत औषधि नहीं दे सकता, उसीप्रकार स्व-परोपकारमें लव-

लीन निस्पृही वीतरागी एवं श्रुतज्ञान-पारगामी श्रीगुरु आचार्यमहाराज विपरीत उपदेश नहीं दे सकते।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'जगत्में जितने मत प्रचलित हैं सभी ठीक हैं; हेतु यह देते हैं कि जिन्होंने उन मतोंका आदि प्रचार किया है उनके अभिप्राय बुरे नहीं थे, उन्होंने रागद्वेषसे मतोंका निर्माण नहीं किया है किंतु अच्छे अभिप्रायसे ही किया है। इसलिये हर-एक दर्शन एकदेश ठीक हैं।' ऐसा कहनेवालोंको यह विवेक नहीं है कि अच्छा अभिप्राय अथवा निष्कषाय परिणाम रहने पर भी अज्ञानवश पदार्थ अन्यथा कहा जाता है। जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षामें अच्छे अभिप्रायसे उत्तीर्ण होनेके भाव रखकर बैठता है परन्तु विपरीत लिखनेसे अनुत्तीर्ण (ना-पाश) कर दिया जाता है, यद्यपि विद्यार्थीका अभिप्राय अच्छा है परंतु अज्ञानतासे वह कुछका कुछ लिख डालता है, उसीप्रकार अल्पज्ञों-द्वारा निर्माण किये-गये दर्शन पदार्थका अनेकांत रूप नहीं बतला सकते, अथवा समस्त वस्तुओंका यथार्थस्वरूप नहीं कह सकते। अतः सर्वज्ञदेव-द्वारा प्रतिपादित दिगंबर जैनधर्म ही सच्चा है। वही वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाला है, उसीकी श्रद्धासे आत्माओंका सच्चा कल्याण एवं मोक्षलाभ होता है। सर्वत्र भटकनेसे कभी शांति नहीं मिल सकती।

इसलिये सूक्ष्मपदार्थ (धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य), अंतरितपदार्थ (द्वीप, समुद्र, सुमेरु, विदेह, भोगभूमि, नरक, स्वर्ग, आदि पदार्थ) तथा दूरवर्तीपदार्थ (जो कालकी अपेक्षासे बहुत दूर जा चुके अथवा अभी दूर हैं ऐसे राम, रावण, चक्री, कामदेव, आदि) इन सबमें सम्यग्दृष्टिको श्रद्धा रहती है। शंका हो सकती है कि 'ये सभी पदार्थ इंद्रियगोचर न होनेसे सम्यग्दृष्टिके अनुभवमें कैसे आते हैं?' इसका उत्तर यह है कि—उसके सम्यक्त्वका ऐसा ही माहात्म्य है कि उसे अमूर्त एवं मूर्त परोक्ष पदार्थों पर

आस्तिक्य भाव जागृत हो जाता है। कुछ अंशोंमें उसका ज्ञान निर्मल हो जाता है। इसलिये वह उन पदार्थोंका आस्तिक्यपूर्वक अनुभव करता है। जिसप्रकार योगियोंकी योगशक्तिका अपूर्व एवं वचनातीत माहात्म्य होता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावोंका वचनातीत माहात्म्य होता है। मिथ्यादृष्टिके मिथ्योपजीवी भाव रहनेसे वह आस्तिक्यभाव जागृत ही नहीं होता; इसलिये वह सर्वज्ञ प्रतिपादित पदार्थोंमें सदा संशयालु ही बना रहता है। समस्त आत्माओंकी शक्तियां समान हैं, फिर भी मिथ्यात्वभावके विपरिणामसे आत्मा मूर्छित हो जाता है। इसलिये जिसप्रकार रागके तीव्र उदयसे मृत बच्चे पर भी माका तीव्र अनुराग हो जाता है, उसीप्रकार उस मूर्छाके निमित्तसे वह विपरीत स्वादुवाला बना रहता है। विवेकके जागृत होनेपर जैसे माका उस बच्चेसे मोह हट जाता है, उसीप्रकार सम्यक्त्वभावके प्रगट होनेपर आत्मा सत्पदार्थोंका ही ग्राहक एवं श्रद्धास्पद बन जाता है।

कुछ लोग ऐसी भी तर्कणा करते हैं कि 'बिना निर्णय किये जो श्रद्धा होती है वह केवल अंधश्रद्धा होती है, उससे आत्मीय हित क्या हो सकता है?' ऐसा कहनेवाले भी भूल करते हैं, अंधश्रद्धामें और सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धामें जमीन-आसमानका अंतर है। जो बात अपने अनुभवमें अथवा अपने विश्वासमें नो आती नहीं किंतु दूसरोंके देखादेखी यह समझकर कि 'अमुक पुरुष विश्वास करते हैं तो ठीक होगी' किसी बातपर झट विश्वास कर बैठते हैं, वही श्रद्धा अंधश्रद्धाके नामसे कही जाती है; क्योंकि वहां स्वानुभव एवं निजी विश्वस्त भावोंकी दृढता नहीं है, केवल दूसरोंकी प्रेरणासे अथवा दूसरोंके देखादेखी वैसा विश्वास किया गया है। परन्तु सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धा इस बातसे सर्वथा निराली है; यह निरालापन उसके सम्यक्त्वभावका ही कार्य है। वह जिन बातोंपर श्रद्धान करता है, उसका वह श्रद्धान चाहे परोपदेश-

पूर्वक हो चाहे स्वयं उत्पन्न हो, परंतु अंधरूपमें नहीं रहता किंतु स्वानुभवमें आ जाता है। इसलिये उसे श्रद्धाभावके जागृत होनेसे प्रसन्नता होती है, संतोष होता है, आत्मीय परिणामोंमें निर्मलता होती है। भले ही उसकी श्रद्धा पदार्थके निर्णय-पूर्वक न हो, तो भी वह दृढतर एवं स्वानुभवगम्य होती है। इसीलिये अन्धश्रद्धालुके समान वह कभी उस श्रद्धाभावसे विचलित नहीं हो सकता। अन्धश्रद्धालुको कालांतरमें दूसरी प्रतीति भी कराई जा सकती है, परन्तु सम्यक्‌श्रद्धालुको बलवती प्रेरणा मिलनेपर भी दूसरी प्रतीति नहीं हो सकती। इतनी दृढताका यही हेतु है कि वह श्रद्धा सम्यग्दृष्टिके स्वात्मोत्थ—अपने आत्मासे प्रगट हुआ निजी—भाव है। इस भावका अनुभव एवं रसास्वाद मिथ्यादृष्टिको कभी हो नहीं सकता; इसीलिये वह उसकी समस्त पदार्थोंमें होनेवाली श्रद्धापर आश्चर्य प्रगट करता है, उसे अन्धश्रद्धा बताता है। वह यह भी आशंका करता है कि 'बिना उन समस्त पदार्थोंका बोध एवं निर्णय किये यह उनपर क्यों श्रद्धा करता है?' परंतु उसे यह विदित नहीं है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें एक ऐसा भाव जागृत (प्रगट) हो गया है जोकि उन पदार्थोंकी यथार्थताका स्वानुभव करा देता है। जिसप्रकार ज्ञानावरणका क्षयोपशम हुए बिना अज्ञानी जीव हेयोपादेयके विचार करनेमें असमर्थ रहता है, परन्तु ज्ञानी जीव हेयादेयके विचारमें समर्थ है, उसका कारण केवल क्षयोपशमरूप सामर्थ्यकी जागृति है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टिकी सामर्थ्य नहीं है कि वह पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धाका अनुभव कर सके। परन्तु सम्यग्दृष्टिके वह सामर्थ्य प्रगट हो जाती है जिसमें ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम हो जाता है, वह परवादियोंको शास्त्रार्थमें परास्त कर देता है, अनेक ग्रन्थोंकी रचना करता है। वस्तुओंकी सूक्ष्मगवेषणा (खोज) करता है। परंतु जिसका क्षयोपशम अत्यंत मंद है वह यह भी नहीं जान पाता कि शास्त्रार्थ किसे कहते

है और ग्रन्थ नाम किस वस्तुका है। जिसके मन होता है वही हिताहितका विचार कर सकता है, जिसके मन नहीं है वह असैनी कुछ नहीं विचार कर सकता। जिसके नेत्रेंद्रियावरण नामका क्षयोपशम है वही नेत्रोंसे देख सकता है, जिसके वैसा क्षयोपशम नहीं है वह देखनेमें असमर्थ रहता है। जिसके वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होता है, वही पराक्रमी होता है, वही रणमें बहुसंरूपक सैनिकोंको अकेला ही परास्तकर विजयी होता है। जिसके वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम प्रगट नहीं है वह युद्धका नाम सुन-कर घरमें ही कंपायमान होता है। इन दृष्टांतोंसे यह बात सिद्ध होती है कि जिसप्रकार आत्माओंमें शक्तियां प्रगट हो जाती हैं, उसीप्रकार उनके कार्य उनमें देखनेमें आते हैं। जिनमें सामर्थ्य प्रगट नहीं होती, वे उन कार्योंसे वंचित रहती हैं। यही बात सम्यक्त्वभावके विषयमें है। जिनके वह प्रगट हो चुका है उनमें पदार्थोंकी—जिनमतकी यथार्थ श्रद्धा पायी जाती है, वे सदा अटलश्रद्धालु रहते हैं। जिनमें सम्यक्त्वभाव जागृतनहीं है वे उस तत्त्व तक पहुंच नहीं सकते। यह एक वस्तुस्वभाव है।

कोई कोई ऐसा भी कहते हुए देखे जाते हैं कि 'किसीको किसी बातका श्रद्धान कराना उसकी उन्नतिको रोक देना है। जैसे बालकको यह विश्वास करानेकी आवश्यकता नहीं है कि यह अग्नि है, बालक स्वयं छूकर एवं झुलसकर उसका ज्ञान कर लेगा। छूकर अथवा जल कर अग्निका ज्ञान करना बालकके लिये अनुभवका मार्ग खोल देना है, अन्यथा अग्निका वह कोरा श्रद्धान ही लिये बैठा रहेगा। अग्नि कैसी क्या होती है, वास्तवमें वह जलाती है या नहीं; यह अनुभव बालकको कभी नहीं हो सकता। इसीप्रकार किसी विषयको किसी पुरुषकी श्रद्धा कराना, उसकी उन्नति एवं अनुभवका रोक देना है। वह जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान करता जायगा, उनका दृढ

विश्वास उसे स्वयं होता जायगा; विना उसके निजके अनुभवके उसे श्रद्धा कराना व्यर्थ है?' जो लोग ऐसा कहते हैं, वे न तो श्रद्धाका स्वरूप समझते हैं और न ज्ञानका ही महत्व जानते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्त है कि बिना अनुभवके दृढ एवं यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता। क्या मोक्ष जानेके पूर्व मोक्षका यथार्थ बोध उन महाव्रती तपस्वियोंको नहीं होता है, अथवा उनकी दृढश्रद्धा उस संबंधमें नहीं होती है? यदि न हो, तो वे मोक्षके लिये कभी प्रयत्नशील न बनें। क्या सर्वज्ञ होनेके पूर्व उन्हें सर्वज्ञताका बोध एवं श्रद्धान नहीं होता है? यदि नहीं, तो अविश्वस्त पदार्थकी प्राप्तिके लिये वे क्यों असाधारण अचिन्त्य तप एवं ध्यान करते हैं? पहले सर्वज्ञताका श्रद्धान एवं मोक्षका श्रद्धान उसकी प्राप्तिके लिये प्रधान कारण है। इसीप्रकार धर्मका स्वर्गादिप्राप्ति फल प्रत्यक्ष नहीं है तथा अधर्मका नरकादि फल भी प्रत्यक्ष नहीं है; वैसी अवस्थामें विना उन सबका अनुभव एवं प्रत्यक्ष किये धर्ममें प्रवृत्ति एवं अधर्मसे भीति किसीको नहीं करना चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता, धर्म अधर्मके फलोंमें प्रतीति रखकर प्रत्येक बुद्धिमान धर्मसेवनमें तथा अधर्म छोडनेमें प्रवृत्ति करता है। इतना ही नहीं, किंतु आत्मा स्वयं वस्तु-स्वभावकी ओर झुकता है। वह अधर्म मार्गमें जाते हुए भय खाता है, धर्ममार्गमें जाते हुए प्रसन्न एवं प्रबल तेजपूर्ण हो जाता है। जिसप्रकार क्षयोपशम होनेसे ज्ञान होनेकी योग्यता आत्मामें उत्पन्न हो जाती है, उसीप्रकार सम्यक्त्वभाव होनेसे आत्मामें यथार्थ श्रद्धा एवं स्वानुभव होनेकी योग्यता प्रगट हो जाती है। यह बात पहले स्पष्ट हो चुकी है, आत्मीय गुणोंके स्वभाव एवं धर्म अनिवार हैं, विना ज्ञानके भी यथार्थ एवं स्वानुभवगम्य दृढश्रद्धा होती है। यह बात भी भ्रम पूर्ण है कि बालकको, उसके अनुभव करनेसे ही हर एक बातकी शिक्षा दिलानी चाहिये, बिना उसके निजके अनुभवके उसे उपदेश

देना हितकर नहीं एवं व्यर्थ है। क्योंकि बुद्धिमान पिता माताका क्या यह कर्तव्य है कि बालकको कूएमें गिरनेसे न रोकें, उसे गिर जाने दें? और यह कहते हुए कि 'कूएमें गिरकर वह स्वयं शिक्षा ले लेगा कि यह कूआ है, इसमें नहीं गिरना चाहिये?' देखते रहें तो क्या वैसी धारणा रखनेवाले माता पिता अपने प्रिय पुत्रको फिर खिला सकते हैं अथवा उसे पुनः शिक्षा देनेका अवसर पा सकते हैं? और क्या उस अपरिपक्व एवं अनुभवशून्य बालकको कूएमें गिर जानेके बाद फिर कूएका अनुभव एवं श्रद्धा हो जाती है? वह तो कूएसे निकालनेपर उसीके किनारेपर छोड देनेसे फिर भी उसीमें गिरनेके लिये तयार दीख पडता है। इसलिये बालकको कूएकी प्रतीति एवं उपदेशद्वारा ही दृढश्रद्धा कराई जायगी, तभी वह वहां जानेसे रुक सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरे, अनुभवके बिना यदि बालकके हृदयमें किसी वस्तुके गुणदोषोंकी दृढश्रद्धा उत्पन्न न कराई जाय तो उस बालकका सुधार ही असंभव है। कारण मदिरापानसे नशा आता है, तमखू खानेसे कलेजा जल जाता है, विष खानेसे मृत्यु हो जाती है, बिजलीका तार अथवा उसका यंत्र (लाइफ सर्विस) छूनेसे बिजली शरीरमें प्रविष्ट हो जाती है, इत्यादि सब बातें ऐसी हैं जिनका बालकको अनुभव नहीं है; यदि वह उनका सेवन करके अनुभव करने बैठे तो तुरंत ही उसकी दूसरी अवस्था हो जाय, परंतु उसे श्रद्धान रहता है कि उक्त वस्तुयें हानिप्रद हैं। इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि 'पहले प्रत्येक वस्तुका अनुभव होनेके पीछे ही श्रद्धान करना ठीक है'। यह दृष्टांत बालकके लिये दिया गया है; इसका एक अंश ही ग्रहण करना चाहिये, सर्वांश नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शनगुणके प्रभावसे स्वानुभवगम्य होता है। वहां भी समस्त वस्तुओंके परिज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, किंतु स्वात्मानुभूति ही प्रधान है। समस्त वस्तुओंका ज्ञान न होनेपर भी सम्यग्दृष्टिको

उनकी यथार्थ दृढता हो जाती है, यह एक गुणस्वभाव है। जहां निश्चयसम्यक्त्व नहीं है केवल व्यवहार सम्यक्त्व है, वहां आगमानुकूल श्रद्धाका होना ही निश्चयसम्यक्त्वका साधक है; कारण जिनमतमें उसी मार्गसे निश्चयसम्यक्त्वकी प्राप्ति बतलाई है। इसलिये व्यवहारसम्यग्दृष्टि आगमसे एक अक्षरमात्र भी प्रतिकूल विचार नहीं रखता है। वह देवशास्त्रगुरुकी दृढश्रद्धा रखता है, इसीलिये देवपूजनमें विशेष अनुराग, शास्त्रवचनोंपर पूर्ण दृढता, विशेष चारित्रधारक गुरुओंकी उपासनामें अनुराग, सम्यग्दृष्टियोंसे विशेष प्रेम, धार्मिकोंसे सम्मेलन एवं वात्सल्य, जिनबिम्ब महोत्सव, प्रतिष्ठादिक कार्य, जैनधर्मकी प्रभावना आदि समस्त धर्मसंबंधी कार्योंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उसकी वह प्रवृत्ति एवं विशेष अनुराग कृत्रिम नहीं होता। जहांपर वास्तवमें निश्चयसम्यक्त्वका कारणभूत व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, वहांपर उक्त कार्योंकी प्रवृत्ति अनुरागपूर्वक नहीं होती है। वहां न देवभक्तिमें विशेष आनंद एवं उल्लास है, न शास्त्रवचनोंपर दृढता है, न सम्यग्दृष्टि एवं व्रतियोंसे अनुराग है, और न प्रतिष्ठादि कार्योंमें ही सानंद प्रवृत्ति है। ऐसी आत्माओंमें व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, यह बात जानी जाती है; क्योंकि सम्यग्दृष्टिका बाह्यलक्षण श्रीगोम्मटसारमें ऐसा कहा है—"णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९॥" (जीवकांड) अर्थात् जो इंद्रियोंसे भी विरक्त नहीं है और जो त्रसहिंसा तथा स्थावरहिंसासे भी विरक्त नहीं है; परंतु जिनेंद्रदेवके कहे हुए वचनोंपर दृढ श्रद्धान रखता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। यहांपर भोगसेवनादिक करते रहनेपर भी आर्षवचनोंपर दृढ श्रद्धा ही सम्यग्दृष्टिका प्रधान लक्षण बतलाया गया है, और उसीको कारणमें कार्यकी विवक्षा रखकर आत्मस्वरूप कहा गया है।

(१) सम्यग्दृष्टि संकल्पी त्रसहिंसा नहीं करता, किंतु आवश्यकतानुसार वह विरोधी, आरंभी और उद्योगी-हिंसामें प्रवृत्त हो जाता है।

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकांतवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस (जन्मनि) जन्ममें (विभवादीन्) विभव आदि सम्पदाओंको, (अमुत्र) परलोकमें (चक्रित्वकेशवत्वादीन्) चक्रवर्ती नारायण आदि पदोंको (च) और (एकांतवाददूषितपरसमयान् अपि) एकांतवाद होनेसे सदोष दूसरे मतोंको भी (न) नहीं (आकांक्षेत) चाहे ।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक समस्त वस्तुओंकी साभिलाष (रुचिपूर्वक) चाहना नहीं करता है । वह पुण्योदयसे मिली हुई वस्तुओंका भोग भी भोगता है, फिर भी वस्तुस्वभावसे अनुभावित होनेसे उन भोगादि समस्त ऐश्वर्य सामग्रियोंको वह कर्मजनित उपाधि समझता है, उन्हें आत्मीय वस्तु नहीं समझता। इसीलिये उनमें वह अनुराग नहीं करता है, उन्हें भोगते हुए भी हेय (त्यागनेयोग्य) समझता है । इसीलिये उसकी सांसारिक समस्त वासनाओंमें चाहना नहीं रहती, वह विचार करता है कि यह ऐश्वर्य तथा ये चक्रवर्ती आदि पद कर्मके अधीन हैं; पुण्योदय तीव्र होगा तो मिल जायगे, नहीं तो नहीं मिलेंगे । आज सब ऐश्वर्य दृष्टिगत हो रहे हैं, कल पापोदय होनेसे सब विलीन हो जाते हैं। जो आज राजा बनकर खूब ऐश्वर्यको भोगता है वह कल रंक बनकर दूसरोंसे भिक्षा मांगता है । इसलिये ये सब सांसारिक सम्पत्तियां कर्मोंके वश हैं । सांसारिक सुख सम्पत्तियोंके प्राप्त होनेपर भी बीच बीचमें अनेक दुःख आते जाते हैं । ऐसा भी नहीं है कि जबतक कर्मोदयके वश सुख मिला हुआ है, तबतक तो बराबर स्थिर रहे; किंतु सो भी नहीं रहता, बीच बीचमें अनेक दुःख आते जाते हैं । इस सांसारिक

सुखमें एक बात और भी विचारनेयोग्य है, वह यह है कि यह जितना भी सुख है सब दुःखका कारण है, सुख भोगते हुए आरंभ-परिग्रहकी लालसा रहती है, बिना आरंभपरिग्रहके सांसारिक सुख भोगनेका कोई द्वार नहीं है, और जितना आरंभपरिग्रह है वह सब पापबीज है अर्थात् उससे पापका बन्ध होता है। इसलिये ऐसे कर्माधीन दुःखमिश्रित एवं दुःखकारण दुःखस्वरूप सांसारिक सुखमें सम्यग्दृष्टिकी रुचि नहीं होती। वह उन सुखोंको भोगता हुआ भी उनसे उदास है; कारण वह वस्तुस्वरूपको पहचान चुका है तथा असली सुखका स्वादी बन चुका है। इसीप्रकार जब सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपको पहचान चुका है, तो उसकी प्रवृत्ति उन एकांतवाद-दूषित परसमयोंमें (जैनधर्मका छोड़कर दूसरे दर्शनोंमें) नहीं होती है।

निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण।

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु) क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि (नानाविधेषु) अनेक प्रकारवाले (भावेषु) पदार्थोंमें (पुरीषादिषु) मल आदिक (द्रव्येषु) द्रव्योंमें (विचिकित्सा) घृणा (नैव) नहीं (करणीया) करनी चाहिये।

विशेषार्थ—विशेष रागद्वेष उसी वस्तुमें होता है जिसमें अपनी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहती है, परंतु संसारमें कोई पदार्थ वास्तवमें इष्टरूप अथवा अनिष्टरूप नहीं है। यदि इष्ट-अनिष्ट स्वरूप वास्तवमें कोई

पदार्थ होता, तो वह सबके लिये एकसा होता। जो इष्टरूप होता वह सबोंके लिये इष्टरूप होता, जो अनिष्टरूप होता वह सबोंके लिये अनिष्टरूप होता। परंतु जो पदार्थ एकके लिये इष्टरूप है वही दूसरेके लिये अनिष्टरूप है, अथवा जो एकके लिये अनिष्टरूप है वही दूसरोंके लिये इष्टरूप है। इतना ही नहीं किंतु जो एक समयमें अपने लिये इष्टरूप है, वही दूसरे समयमें अपने लिये अनिष्टरूप हो जाता है। इससे यह बात निर्णीत है कि पदार्थ सभी अपने अपने स्वरूपको लिये हुए हैं, उनमें इष्टता अनिष्टता कुछ नहीं है, यह सब मोहजनित आत्माका विभावपरिणाम है। सम्यग्दृष्टिके यह विभावपरिणाम नहीं है, इसलिये उसे दुर्गंधित विष्टा आदिक घृणा उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंमें और क्षुधा तृषा आदिक दुःखदेनेवाले पदार्थोंमें ग्लानि एवं तिरस्कारभाव नहीं होता है; कारण वह उन सब पदार्थोंके स्वरूपको उसीप्रकार समझता है। असाताकर्मके उदयसे क्षुधादिक वेदनाएं सताती हैं, दुर्गंध सुगंध, सुरूप कुरूप, आदि सब पुद्गलकी पर्याय हैं, उनमें उसे रुचि अरुचि नहीं है; इसलिये सम्यग्दृष्टिके निर्विचिकित्सा अंगका पालन होता है। इसीप्रकार मुनिमहाराजके धूलिधूसरित शरीरको देखकर जो उनसे ग्लानि करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, वस्तुस्वभावसे अनभिज्ञ हैं; उन्हें नहीं मालूम है कि शरीर तो स्वभावसे ही अपवित्र है, परंतु मुनिमहाराजने ध्यानाग्निमें तपाकर उसे भी पवित्र बना लिया है। सम्यग्दृष्टिको मुनियोंके मलिन शरीरको देखकर भी उनमें धार्मिक अनुराग होता है। ग्लानि तो उत्पन्न ही नहीं होती। इसीप्रकार किसी रोगीको, कुष्ट शरीरवालेको, लंगडेको, लूलेको देखकर कभी घृणाभाव नहीं करना चाहिये; कारण वह सब कर्मकृत अवस्था है। घृणा करना पापबंधका कारण है, इसीलिये सम्यग्दृष्टिके उन कर्मसे सताये हुए जीवोंसे घृणा नहीं होती, किंतु उसके चित्तमें दया उत्पन्न होती है।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(लोके) लोकमें (शास्त्राभासे) शास्त्राभासमें—जो शास्त्र तो न हों परंतु शास्त्र सरीखे मालूम होते हों उसमें (समयाभासे) धर्माभासमें (च) और (देवताभासे) देवताभासमें (नित्यं) सदा (अपि) ही (तत्त्वरुचिना) सम्यग्दृष्टिके द्वारा—सम्यग्दृष्टिको (अमूढदृष्टित्वं) मूढतारहित श्रद्धान (कर्त्तव्यं) करना चाहिये ।

विशेषार्थ—किसी विपरीत तत्त्वमें दूसरोंकी देखादेखी प्रवृत्त हो जानेको मूढता कहते हैं। जैसे देखनेमें आता है कि अनेक पुरुष लोकमें प्रचलित मूढतामें लगे रहते हैं, कोई बालूके ढेरोंकी पूजा करते फिरते हैं, कोई नदीके गोल अथवा लम्बे आदि आकारवाले पत्थरोंकी पूजा करते फिरते हैं, कोई अग्निकी पूजा करते हैं, कोई पानीकी पूजा करते हैं। ये सब लोकमें प्रचलित मूढतायें हैं। इनमें अज्ञानी लोक प्रवृत्त होकर दुःख फलका संग्रह करते हैं। यह भी मिथ्यात्वकर्मके उदयका परिपाक है। कोई कुदेवोंमें (रागी द्वेषी देवोंमें) सुदेव बुद्धि रखकर उनकी पूजामें लगे हुए हैं, कोई कषायी, परिग्रही, आरंभी, हिंसक आदि कुगुरुओंमें सुगुरुबुद्धि रखकर उनकी पूजा करते हैं; इसीप्रकार अनेक पुरुष अधर्ममें हिंसा आदिक दुष्कृत्योंमें धर्म समझकर प्रवृत्त हो रहे हैं। यह सब कार्य मूढपनेके हैं। जबतक आत्मामें मिथ्यात्व-कर्मका तीव्रउदय रहता है, तबतक उसकी बुद्धि मूढताकी ओर जाती है। सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें मूढश्रद्धान नहीं होता; क्योंकि वह वस्तुस्वरूपको जान चुका है। वह सदा रागद्वेष-रहित वीतराग तथा सर्वज्ञदेवमें

ही देवत्व-बुद्धि रखना है, सर्वज्ञ वीतराग श्रीअर्हंतदेवके कहे-हुए पदार्थको ही आगम समझता है। जिनमें हिंसाका पोषण किया गया है, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिमें धर्म बतलाया गया है, आत्मीय तत्त्वका लोप करके केवल भौतिकवादका समर्थन किया गया है तथा पदार्थोंका विपरीत स्वरूप बतलाया गया है, उन सबको सम्यग्दृष्टि शास्त्राभास जानता है। वह निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी, निष्कषाय तथा ज्ञानध्यानतपमें लवलीन साधुको ही साधु (मुनि) समझता है। उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम आदि अहिंसामय धर्मको ही धर्म समझकर उसमें प्रवृत्त होता है। यही सम्यग्दृष्टिका अमूढदृष्टित्व (तत्त्वश्रद्धान) है। वह सत्स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

उपगूहन अंगका लक्षण।

धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥ २७॥

अन्वयार्थ—(उपबृंहणगुणार्थं) उपबृंहणगुणके लिये अर्थात् उपगूहनअंगकी रक्षाके लिये (मार्दवादिभावनया) मार्दव आर्जव क्षमा सत्य आदि भावनाओंके द्वारा (सदा) निरंतर (आत्मनः) आत्माका (धर्मः) धर्म (अभिवर्धनीयः) बढाना चाहिये (परदोषनिगूहनं अपि) दूसरेके दोषोंका आच्छादन भी (विधेयं) करना चाहिये।

विशेषार्थ—उपगूहन और उपबृंहण इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है। ये दोनों शब्द बढानेके अर्थमें भी आते हैं और छिपानेके अर्थमें भी आते हैं। जहां बढानेसे प्रयोजन है वहां आत्मीयभावोंसे संबंध है, जहां छिपानेसे प्रयोजन है वहां दूसरेके भावोंमे संबंध है। अर्थात् उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य आदि गुणोंके द्वारा अपने आत्मीयभावोंको वृद्धिंगत करना चाहिये और दूसरोंके दोषोंको छिपाना

चाहिये। 'दूसरेके दोषोंके छिपानेमें क्यों धर्म समझा गया, क्योंकि दोषोंका प्रगट करना अच्छा है, दोषोंके प्रगट करनेसे बहुत संभव है कि सदोषी व्यक्ति दोषोंको छोडकर निर्दोष बन जाय, फिर दोषोंको छिपाना सम्यक्त्वका अंग क्यों बतलाया गया है?' इस आशंकाका यह उत्तर है कि यहांपर समस्त कथन अभिप्रायसे संबंध रखता है, इसलिये सरलता एवं भावोंमें निष्कषायता रखनेकी दृष्टिसे यह अंग कहा गया है। यदि किसी पुरुषको दोषी देखकर अपने भावोंमें यह बात उत्पन्न हो कि 'यह दोषोंसे छूट जाय तो अच्छा है, इसका कल्याण हो जायगा, अन्यथा अनर्थोंका भाजन बनता रहेगा' इस भावको हृदयमें रख कर उसके दोषोंको प्रगट कर देना अनुचित तथा अनुपगूहन नहीं है। परंतु जहां भावोंमें यह बात है कि 'इसके दोषोंका प्रकाश करनेसे यह जगतमें अपकीर्तिका भाजन बनेगा, इसकी बुरीतरह निंदा होगी, उस निंदासे इसे दुःख होगा' ऐसा अभिप्राय रखकर जो दोषोंका प्रकाशमें लाना है, वह अयुक्त है तथा उपगूहनअंगका घात करना है। कारण दोषोंके प्रकाश करनेसे लाभ कुछ नहीं होता है किंतु दोषी व्यक्तिकी आत्मामें पश्चात्तापके कारण अशुभकर्मोंका बंध होता है। किसी आत्मामें पापबंधका कारण हमें बनना पडे, यह भी तो निकृष्ट कार्य है। इसलिये उपगूहनअंगकी रक्षाके लिये किसीके दोषोंका जगत्में प्रकाश मत करो किंतु कल्याणकी सची दृष्टि रखकर उसी व्यक्तिसे कह दो कि 'तुममें अमुक दोष है उसे जल्दी दूर कर दो।' ऐसा करनेसे अपने परिणामोंमें भी निष्कषायता और सरलता बनी रहेगी तथा उस व्यक्तिकी आत्माको भी वास्तविक शांति मिलेगी। यही उपगूहनअंगका स्वरूप है। जहां आत्मीय गुणोंकी वृद्धि की जाती है वहां आत्मा इंद्रियप्रवृत्तिसे उदास हो जाता है, इसलिये आत्माके गुणोंकी वृद्धिके लिये वाह्य क्रियाकाण्डमें—पूजन, यज्ञोपवीतसंस्कार, दान, संयम इत्यादि सभी आगम-

विहित आत्मीय शुद्धिके कारणोंमें सम्यग्दृष्टि प्रवृत्त रहता है। इसीप्रकार किसी अज्ञानी पुरुषके कार्योंसे अथवा असमर्थ पुरुषके कार्योंसे धर्मकी निंदा होती हो, तो सम्यग्दृष्टि पुरुष उस निंदाको दूर कर देता है।

स्थितिकरण अंगका लक्षण।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यं ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(न्यायात् वर्त्मनः) न्यायमार्गसे (चलयितुं) चलायमान करनेके लिये (कामक्रोधमदादिषु) काम क्रोध मद आदिकोंके (उदितेषु) उदित होनेपर (श्रुतं) शास्त्रानुसार (युक्त्या) युक्तिपूर्वक (आत्मनः) अपना (च) और (परस्य) दूसरेका (स्थितिकरणं अपि) स्थितिकरण भी (कार्यं) करना चाहिये।

विशेषार्थ—काम क्रोध मद आदि विकारभावोंके उत्पन्न होनेपर यदि कोई पुरुष न्यायमार्गसे (संयमसे, व्रतसे अथवा चारित्रसे) गिरता हो, तो उसे शास्त्रोंका उपदेश देकर और आगमके अनुकूल युक्तियोंसे समझाकर उसी ग्रहण किये हुए सुमार्गपर दृढ कर देना अर्थात् उसे विचलित न होने देना इसीका नाम स्थितिकरण है। यह परस्थितिकरण कहा गया है। स्वस्थितिकरण भी इसीप्रकार कर लेना चाहिये। यदि काम क्रोध मद आदिके आवेगमें अपना चारित्र या संयम शिथिल होता हुआ प्रतीत हो, तो शास्त्रोंका लक्ष्य रखकर अपने आपको भी तुरन्त ही सुमार्गमें दृढ कर लेना चाहिये।

यह बात एक साधारण है कि जीवोंके पूर्व बंधे हुए कर्म कभी तीव्ररूपसे कभी मंदरूपसे उदयमें आते रहते हैं। जिससमय कर्मोंका तीव्र उदय होता है उससमय जीव सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्रसे च्युत होने लगता है अथवा अंशांशोंकी अपेक्षा उनसे शिथिल होने लगता है। उसीसमय शास्त्राभ्यास

तथा उपदेशसे अपनेको और परको उनमें—सम्यग्दर्शन-चारित्रमें दृढ कर देना चाहिये। इतना विशेष है कि जहांपर दूसरेके आत्माको सुधार करनेकी भावना हो वहां किसीप्रकारका प्रलोभन अथवा स्वार्थ-वासना न होनी चाहिये; किंतु केवल सदनुग्रहबुद्धिसे सदुपदेश एवं आदेश करना चाहिये। जहांपर परिणामोंमें किसी प्रयोजन तथा प्रत्युपकारकी वासना रहती है, वैसी आत्माओंसे दूसरोंका सुधार होना बहुत कठिन है। पूर्णसुधार तथा सच्चासुधार वही आत्मा कर सकता है जो निस्पृहवृत्तिवाला है। एक बात यह भी नितांत आवश्यक है कि—धर्मोपदेश देकर दूसरोंकी आत्माओंका वहींतक सुधार करना उचित है जहांतक कि अपने व्रत संयममें बाधा नहीं आती है, अपने व्रत संयमके नाशकी परवा न करके जो दूसरोंके सुधारमें तत्पर होते हैं वे न दूसरोंका ही सुधार कर सकते हैं और न अपना ही सुधार कर सकते हैं। जो अपने चारित्रका घात करके दूसरोंके सुधारमें अथवा पर-रक्षणमें प्रवृत्त होते हैं, उनका दूसरों पर कोई महत्त्वयुक्त प्रभाव नहीं पड सकता। क्योंकि वे अपनी आदर्शता तो खो चुके, वैसी अवस्थामें उनसे दूसरे लोग उत्तम मार्ग कहांतक ग्रहण कर सकते हैं? इसलिये जहांतक अपने सम्यक्त्व और चारित्रकी रक्षा बनी रहे वहांतक पररक्षण समीचीन एवं आवश्यक है; जहां स्वरक्षण नहीं है वहां पररक्षण भी अशक्य है, क्योंकि पररक्षण भी आत्मरक्षण-पूर्वक ही किया जा सकता है। जिस व्रतीके तीन बार सामायिक करनेका नियम है, सचित्तका त्याग है, रात्रिभोजनका त्याग है, वह यदि परोपदेशकी धुनमें तन्मग्न होकर आवश्यकता समझकर सामायिक करना बन्दकर दे, सचित्त फलफूल भक्षण करने लग जाय अथवा दिनमें उपदेश-कार्यसे अवकाश न मिलनेपर रात्रिभोजन करने लग जाय, तो वैसी अवस्थामें क्या उपदेश ग्रहण करनेवाले उसे व्रतीकी दृष्टिसे देखेंगे? और नहीं देखने

पर, उसके उपदेशका वे कहांतक आदर करेंगे ? दूसरे, जब उपदेष्टाकी आत्मा स्वयं व्रताचरणसे पतित है तब वह उन्नतमार्गका प्रभावपूर्ण उपदेश दे नहीं सकता। इसलिये सबसे प्रथम स्वात्मसाधनमें सावधान होना प्रत्येक सुबुद्धिका कर्तव्य है। उसके पश्चात् परात्म-साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

वात्सल्य अंगका लक्षण।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(अहिंसायां) अहिंसामें (शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने) मोक्षसुखरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें कारण-भूत (धर्मे) धर्ममें (च) और (सर्वेषु) समस्त (सधर्मिषु अपि) समान धर्मवालोंमें भी (परमं) उत्कृष्ट (वात्सल्यं) वात्सल्यभाव (आलंब्यं) पालना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसप्रकार गौकी उसके बछड़ेके प्रति प्रीति होती है, उसीप्रकार धर्मसे, धर्मात्माओंसे, धर्ममें सहायता करनेवालोंसे प्रेमभाव जहां प्रगट किया जाता है वहींपर वात्सल्य अंगका पालन होता है। अपने और परके भेदसे वात्सल्यके भी दो भेद हैं। जिससमय परीषह उपसर्ग आदि निमित्त-कारणोंसे किसीके द्वारा आत्मा पीडित किया जाय, उससमय अपने ज्ञानमें, ध्यानमें, तपमें, शुभाचारमें शैथिल्य नहीं आने देना, प्रत्युत धर्ममें प्रेमपूर्वक सावधान रहना; यही स्वात्मवात्सल्य है। अर्थात् अपने निजगुणोंमें प्रेम करना, उनकी उपासनामें, वृद्धिमें, रक्षणमें प्रमाद नहीं करना; यही स्वात्मवात्सल्य है। तथा पंचपरमेष्ठियोंमें, जिनमंदिरोंमें, मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका इन चारप्रकारके संघमें, जिनवाणीमें स्वामीके प्रति भृत्यकी तरह दासता (सेवकपना) अंगीकार करना; यह भी स्वात्मवात्सल्यमें गर्भित

है। यदि ऊपर कहेहुए परमपूज्य पदार्थोंमेंसे किसीपर कोई उपसर्ग अथवा आपत्ति आती हो, तो उसके दूर करनेके लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये। जिसप्रकार भी उनपर आईहुई बाधाको दूर कर सकनेकी योग्यता हो उसीप्रकार जुटकर उसके दूर करनेमें प्रयत्नशील होना चाहिये। यदि बलकी आवश्यकता हो तो बलपूर्वक प्रयोग करना चाहिये, मंत्रकी आवश्यकता हो तो मंत्रका प्रयोग करना चाहिये, धनकी आवश्यकता हो तो धन भी खर्च करना चाहिये। परंतु थोडी भी सामर्थ्य रहनेपर जिनबिंब एवं जिनमंदिर आदि पर आईहुई आपत्तिको देखते रहना या सुनते रहना, परंतु उसे हटानेमें यत्नशील न होना, यह धर्मप्रेमका सूचक नहीं है। जिसकी आत्मामें धार्मिकप्रेम एवं श्रद्धा है वह जिनबिंब जिनमंदिर चारसंघ आदि किसी भी धर्मतत्त्वपर उपस्थित होनेवाली बाधाको कभी सहन नहीं कर सकता; यही वात्सल्यअंगका लक्षण है। इसीप्रकार जहां जीवोंकी हिंसा होती हो वहां पहुंचकर, उपदेश देकर, समझाकर, प्रभाव दिखाकर, द्रव्य खर्चकर, जिसप्रकार हो उसीप्रकार प्रयत्न करके जीवोंकी हिंसा रोकना चाहिये। जीवकी रक्षाके समान दूसरा धर्म नहीं है। एक आत्माकी रक्षा कर लेना महान् पुण्यबंधका कारण है। समस्त जीवोंपर प्रेम तथा दयाभाव रखना, यह भी वात्सल्य है।

प्रभावना अंगका लक्षण।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ ३०॥

अन्वयार्थ—(रत्नत्रयतेजसा) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये ही तीन रत्न कहलाते हैं, इनके प्रतापसे (सततं एव) निरंतर ही (आत्मा) अपना आत्मा (प्रभावनीयः) प्रभावित करना चाहिये

(च) और (दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः) दान तप जिनेंद्रपूजन और विद्याके अतिशय–चमत्कारोंसे (जिनधर्मः) जैनधर्म प्रभावित करना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रभावनाके भी पहले अंगोंके समान दो भेद हैं, १ अपनी प्रभावना और २ जैनधर्मकी प्रभावना। सम्यग्दर्शनकी दृढता, सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि और सम्यक्चारित्रजनित बढीहुई उत्तरोत्तर विशुद्धतासे अपने आत्माको प्रभावित करना चाहिये। सम्यक्त्वकी निश्चल (अडोल) दृढता देखकर दूसरोंको आश्चर्य उत्पन्न होने लगे, अनेक शास्त्रोंके परिज्ञान एवं उनके रहस्य अच्छीतरह समझ लेनेसे दूसरोंकी आत्मापर श्रुतज्ञानकी वृद्धिका पूर्ण प्रभाव पडने लगे; चारित्रकी इतनी वृद्धि करना चाहिये कि जिससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा बराबर होती जाय तथा आत्मा उत्तरोत्तर महान् विशुद्ध होता चला जाय, उस बढेहुए चारित्रको देखकर दूसरे आश्चर्य करने लगें और आत्मीय सामर्थ्यकी हृदयसे प्रशंसा करने लगें एवं अनेक त्यागी उसी मार्गपर चलनेके लिए आदर्श समझने लगें। इसप्रकार रत्नत्रयके तेजसे अपने आत्माकी प्रभावना करना चाहिये। तथा दानादि सत्प्रवृत्तियोंसे जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये। जिनमंदिरोंकी रचना इसप्रकारकी कराना चाहिये जिससे दूसरे मतवालोंके हृदयमें भारी चमत्कार दीखने लगे। कहीं मोती लगेहुए हैं, कहीं माणिक, हीरा, पन्ना जडेहुए हैं, कहीं सोनेके चित्र बनेहुए हैं, कहीं पच्चीकारीकी अपूर्व कारीगरी होरही है, समोशरणकी रचना होरही है; जिनमंदिरोंकी बहुत बडी विभूतिको देखकर दूसरे लोग जैनधर्मवालोंके दानकी प्रशंसा करने लगें। कुछ लोग कहते हैं कि 'जिनमंदिरोंमें रचना विशेष नहीं कराना चाहिये उन्हें वीतरागता उत्पन्न करनेवाले खंडहर सरीखे सादा ही रखना चाहिये' परंतु ऐसा समझना और उपदेश देना बडी भारी भूल है। उन्हें

इस बातका अनुभव नहीं है कि मंदिरोंकी समधिक शोभा बढानेसे ही सरागी जीवोंकी प्रवृत्तियां वीत-राग मूर्तिमें स्थिर होती हैं।

यदि मंदिरोंकी रचना सादा हो तो अनेक सरागियोंका वहां चित्त ही नहीं लगे; मंदिरोंके ऐश्वर्य-शाली होनेसे आत्मापर बहुत बडा जिनधर्मका चमत्कार एवं प्रभाव पडता रहता है। उसी निमित्तसे आत्मा उन नाना दृश्योंके साथ वीतराग जिनदेवकी सेवामें विशेष धर्मानुरागके साथ प्रवृत्त हो जाता है। यह निश्चित है कि—जितने साधन होंगे, जितना उत्तमक्षेत्र होगा, जितनी बढिया चौकी होगी, जितने उत्तम चांदी सोनेके वर्तन होंगे, उतना ही चित्त विशेषरीतिसे वहां संलग्न रहेगा। उत्तम रत्नोंकी सुन्दरमाला होगी तो ध्यान करनेके लिये सरागी पुरुषोंका चित्त विशेष आकर्षित होगा। विशेष साधन आत्माको कार्यकी ओर खींचनेके कारण हैं और आत्माके उधर खिच जानेमें वह उन साधनोंकी सहा-यतासे वीतरागताकी ओर झुक जाता है; क्योंकि आदर्श एवं उपास्यदेव तो वीतराग हैं, वे तो सराग नहीं किये गये हैं। यदि वे भी सराग बना दिये जांय तब तो हमारा आदर्श ही न रहे, उपास्यदेवका स्वरूप ही नष्ट हो जाय। इसलिये जिनमंदिरोंके जिनाधीश वीतराग होनेसे उन सराग साधनोंसे आत्मा वीतरागताकी ओर ही झुक जाता है, सरागताकी ओर जाता ही नहीं। मकान महल भी सजाये जाते हैं, जिनमंदिर भी सजाये जाते हैं, परन्तु मकान महलोंकी सजावट देखकर आत्मा भोगविलास भोगने-की ओर दौडता है और जिनमंदिरकी सजावट देखकर पूजन करनेकी, ध्यान करनेकी, भक्ति करनेकी और स्वाध्याय करनेकी ओर दौडता है। इसका कारण यही है कि घरोंमें उपास्यपदार्थ सराग है, वहां-पर रहनेवाले स्त्री-पुरुष आदि उन घरोंके अधिपति (स्वामी) सरागी हैं, भोगी विलासी हैं; इसलिये उनके

सजाये हुए घरोंको देखनेवाले सरागी जीवोंके परिणाम भी भोगविलासोंकी ओर झुक जाते हैं, परंतु जिनमंदिरमें श्रीवीतरागदेवकी वीतरागताकी मुद्रा (छाप) अंकित है, इसलिये वहांकी शोभा देखनेवाले सरागी भी उसी सरागसामग्रीमें वीतरागताकी झलक देखते हैं। उनके परिणाम उन्हीं साधनोंसे धर्म-साधनकी ओर झुक जाते हैं, इसलिये जिनमंदिरोंमें अपनी विभूतिके अनुसार आश्चर्य करनेवाली रचना करना चाहिये। जिनमंदिर समवशरणके स्थानमें है, समवशरणकी जैसी विभूतियुक्त रचना होती है उसीप्रकार अपनी सामर्थ्य तथा विभूतिके अनुसार हमें भी जिनमंदिरोंकी रचना करना चाहिये। यदि वीतराग मूर्तिके आयतन श्रीजिनमंदिर वीतराग ही बनानेसे वीतरागता आती हो, तो द्वादशांगका वेत्ता इंद्र समवशरणकी अनेक वन उपवन वाटिका स्तूप कोट आदिसे सजाई हुई रत्नमय सुंदर रचना क्यों करता है? जैसे उस रचनासे जैनधर्मावलंबियोंकी आत्मा पर विशेष धर्मानुराग, और जैनेतर—अन्य धर्मावलंबियोंकी आत्मापर जैनधर्मका विशेष चमत्कार होता है, उसीप्रकार जिनमंदिरोंकी रचनासे समझना चाहिये। जिनमंदिरकी शिखर समस्त नगरसे उन्नत होनी चाहिये, उसपर बहुत विशाल ध्वजदंड होना चाहिये। उससे भी लोगों पर जिनधर्मका बहुत बडा प्रभाव पडता है और प्रभावना होती है। इस बाह्यप्रभावके सिवा जिनमंदिरोंकी रचनामें अंतरंग कारण यह है कि गृहस्थाश्रममें रहनेवाले स्त्री-पुरुष रातदिन गृह-संबंधी आरंभ करते हैं, उससे अशुभास्रव करते रहते हैं; उसी पापारंभकी कारणभूत लक्ष्मीका सदुपयोग यदि जिनमंदिरोंकी रचनामें करते हैं तो महान् पुण्यबंध करते हैं। धर्मायतनोंका निर्माण उनके बनानेवालोंके लिये महान् पुण्यबंधका कारण तो है ही, साथ ही अनेक जीवोंके शुभपरिणामोंके लिये भी प्रधान कारण है। जिसप्रकार गृहस्थकी इच्छा अपने घरको सजाने-

की होती है, वैसे ही जिनमंदिरोंके सजानेके लिये भी उनके हृदयमें धर्मानुराग उत्पन्न होता है; उसी अनुरागकी प्रेरणासे वे छत्र चमर झालर घंटा बरतन चौकी सिंहासन आदि उत्तमोत्तम जिनभक्तिके साधनोंको सोने चांदी जवाहरात आदि वस्तुओंसे बनवाते हैं। इसके सिवा जिनपूजाके अतिशयसे प्रभावना करना चाहिये। जिनपूजा भी बडी विभूतिके साथ की जाती है। सबसे भारी विभूति जो मनुष्योंकी सामर्थ्यसे सर्वथा बाहर है, इंद्रध्वज पूजामें बतलायी गई है; इसलिये उस पूजनका अधिकारी इंद्र ही होता है। जिस पूजनमें लोगोंको उनकी इच्छानुसार दान दिया जाता है, बडे ठाट-बाटके साथ चक्रवर्तिओं-द्वारा की जाती है उसे कल्पद्रुमपूजन कहते हैं। जिस पूजनको चतुर्मुख प्रतिमाका स्थापन कर मुकुटबद्ध राजा करते हैं, उसे चतुर्मुखपूजन कहते हैं। अष्टाह्निकमें होनेवाली पूजनको अष्टाह्निकपूजन कहते हैं। और प्रतिदिन घरसे उत्तमोत्तम शुद्ध और ताजे तयार-किये पकान्न फल आदि द्रव्योंको ले जाकर जो पूजन की जाती है, उसे नित्यपूजन कहते हैं। पूजन करनेवाला इंद्र-तुल्य होता है, वह पूजक बनते समय अपनेमें इंद्रकी कल्पना करता है। इसलिये पूजा करनेवालोंको विभूतिसहित जिनमंदिरमें जाना चाहिये। उत्तमोत्तम अलंकार उत्तमोत्तम वस्त्र पहन कर पूजा करना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना परम आवश्यक है कि सभी अलंकार और वस्त्र शुद्ध होने चाहिये। अशुद्ध वा अपवित्र वस्त्रोंसे आत्मा पर मलिनताका प्रभाव पडता है। इसीप्रकार प्रतिष्ठादिक महोत्सवों-द्वारा जैनधर्मका प्रभाव एवं चमत्कार लोगों पर प्रगट करना चाहिये। बडी आयोजनाके साथ महोत्सवका होना वहांपर त्यागी तथा विद्वानोंके धर्मोपदेशका होना, बडे ठाटबाट और विभूतिके साथ श्रीजिनेंद्रदेवको रथमें विराजमान करके बीच नगरसे ले जाना, इत्यादि बातोंसे जैन और जैनतर सभी लोगों पर जैनधर्मका बहुत बडा

प्रभाव पडता है। इसप्रकारकी प्रभावना जगहजगह समयसमय पर होती रहना चाहिये।* सर्वार्थसिद्धि-कार श्रीपूज्यपाद महाराजने विभूतिदर्शनको भी सम्यक्त्व-प्राप्तिमें कारण बतलाया है। इसके सिवा उदारता-पूर्वक दान देकर बडी बडी विशाल पाठशालाएँ, स्वाध्यायशालाएँ, औषधशालाएँ धर्मशालाएँ आदि परउपकारक कार्य कराने चाहिये। ऐसे कार्योंसे जगत्में कीर्तिस्तंभ स्थिर हो जाता है। तथा तीव्र पुण्यबंध होता है। विद्याका चमत्कार दिखाकर भी जगत्में जैनधर्मका अतिशय प्रगट करना चाहिये। इस प्रभावना अंगसे विधर्मियोंपर जैनधर्मका अच्छा प्रभाव पडता है। उत्तमप्रभावका पडना ही धर्म-प्रचारका चिह्न है। इसलिये जगत्में जैनधर्मका प्रचार करनेके लिये हर प्रकारसे उसकी प्रभावना दिख-लाना चाहिये। इसप्रकार ये ऊपर कहे हुए सम्यग्दर्शनके अष्ट अंग सम्यग्दृष्टिको पालन करना चाहिये। ये आठों ही अंग अपना और परका कल्याण करनेके लिये प्रधान कारण हैं।

इसप्रकार श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषकी (वादीभकेशरी, न्यायालङ्कार)
पं० मक्खनलालशास्त्रीकृत भव्यप्रबोधिनी नामक हिन्दी भाषाटीकामें सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला
प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

---

* जो लोग यह कहते हैं कि 'वर्तमान समयमें इन प्रतिष्ठादि कार्योंकी आवश्यकता नहीं है किंतु शिक्षालयोंकी है' वे एक आवश्यकताकी पूर्ति करना चाहते हैं, परंतु दूसरी आवश्यकताका लोप करते हैं। शिक्षालयोंकी आवश्यकता है, यह बात ठीक है; परंतु प्रतिष्ठादि धर्म-कार्योंकी आवश्यकता नहीं है यह बात सर्वथा अयुक्त है। कारण जिसप्रकार शास्त्रार्थके द्वारा विजयलाभ कर चमत्कार प्रगट किया जाता है, अथवा बडे पदपर पहुंचकर स्वजाति और स्वधर्मका गौरव बढाया जाता है उसीप्रकार प्रतिष्ठादि कार्योंसे लोगोंपर दूसरे प्रकारका ही प्रभाव पडता है। जिससमय श्रीजिनेन्द्रदेवकी सवारी नगरके बीचसे बडी विभूति और गाजे-बाजेके साथ निकलती है, उससमय जैन-

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (आश्रितसम्यक्त्वैः) सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले उन पुरुषोंको, जो (नित्यं) सदा (आत्महितैः) आत्माका हित चाहते हैं, (आम्नाययुक्तियोगैः) जिनधर्मकी पद्धति और युक्तियोंके द्वारा (यत्नेन) भलेप्रकार (निरूप्य) विचार करके (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (समुपास्यं) आदरके साथ प्राप्त करना चाहिये ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेमे आत्मा मोक्षमार्ग पर आजाता है। परंतु आत्माका हित करनेके लिये सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करना चाहिये। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये यह उपाय है कि पदार्थोंको प्रमाण और नयोंके द्वारा निर्णीत करना चाहिये। जिसप्रकार कांटेसे वस्तुके परिमाण (वजन)का ठीक ठीक बोध हो जाता है, उसीप्रकार प्रमाण और नयोंके द्वारा वस्तुके स्वरूपका ठीकठीक बोध हो जाता है। सोने तथा जवाहरातका ठीक वजन करानेके लिये उन्हें धर्मकांटे पर तोलते हैं, उसीप्रकार कुमति-ज्ञानियों-द्वारा अथवा नाना मतावलंबियों-द्वारा विवादकोटिमें लाये जानेवाले पदार्थोंको प्रमाण-नयरूपी

धर्मका पूर्ण गौरव प्रगट होता है। इसके सिवा प्रतिष्ठादि कार्योंमें जो पञ्चकल्याणक विधियां हैं, उनसे इकट्ठे होनेवाले समस्त स्त्रीपुरुषोंके भावोंमें विशुद्धता और भक्तिरसका स्रोत बहने लगता है। स्थापना निक्षेपसे ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है और निश्चयतत्त्वकी प्राप्ति भी उसी स्थापनातत्त्वसे होती है; गर्भ जन्म आदि कल्याणकोंकी कल्पनाएं देखनेवालोंके हृदयमें उस समयवर्ती साक्षात् तत्त्वका भाव उत्पन्न कर देती हैं, उन्हीं भावोंकी निर्मलतासे उपस्थित सभी जन पुण्यबंध करते हैं। इसलिये प्रतिष्ठादि कार्य ऐसे कार्य हैं, जो जीवोंके सुधारमें पूर्ण कारण हैं उनका होना भी परमावश्यक है।

धर्मकांटेपर तोलनेसे उनका सत्स्वरूप ठीक ठीक जाना जाता है। प्रमाणसे अनंत धर्मात्मक वस्तुका एक-साथ बोध किया जाता है, नयसे प्रत्येक धर्मका विवक्षावश जुदा जुदा बोध होता है। प्रमाण वस्तुके सर्वांशको ग्रहण करता है, नय उसके एकदेशको ग्रहण करता है। नयोंके अनेक भेद हैं, जिनका विवेचन पहले संक्षिप्तरूपमें किया जाचुका है। प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। प्रत्यक्षप्रमाण भी इंद्रियप्रत्यक्ष और अतींद्रियप्रत्यक्ष, ऐसे दो भेदवाला है। इंद्रियोंसे होनेवाले प्रत्यक्षको इंद्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तवमें तो इंद्रियप्रत्यक्ष ज्ञान परोक्षज्ञान ही है, परंतु लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि 'मैंने अपनी आंखोंसे देखा है, मैंने अपने कानोंसे सुना है' इत्यादि, इस व्यवहारके कारण उपचारसे उसे प्रत्यक्षके भेदमें कहा गया है। जो ज्ञान इंद्रियोंकी तथा मनकी सहायताके बिना स्वयं आत्माने पदार्थोंका साक्षात्कार करता हो, उसे अतींद्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान, ये तीनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं; मति और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष है। परोक्षज्ञानके पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। किसी बातको कालांतरमें भूलना नहीं किंतु ध्यानमें रख लेना, उसे 'स्मृति-ज्ञान' कहते हैं। जैसे—'हमने श्रीस्वर्णगिरि निर्वाणक्षेत्रकी वंदना की, पीछे १ वर्ष बाद घर बैठे ही यह ध्यान आया कि श्रीस्वर्णगिरिक्षेत्र कितना मनोज्ञ था, वहांपर ज्ञानगुदडी नामकी विशाल शिला कैसी सुंदर थी और श्रीचंद्रप्रभस्वामी तथा चंदेरीवालोंके मंदिरमें श्रीचंद्रप्रभस्वामी आदिनाथस्वामी और श्रीवर्धमानस्वामीकी प्रतिमायें कितनी मनोज्ञ थीं' इसी धारणावाले ज्ञानका नाम स्मृतिज्ञान है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों ज्ञानोंकी सहायतासे एक सीमरी पर्यायमें उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान

(१) इसी ग्रन्थके प्रारम्भमें पृष्ठ १६से ३० तक, नयका वर्णन किया गया है; वहीं देखना चाहिये।

कहते हैं। जैसे—'हमने पहले श्रीसम्मेदशिखरकी वंदना की, दूसरे वर्ष फिर हम वंदनार्थ वहां गये और श्रीपर्वतपर चढते समय मनोहर शब्दवाले सीतानालेपर द्रव्य धोकर चरणोंके प्रक्षालके लिये जल लिया; उससमय हमें पहला भी स्मरण आया कि जिस पत्थरपर बैठकर हम आज द्रव्य धो रहे हैं, पारसाल भी इसीपर बैठे थे।' इसप्रकार वर्तमानका प्रत्यक्ष और पहलेका स्मरण, इन दोनों ज्ञानोंकी सहायतासे यह एक तीसरी ही ज्ञानकी पर्याय उत्पन्न हुई कि 'यह वही पाषाण है जिसे हमने पारसाल भी देखा था।' इस ज्ञानको न तो प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं, क्योंकि पारसालका ज्ञान भी शामिल है, और न केवल स्मृति ही कह सकते हैं, क्योंकि वर्तमान प्रत्यक्ष भी शामिल है; और न दोनों ही कह सकते हैं, क्योंकि दो ज्ञान उपयोगरूपसे एकसाथ नहीं हो सकते। इसलिये दोनोंका जोड़रूप यह तीसरा ही 'प्रत्यभिज्ञान' नामका ज्ञान है। किसी वस्तुकी व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव-संबंधका ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'तर्क' है। जैसे—धूएँको सदा अग्निके साथ रहनेहुए देखकर यह परिज्ञान कर लेना कि धूआँ अग्निके बिना नहीं रहता, इसलिये धूआँ अग्निका व्याप्य पदार्थ है।

साधनसे साध्यका ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'अनुमान' है। जैसे किसी प्रदेशमें धूआं निकलता हुआ दिखाई देता हो, तो उससे यह निश्चयात्मक ज्ञान कर लेना कि उस प्रदेशमें अग्नि अवश्य है, क्योंकि धूआं बिना अग्निके रह नहीं सकता, इसलिये वह अग्निका निश्चय कराता है। इसप्रकार

(१) कुछ लोग तर्कका अर्थ तर्कणाशील बुद्धि करते हैं, अर्थात् किसी बातपर तर्क-वितर्क (वाद-विवाद) करनेका नाम ही वे तर्क बतलाते हैं; परन्तु उस तर्क नामसे यह तर्क नाम जुदा ही है। जिन दो पदार्थोंका अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्धके ज्ञान कर लेनेको ही तर्क संज्ञा दी गई है। यह प्रमाणरूप (यथार्थ) ज्ञान है, वादविवादवाला तर्क अप्रमाणरूप (अयथार्थ) ज्ञान है। यही दोनोंमें भेद है।

(२) जहां धूआँ पाया जाता है, वहां अग्नि अवश्य रहती है, अग्निके बिना धूआं कभी नहीं रह सकता, इसीका नाम 'व्याप्य' है। अग्नि धूआँके बिना भी तपेहुए लोहे आदिमें पाई जाती है, इसलिये वह 'व्यापक' है।

साधनसे (हेतुसे) साध्यका निश्चयात्मक ज्ञान कर लेना, इसीका नाम 'अनुमान' है। जैसे कोई कोई तर्कको तर्कणाशील बुद्धि समझते हैं, वैसे अनुमानको भी अन्दाजा समझते हैं; उसीप्रकार बोलते भी हैं कि 'अमुक बात मैंने अनुमानसे कही थी, मुझे उससमय ऐसी ही मालूम हुई थी, झूंठी निकल गई तो क्या हुआ ? मैंने निश्चयरूपसे तो नहीं कही थी, अनुमानसे कही थी।' यहांपर अनुमानसे कहने-वालेका अभिप्राय अन्दाजा है। किसी बातको अटकलसे अनिश्चय एवं संदेहरूपमें प्रगट कर देनेका नाम अंदाजा है। परंतु अंदाजाके अर्थमें अनुमानका प्रयोग करना सर्वथा असंगत है, विपरीत है। कारण अनुमानज्ञान प्रमाणात्मक है, वह सदा निश्चयात्मक ही होता है और यथार्थ ही होता है। जो निश्चयात्मक और यथार्थ नहीं होवे, उसे अनुमान नहीं कहना चाहिये, किंतु अनुमानाभास अथवा मिथ्याज्ञान कहना चाहिये। जो अविनाभावी हेतुसे यथार्थरूपमें निश्चयात्मक साध्यका बोध किया जाता है, उसीको 'अनुमानज्ञान' कहते हैं। इसीलिये धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्य, सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाएँ, आकाशद्रव्य, ये सब जैसे आगम-प्रमाणसे जाने जाते हैं, वैसे हेतुवादसे भी जाने जाते हैं। परंतु जहां अविनाभावी हेतुका प्रयोग नहीं किया जाता, वहां उनका ज्ञान ठीकठीक नहीं हो सकता। जहां अविनाभावी हेतुके प्रयोगद्वारा साध्यका ठीक ठीक निश्चय कर लिया जाता है, वहां उस ज्ञानको 'अनुमानप्रमाण' कहते हैं। परोक्षपदार्थोंका ज्ञान आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण, इन दो ज्ञानोंसे ही होता है। अनुमानज्ञान सदा अविनाभावी हेतुसे ही होता है; इसीलिये वह नियमसे यथार्थ होता है। कभी विपरीत या संदेहात्मक हो नहीं सकता। सच्चे ज्ञानका नाम ही अनुमान है। इसीलिये जो सन्देहात्मक (अन्दाजू) ज्ञानके लिये अनुमान शब्दका प्रयोग करते हैं अथवा वैसा समझते हैं, वे

सिद्धि

शास्त्रीयपद्धतिसे विरुद्ध कहनेवाले वा समझनेवाले हैं। अनुमानप्रमाणमें सबसे बडी बात विचार करनेकी यही होती है कि—जिस हेतुसे विवादकोटिमें लायेगये साध्यकी सिद्धि की जाती है, वह हेतु कभी साध्यको छोडकर भी रह सकता है? अथवा सदा साध्यके साथ ही रहनेवाला है? यदि साध्यको छोडकर भी रह सकता हो, तो वह अविनाभावी नहीं कहा जा सकता; अतएव वह साध्यका निश्चायक भी नहीं हो सकता। अविनाभावी हेतु उसे ही कहते हैं जो साध्यके बिना नहीं रह सके। वैसे अविनाभावी हेतुके देखनेसे जो साध्यका ज्ञान होगा, वह सदा निश्चयरूप ही होगा। इसीलिये अनुमानप्रमाण यथार्थ होता है। उससे कीहुई पदार्थ-सिद्धि नियमसे यथार्थ होती है।

पांचवाँ परोक्षप्रमाण आगम है सत्यवक्ताके द्वारा कहेगये वचनसे जो पदार्थ-ज्ञान होता है, उसे ही आगम कहते हैं। सत्यवक्ताको आप्त कहते हैं। प्रधान सत्यवक्ता सर्वज्ञ वीतराग श्रीअर्हंतदेव हैं। उनकी दिव्यध्वनिसे जो श्रोताओंको पदार्थका बोध होता है, वह बोध ही आगम कहा जाता है। तथा अर्हंतदेवके द्वारा कहेगये पदार्थोंको ज्योंका-त्यों श्रीगणधरदेव और आचार्य प्रत्याचार्य कहते आये हैं, वे गौणआप्त हैं; परंतु वे सर्वज्ञदेवके कथनका ही वर्णन करते हैं, इसलिये वे भी आप्त हैं। उनके वचनोंसे जो पदार्थ-बोध होता है, वह भी आगम है। जैनशास्त्रोंको भी आगम कहा जाता है, वह उपचार-कथन है। वास्तवमें शास्त्रोंसे जो अर्थज्ञान होता है, उस ज्ञानका नाम आगम है। उस ज्ञानमें शास्त्र कारण हैं, इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके शास्त्रोंको भी आगम कहा जाता है। जिसका वक्ता सत्य है, वही आगम हो सकता है, और नहीं। दिगम्बर जैनाचार्योंने ही सर्वज्ञदेवके वचनोंका अनुसरण किया है, उनके कथनको शास्त्रोंकी रचना द्वारा मूर्तिमान् रूप दिया है। जो शास्त्र अल्पज्ञोंकी मूल रचना है,

१७

वे आगम नहीं कहे जा सकते। जैनागम युक्ति और प्रमाणोंसे अखंडित एवं निराबाध है, इसलिये वह प्रमाणभूत है। वास्तवमें विचार किया जाय, तो सबसे ऊपर प्रमाण अथवा सबसे बड़ा प्रमाण आगम ही है। जो पदार्थ मनुष्योंकी बुद्धिसे अगम्य हैं और जिनका परिज्ञान करानेमें युक्तिवाद भी असमर्थ है, उनका ज्ञान आगम-प्रमाणसे सहज हो जाता है। यदि लोकसे अथवा शास्त्रसे, युक्तिसे अथवा हेतुवादसे आगम-कथित पदार्थोंमें बाधा आती हो, तो उसे आगम नहीं मानना चाहिये। जैनागम-कथित पदार्थोंमें कभी कोई बाधा नहीं आ सकती। इसलिये वह सर्वोपरि प्रमाण है। इसप्रकार परोक्षप्रमाणके पांच भेद हैं। इन प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणोंसे और नयोंसे वस्तुतत्त्वका यथार्थ निर्णय करते हुये सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करना चाहिये।

दर्शन और ज्ञानमें भेद।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनसहभाविनः अपि) सम्यग्दर्शनका सहभावी होनेपर भी (बोधस्य) सम्यग्ज्ञानका (पृथगाराधनं) जुदा आराधन करना अर्थात् सम्यग्दर्शनसे भिन्न प्राप्ति करना (इष्टं) इष्ट है; (यतः) क्योंकि (अनयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें (लक्षणभेदेन) लक्षणके भेदसे (नानात्वं) नानापन अर्थात् भेद (संभवति) घटित होता है।

विशेषार्थ—जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उससमय उसीके साथ मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। साथसाथ होनेपर भी, सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पीछे सम्य-

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उपदेश दिया गया है। यहांपर यह शंका होती है, 'जबकि दोनों साथ ही प्रगट होते हैं तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये ही उपदेश देना ठीक है, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्यों पृथक् उपदेश दिया गया है ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि साथसाथ दोनों प्रगट होते हैं, फिर भी दोनोंका लक्षण जुदा है, दोनोंकी संख्या जुदी है, दोनोंके आवरण करनेवाले कर्म जुदे हैं, दोनोंका क्षयोपशम जुदा है, दोनोंके कार्य जुदे हैं, दोनोंके स्वरूप जुदे हैं; इसलिये उनका भिन्न भिन्न विधान बतलाया गया है । सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ऊपर कहा जाचुका है। सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ जानना है। किसी वस्तुको न कमती, न बढती, न संदेहरूप, न विपरीतरूप, न अनध्यवसायरूप जानना किंतु जैसी है वैसी ही समझना; इसीका नाम सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् जो ज्ञान संशय-विपर्यय अनध्यवसायसे रहित यथार्थ वस्तुका परिचायक है, वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन उपशम, क्षय, क्षयोपशम, इन भेदोंसे तीनप्रकार है। सम्यग्ज्ञान सुमति, सुश्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, इन भेदोंसे पांचप्रकार है। सम्यग्दर्शनका आवरक-कर्म दर्शनमोहनीय है। सम्यग्ज्ञानका आवरक-कर्म ज्ञानावरण है। उन भिन्नभिन्न आवरणोंसे दोनोंके क्षयोपशमादिक भाव भी जुदे जुदे हैं। सम्यग्दर्शनका कार्य मोक्षमार्ग पर पहुंच जाना है। सम्यग्ज्ञानका कार्य उस मार्गमें आईहुई अविवेकजनित बाधाओंका हटाना है। सम्यग्ज्ञान आत्माका जुदा गुण है, सम्यग्दर्शन जुदा गुण है। इन लक्षणादिक भेदोंसे ज्ञान-दर्शन दोनोंका जुदा जुदा आराधन कहा गया है। श्लोकमें 'संभवति' क्रिया दीगई है, उसका यह अभि-प्राय है कि इन दोनोंमें नानापना संभव है; अर्थात् विवक्षावश नानात्व भी है और अभेदविवक्षासे अभिन्नता भी है। लक्षणादि भेद विवक्षासे भेद है; अन्यथा नहीं है।

दोनोंमें कार्य-कारणभाव ।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदंति जिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानंतरं तस्मात् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(जिनाः) जिनेंद्रदेव (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञानको (कार्यं) कार्य और (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शनको (कारणं) कारण (वदंति) कहते हैं, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानाराधनं) सम्यग्ज्ञानका आराधन (सम्यक्त्वानंतरं) सम्यग्दर्शनके पीछे (इष्टं) ठीक है ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार सूर्य और प्रकाश दोनों ही साथसाथ होते हैं; परंतु सूर्य कारण है, प्रकाश उसका कार्य है। इसलिये प्रकाशप्राप्तिके लिये पहले सूर्यकी आराधना की जाती है, पीछे प्रकाशकी। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथसाथ होते हैं, फिर भी सम्यक्त्व कारण है, सम्यग्ज्ञान उसका कार्य है। अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके होनेसे ही ज्ञानमें सम्यग्ज्ञानपना आता है। इसलिये सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें सम्यग्दर्शन कारण है। पहले कारण की प्राप्ति की जाती है, पीछे कार्यकी। इस दृष्टिसे सम्यग्दर्शन पहले उपास्य अथवा प्राप्तव्य है, और सम्यग्ज्ञान पीछे उपास्य है।

समकालमें होनेवाले कार्य-कारणका दृष्टांत ।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटं ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(समकालं) समान कालमें अर्थात् एक कालमें (जायमानयोः अपि) उत्पन्न हुए भी (सम्य-

क्त्वज्ञानयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें (कारणकार्यविधानं) कार्य-कारणभाव (दीपप्रकाशयोः इव) दीप और प्रकाशके समान (सुघटं) भले प्रकार घटित होता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार दीपक जिससमय जलाया जाता है उसीसमय उसके जलनेके साथ ही उसका प्रकाश भी उत्पन्न हो जाता है, प्रकाशकी उत्पत्तिमें दीप कारण है, प्रकाश उसका कार्य है, परंतु दोनों ही एक क्षणमें उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ उत्पन्न होते हैं। दोनोंकी उत्पत्तिका समान काल है। फिर भी दोनोंमें कार्य-कारणभाव है। कहीं कहीं कारण पहले रहता है, कार्य पीछे उत्पन्न होता है। एक कालमें उत्पन्न हुए पदार्थ स्वतंत्र होते हैं, उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं होता। इसी आशयको लेकर यहां भी शंका उत्पन्न हो सकती है कि 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका समानकाल है, फिर उनमें कार्य-कारणभाव कैसा?' उसीका उत्तर यह दिया गया है कि—समानकालमें उत्पन्नहुए पदार्थोंमें भी कार्य-कारणभाव होता है; जैसे दीप और प्रकाशमें। उसीप्रकार यहां सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥ ३५॥

अन्वयार्थ—(सदनेकांतात्मकेषु) समीचीन अनेकांतस्वरूप (तत्त्वेषु) तत्त्वोंमें (अध्यवसायः) यथार्थ-बोध (कर्तव्यः) प्राप्त करना चाहिये, (तत्) वही (संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं) संशय, विपर्यय, अन-ध्यवसायसे रहित (आत्मरूपं) आत्माका स्वरूप है।

विशेषार्थ—यहांपर सत् (समीचीन) विशेषण दो अर्थोंको सिद्ध करता है । एक तो यह कि
सत्स्वरूप और अनेकांतस्वरूप तत्त्वोंका मनन करना चाहिये; द्रव्यका लक्षण सत् (सत्ता) कहा गया
है और सत्का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप अनेकांत है, इसलिये तत्त्वस्वरूपका बोध करानेके लिए
यहांपर सत् पद भी दिया गया है, और अनेकांत पद भी दिया गया है । दूसरा अर्थ यह होता है कि—
जो अनेकांत है वह सत् समीचीन है । सर्वथा अनेकांत तथा कथंचित् अनेकांत ऐसे अनेकांतके भी दो
भेद हैं, उनमें सर्वथा अनेकांत भी वस्तुस्वरूप नहीं है, कथंचित् अनेकांत वस्तुस्वरूप है अर्थात् वस्तु
कथंचित् अनेकांत है, कथंचित् एकांत है । कथंचित् एकांत भी समीचीन है, सर्वथा एकांत भी समीचीन
नहीं है । इसी अर्थको स्वामी समंतभद्राचार्यने "अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः । अनेकांतः
प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् ।" इस कारिकाद्वारा प्रगट किया है । इसका अभिप्राय यही है कि प्रमाण
और नयोंकी सिद्धिसे अनेकांत भी अनेकांत है, प्रमाणसे अनेकांत है, तथा विवक्षितनयसे वही एकांत
है । अनेकांतस्वरूप तत्त्वोंका अनुमनन करना ही सम्यग्ज्ञान है । वह सम्यग्ज्ञान आत्माका निजस्वरूप
है । क्योंकि पदार्थोंका सत्स्वरूप जानना ही सम्यग्ज्ञान है, तथा सम्यग्ज्ञान आत्माके निजरूपको छोड
कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है । जिस ज्ञानमें संशय-विपर्यय-अनध्यवसायभाव रहते हैं, वह ज्ञान मिथ्याज्ञान
है । संशयका लक्षण यह है कि जो ज्ञान एक साथ एक पदार्थका अनेक कोटियोंको ग्रहण करे वह
संशयज्ञान कहलाता है । जैसे सीपको देखकर यह ज्ञान होना कि यह सीप है या चांदी है ? यहांपर
ज्ञानका निश्चय न तो सीपमें ही है और न चांदीमें ही है; दोनों कोटियोंमें बराबर है । ऐसे संशयकोटिमें
आए हुए ज्ञानको संशयज्ञान कहते हैं । जो ज्ञान पदार्थके स्वरूपसे विपरीत कोटिको निश्चयरूपसे ग्रहण

करे उसे विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे सीपको देखकर यह निश्चय हो जाना कि यह चांदी ही है। यहां पर वस्तुस्वरूप सीप है, परंतु सीपसे सर्वथा विपरीत चांदीका ज्ञान सीपमें निश्चयात्मक हुआ है, इसलिए वह विपर्ययज्ञान कहलाता है। विपर्ययमें विपरीत कोटिका निश्चय होता है, संशयमें दोनों कोटियोंमें संदेह रहता है, निश्चय किसी कोटिका नहीं हो पाता। अनध्यवसाय इन दोनोंसे भिन्न ज्ञान है, उसमें पदार्थका बोध ही नहीं हो पाता कि क्या है? अविदित एवं मलिन ज्ञानकी कोटिको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे रास्ता चलते हुए पैरमें किसी तृणादिका स्पर्श हुआ हो तो वहां यह ज्ञान नहीं होता कि किस वस्तुका यह स्पर्श हुआ है, किंतु कुछ स्पर्श हुआ है, बस इतना ही ज्ञान होता है। इसी मलिन (बिना जानी हुई) पर्यायको अनध्यवसायज्ञान कहते हैं। ये ज्ञानके तीनों ही रूप मिथ्या हैं। वस्तुस्वरूपसे विपरीत हैं। इसलिये जो ज्ञान इन तीनों मिथ्याज्ञानोंसे रहित होता है वही सम्यग्ज्ञान है। यथार्थ वस्तुस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसी सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये सदा तत्त्वोंके वास्तविक स्वरूपका अध्ययन, मनन, चिंतवन एवं विचारणा विवेचना आदि करते रहना चाहिये। शास्त्रोंके स्वाध्याय करनेकी तथा उन्हें पढनेकी यह पद्धति है कि—पहले शास्त्रोंको पढना चाहिये, अर्थात् उनके अर्थपर ध्यान देतेहुए उनका स्वाध्याय करना चाहिये। फिर उसमें जो जो शंकायें अपनेको मालूम हुई हों उनका समाधान विद्वान् एवं विशेष जानकारोंसे पूछना चाहिये। पीछे, निर्णय करनेके पश्चात् स्वयं उन तत्त्वोंका मनन और चिंतवन करना चाहिये। मनन करनेके पश्चात् उन सूत्रोंको अथवा श्लोक या वार्तिकोंको शुद्धरूपमें पाठ करके ध्यानमें रख लेना चाहिये। ध्यानमें रख लेनेसे अथवा उन्हें कंठस्थ कर लेनेसे स्वयं भी पदार्थबोधकी धारणा बनी रहती है, और दूसरोंके लिये भी प्रमाण दिया जा सकता

है। जिससमय पढ़कर, पूछकर, मननकर और शुद्ध पाठकर पदार्थस्वरूपका निश्चयात्मक धारणारूप यथार्थ बोध प्राप्त कर लिया जाय, उससमय दूसरोंको धर्मोपदेश देना चाहिये। स्व-परहित-सिद्धि करना ही जीवके जीवनका सार है। स्व-हित साधन करनेके पीछे ही परहित साधन करना श्रेष्ठ एवं कार्यकारी है। इसलिये पहले सम्यग्ज्ञानको स्वयं अच्छी तरह उपार्जन करना चाहिये, पश्चात् दूसरोंकी हितदृष्टि रखकर उन्हें भी सत् वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध करा देना चाहिये॥

सम्यग्ज्ञानके अष्ट अंग।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं॥ ३६॥

अन्वयार्थ—(काले) अध्ययनकालमें (विनयेन) विनयपूर्वक (बहुमानेन समन्वितं) अतिशय सम्मानके साथ अर्थात् आदर भक्ति एवं नमस्कार क्रियाके साथ (ग्रंथार्थोभयपूर्णं) ग्रंथ—शब्दसे पूर्ण अर्थसे पूर्ण और शब्द अर्थ दोनोंसे पूर्ण (सोपधानं च) धारणासहित अर्थात् शुद्धपाठ सहित (अनिह्नवं) बिना किसी बातको छिपाये (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (आराध्यं) प्राप्त करना चाहिये।

विशेषार्थ—स्वाध्याय अथवा शास्त्रोंका अध्ययनकाल जो बताया गया है उसी कालमें स्वाध्याय अथवा अध्ययन करना चाहिये, जो काल ग्रन्थोंके पठनपाठनका शास्त्रोंमें निषिद्ध कहा गया है उस कालमें पठनपाठन नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय सरीखी उत्तमक्रियाओंका भी क्या काल नियत है, उन्हें हर समय क्यों नहीं कर सकते हैं? निषिद्धकालमें स्वाध्याय करनेसे अथवा अध्ययन करनेसे क्या

हानि होती है? इत्यादि प्रश्नोंका पहला उत्तर तो यह है कि जिस क्रियाका विधान जिससमय आगममें किया गया है, वह क्रिया उसी कालमें करना चाहिये। यदि आगमविहित मार्ग अथवा विधानकी परवा नहीं की जाय तो फिर उस साध्यरूप क्रियासे भी क्या फल हो सकता है? शास्त्रोंमें जिसप्रकार उत्तम चारित्रधारी मुनियोंकी चर्याका समयानुसार विधान बताया गया है—उनकी आहारगमन क्रियाका काल, उनके सामायिकका काल, उनके स्वाध्यायका काल, उनका शयनकाल आदि समस्तकाल नियत हैं उन्हीं कालोंमें वे नियत क्रियाओंको करते हैं, उसीप्रकार स्वाध्याय अथवा अध्ययनकाल भी नियतकाल है। जो सामायिकका समय है उससे अतिरिक्त समयमें सामायिकमें उतना चित्त भी नहीं लग सकता, अन्यान्यबाधायें भी उपस्थित हो सकती हैं इसलिये प्रातःकाल मध्याह्नकाल सायंकाल सामायिकके लिये नियत हैं। उसीप्रकार स्वाध्यायकाल भी नियत हैं, नियत समयसे अतिरिक्तकालमें स्वाध्याय करनेमें व्यग्रता हो सकती है, अन्यान्य बाधायें उपस्थित हो सकती हैं, प्रमाद आ सकता है, बुद्धिमें मांद्य आ सकता है, इत्यादि अनेक विघ्न आ सकते हैं; इसलिये आगमद्वारा नियतकालमें ही स्वाध्याय करना चाहिये। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि समयका प्रभाव आत्मापर पडता है। जो निर्मलता प्रातःकाल परिणामोंमें रहती है वह दूसरे समयमें नहीं रहती। जैसे रात्रिको कोई बात ध्यानमें अथवा स्मरणमें नहीं आती है वह प्रातःकाल आ जाती है, इससे सिद्ध होता है कि समय भी परिणामोंकी उज्वलता एवं मलिनताका कारण है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषोंको उचित है कि जो समय आगममें शास्त्रस्वाध्याय एवं अध्ययनका बताया गया है उसीमें वह करना चाहिये। किस समयमें अध्ययन करना चाहिये, अथवा किसमें नहीं करना चाहिये इसका विधान इसप्रकार है—

गोसर्ग[1]काल, प्रदोष[2]काल, प्रदोष[3]काल और विरात्रि[4]काल, इन चार उत्तमकालोंमें पठनपाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं। चारों संध्याओंकी अंतिम दो दो घडियोंमें, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इंद्रधनुष, सूर्य-चंद्रग्रहण, तूफान, भूकंप आदि उत्पातोंके समयमें सिद्धांतग्रंथोंका पठनपाठन वर्जित है। हां, स्तोत्र आराधना धर्मकथादिके ग्रंथ बांचनेमें कोई हानि नहीं है।

जिनवाणीकी भक्ति हृदयमें रखकर विनयपूर्वक स्वाध्याय करनेको विनयाचार कहते हैं। विनय दो प्रकार है—१ बाह्य, २ अभ्यंतर। बाह्यविनय वह कहलाता है कि शुद्धशरीर तथा शुद्धवस्त्रोंसे शुद्ध ऊंचे स्थानमें विनयासनपूर्वक शास्त्रोंका स्वाध्याय करना। जिससमय शास्त्र लाये जाते हों उससमय खडे हो जाना। उनके चौकीपर विराजमान हो जानेपर अष्टांग नमस्कार करना, उन्हें उत्तम वेष्टनमें रखना, सुरक्षित रखना, सर्दीमें धूप दिखाना, लिखना, लिखवाना, दूसरेको स्वाध्यायके लिये देना, ये सब बातें बाह्यविनयमें गर्भित हैं। अभ्यंतर विनय वह कहलाता है, कि हृदयमें जिनवाणीकी पूर्णभक्ति रखना, शास्त्रोंका अच्छी तरह मनन करके बुद्धिको निर्मल एवं विशेष क्षयोपशमशालिनी बनाना, जैनधर्मके सिद्धांतोंको सर्वव्यापी बनाना, इत्यादि अंतरंग विनय है।

व्याकरणसे शब्दोंको परिष्कृत करके, अर्थात् शब्दशास्त्रसे शब्द वा वाक्योंको शुद्ध करके अक्षर, पद, वाक्य, चरण, श्लोक, पंक्ति, सूत्र आदिका शुद्धोच्चारणपूर्वक पठन पाठन करनेका नाम शब्दाचार

---

(१) मध्याह्नसे दो घडी पहिले और सूर्योदयसे दो घडी पीछेका काल। (२) मध्याह्नके दो घडी पश्चात् और रात्रिसे दो घडी पहलेका काल। (३) रात्रिके दो घडी उपरांत और मध्यरात्रिसे दो घडी पहलेका काल। (४) मध्यरात्रिसे दो घडी पश्चात् और सूर्योदयसे दो घडी पहलेका काल।

अथवा ग्रंथाचार है। शब्दाचार, श्रुताचार, व्यंजनाचार, अक्षराचार, ग्रंथाचार आदि सभी पर्यायवाची (एकार्थवाचक) शब्द हैं। यथार्थअर्थका परिज्ञान करनेका नाम अर्थाचार है, अर्थात् जिन शब्द अथवा वाक्योंका जो अर्थ विहित है वही अर्थ उन शब्द वा वाक्योंका करना अर्थाचार है। विहित अर्थसे प्रतिकूल अर्थ करना अनर्थ है एवं विपरीत मार्ग है। विपरीत अर्थ करनेसे दर्शनमोहनीयकर्मका बंध होता है; क्योंकि किसी वाक्यका अथवा श्लोकका विपरीत अर्थ करना सबसे बडा पाप है, वैसा करनेसे अपना और दूसरोंका महान् अकल्याण होता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि जो आगमके अनुकूल अर्थ है वही ग्रहण करें। यही अर्थाचारनामा ज्ञानका अंग है। शब्द और अर्थ दोनोंके शुद्ध और यथार्थ पठनपाठन करनेका नाम उभयाचार है। यहांपर यह शंका उठायी जा सकती है कि 'शब्दाचार अर्थाचारको जुदाजुदा कह चुके हैं, उभयाचार उनसे भिन्न नहीं है, उन्हीं दोनोंका नाम है; इसलिये दोनोंमें गर्भित हो सकता है, उसका जुदा ग्रहण क्यों किया गया है?' इसके उत्तरमें यह बात समझलेना चाहिये कि—कहीं केवल अर्थाचारसे ही काम निकलता है; जैसे श्रीशिवभूतिमुनिका शरीरसे आत्मा तुष-माष (भूसीसे उर्द)-के समान जुदा है, इस भावज्ञानसे ही कल्याण हो गया। कहींपर केवल शब्दसे ही ज्ञानकी उपासना की जाती है; जैसे दशाध्याय सूत्र और भक्तामर, कल्याणमंदिर, विषापहार आदि स्तोत्रोंका मूलपाठ पढने और सुननेसे भी कल्याण होता है। यहांपर केवल शब्दशास्त्रमें ही निष्ठा पाई जाती है। उपर्युक्त दोनों आचारोंमें उभयाचार सम्मिलित नहीं होता, इसलिये एक साथ दोनोंकी (अर्थाचार और शब्दाचारकी) पूर्तिके लिये उभयाचारका जुदा ग्रहण किया गया है। शब्दाचार अर्थाचार तथा उभयाचार इनकी शुद्धता रखना ही जिनवाणीका मूल विनय है। इनकी अशुद्धतामें

जीवोंकी बडी भारी हानि हो सकती है। हां, जहांपर हृदयमें जिनवाणी अथवा शास्त्रोंपर परमभक्ति है वहां स्वल्पबोधवश कुछ वैपरीत्य होनेपर भी पापबंध अथवा अकल्याण नहीं होता। कारण भावोंसे ही पापबंध होता है, भावोंमें जहांपर वैपरीत्यबुद्धिका समावेश है वहां थोडा भी वैपरीत्य महान् पापबंधका कारण है। दृष्टांतके लिये अंजनचोरको ले लीजिये; अपने जीवनकी समाप्ति समझकर उसने धर्मनिष्ठ सेठके वचनोंपर दृढ विश्वास करके *"ताणं ताणं सेठवचन परमाणं"* इस अशुद्ध णमोकार मंत्रके पढनेसे ही कल्याण प्राप्त किया। और राजा वसुने बुद्धिपूर्वक अजका 'जौ' अर्थ न करके विपरीत अर्थ 'बकरा' (छाग) करनेसे नरक प्राप्त किया। इन दृष्टांतोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि बुद्धिपूर्वक भावोंसे एक शब्दका भी विपरीत अर्थ होनेसे कितना भारी पाप होता है कि जिसके फलसे नरक जाना पडता है। और शुद्ध अंतःकरण तथा दृढश्रद्धामें कितना तत्त्व भरा हुआ है कि जिसके फलसे शब्दांतर होनेपर भी कल्याण लाभ हुआ। बुद्धिमान पुरुषोंका प्रधान कर्तव्य है कि शब्दाचार अर्थाचाररूप सम्यग्ज्ञान पालनका पूर्ण ध्यान रक्खें।

सम्यग्ज्ञानका पूर्ण आदर करना, ग्रंथोंका पूर्ण आदर और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले गुरुओंका पूर्ण आदर करना, यह बहुमानाचार कहलाता है। यह बात निश्चित है कि जबतक जिस वस्तुकी प्राप्ति करना चाहते हैं उसके प्रति आदरभाव एवं अकांक्षा विशेष नहीं होगी, तबतक उसकी प्राप्ति होती नहीं। फिर जिस वस्तुकी प्राप्ति केवल भावोंकी विशुद्धता मात्रसे संबंध रखती है उस वस्तुके प्रति यदि भावोंमें अनादरपना अथवा मलिनता है तो फिर उसकी प्राप्ति अशक्य ही समझना चाहिये। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह नितांत आवश्यक बात है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना की जाय, सम्यग्ज्ञानकी

प्राप्तिमें कारणभूत ग्रंथों और गुरुओंकी उपासना की जाय। जबकि हमारी भावना शुद्ध और बलवती होगी तो अवश्य ही विशेषज्ञानकी प्राप्ति होगी; ऐसा समझकर बहुमानाचारनामा ज्ञानका अंग ध्यानपूर्वक पालना चाहिये। इस अंगकी परवा नहीं करनेसे न तो शिष्य और गुरुमें शिष्य-गुरु संबंध ही रहता है और न समीचीन ज्ञानकी उपासना ही होती है। परिणाम यह होता है कि पुरुष कुमतिज्ञानी बन जाते हैं। सूत्र, वार्तिक, श्लोक, गाथा आदिको न भूलनेका नाम उपधानाचार है। मूलग्रंथका स्मरण रखना अत्यावश्यक है: बिना उसके शब्दविपर्यास और अर्थविपर्यास होनेकी पूरी संभावना रहती है, इसलिये मूलपाठकी धारण रखना नितांत आवश्यक है; इसीका नाम उपधानाचार है।

ज्ञानको गुरुको और शास्त्रको नहीं छिपाना अनिह्नवाचार कहलाता है। ज्ञानके छिपानेसे ज्ञानावरणकर्मका बंध होता है। ज्ञानका तो जितना प्रसार किया जाय उतनी ही उसकी वृद्धि होती है, उसे जितना छिपाकर रक्खा जाय उतना ही वह मंद कुंठित तथा विस्मृत होता जाता है; इसलिये ज्ञानको कभी नहीं छिपाना चाहिये। अहो ! ज्ञानको छिपाकर क्या आत्माके गुणोंको फिरसे कर्मोंद्वारा ढकना चाहते हो? कठिनतासे तो कथंचित् उनका विकाश हुआ है, इसलिये प्रकाशमें लाकर उसकी वृद्धि करना ही बुद्धिका सदुपयोग है। इसीप्रकार ज्ञानदान करानेवाले अथवा तत्त्वबोध करानेवाले विद्या-गुरुओंका नाम भी नहीं छिपाना चाहिये। गुरुका नाम छिपानेसे कृतघ्नताका दोष आता है। सज्जन पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे किये हुए उपकारको भूलें नहीं। सबसे बडा उपकार ज्ञानदान है, जिसने सम्यग्ज्ञानका दान किया है उसने अनंतसंसारका विच्छेद करनेका मार्ग दिखाया है। ऐसे महान् उपकारीका नाम छिपाना अत्यंत कृतघ्न आत्माओंका कार्य है। दूसरी बात यह है कि गुरुका नाम छिपानेसे अपने ज्ञानमें प्रमाणीकता

नहीं आती है; इसलिये गुरुका नाम कभी गोपन नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार जिन शास्त्रोंसे अध्ययन किया हो उनका नाम तथा उनके रचयिताओंका नाम भी नहीं छिपाना चाहिये। इसीका नाम अनिह्नवाचार है। इसप्रकार १ कालाचार, २ विनयाचार, ३ शब्दाचार, ४ अर्थाचार, ५ उभयाचार, ६ बहुमानाचार, ७ उपधानाचार, ८ अनिह्नवाचार, ये सम्यग्ज्ञानके आठ अंग हैं। इनका पालन करना नितांत आवश्यक और परमोपयोगी है।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषकी (वादीभकेशरी न्यायालङ्कार) पं० मक्खनलालशास्त्री-कृत अन्वयार्थबोधिनी नामक हिन्दीटीकामें सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ॥ २॥

सम्यक्चारित्र धारण करनेयोग्य पुरुष।

विगलितदर्शनमोहैः समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकंपैः सम्यक्चारित्रमालंब्यं॥ ३७॥

अन्वयार्थ—(विगलितदर्शनमोहैः) नष्ट हो चुका है दर्शनमोहनीयकर्म जिनका (समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः) सम्यग्ज्ञानके द्वारा जाने हैं जीव अजीव आदिक तत्त्व जिन्होंने (नित्यमपि निःप्रकंपैः) जो सदा अडोल अथवा अचल रहनेवाले हैं, ऐसे पुरुषों—जीवों द्वारा (सम्यक्चारित्रं) सम्यक्चारित्र (आलंब्यं) धारण किया जाना चाहिये।

विशेषार्थ—जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होचुकी है, और जो सम्यग्दर्शनकी दृढतासे कभी विचलित नहीं होते हैं, वे ही जीव सम्यक्चारित्र धारण करनेके पात्र हैं। अथवा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिये। विना सम्यक्चारित्र धारण किये आत्मा उन्नत अवस्थामें नहीं जा सकता, कषायोंका परित्याग नहीं कर सकता, इंद्रियोंपर विजयलाभ नहीं कर सकता; अतएव आत्माके निज-गुणोंका विकाश भी नहीं कर सकता। और निज गुणोंके विकाशके विना आत्माकी अवनत (नीचकी) दशा रहती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंको उचित है कि सम्यक्चारित्र धारण करके जीवनको महत्वशाली एवं सुखमय बनावें। परंतु सम्यक्चारित्रसे पहले उस आत्माको सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बनना परम आवश्यक है, विना सम्यग्दर्शन लाभ किये वह सन्मार्गपर आरूढ ही नहीं हो सकता। वैसी अवस्थामें उसकी जितनी भी क्रियायें होंगी, सब मिथ्याचरणरूप होंगी। उन सम्यक्त्व-विहीन मिथ्याचरण-युक्त क्रियाओंसे पापबंधके सिवा कोई लाभ नहीं। इसलिये वे ही क्रियाएं फलवती होती हैं जो सम्यक्त्वपूर्वक हैं। सम्यक्त्व-प्राप्तिके साथ सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी सम्यक्चारित्रसे पहले आवश्यक है, विना सम्यग्ज्ञान प्राप्त किये समस्त क्रियाएं उतना फल नहीं दे सकतीं जितना कि सम्यग्ज्ञानीको हो सकता है। कारण भी उसका यह है कि सम्यग्ज्ञानीके विचारोंमें सदा तात्त्विकबोध जागृत रहता है, उसके निमित्तसे वह लघु क्रियाओं-द्वारा भी विशेषफलका भाजन बन जाता है। विना सम्यग्ज्ञान-प्राप्तिके विशेष एवं कठिन तपसे भी कम फलकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु यह कोई नियम नहीं है कि विशेषज्ञानी ही सम्यक्चारित्र धारण करनेका अधिकारी है; जो स्वल्पज्ञानी हैं वे भी विशेष मंदकषाय तथा कठिन तप करनेवाले पाये जाते हैं। ऐसी

अवस्थाओंमें तपोबलसे ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम कालांतरमें सुतरां (अपने आप) हो जाता है। यद्यपि प्राथमिकअवस्थामें सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञानकी कारणता विशेष फलप्रद होनेसे आवश्यक है, तथापि आगे चलकर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि तथा पूर्ण प्राप्तिके लिये सम्यक्चारित्र ही कारण पडता है। इसलिये मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्तिकी योग्यता छठे गुणस्थानसे पहले नहीं बतलायी गई है। छठे गुणस्थानमें भी जो विशेष संयमी और ऋद्धिप्राप्त हैं, उन्हीं तपस्वियोंके उसकी योग्यता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विशेष चारित्रमें ही यह शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह ज्ञानावरणकर्मको दूर कर देती है। केवलज्ञानकी प्राप्ति सिवा क्षपकश्रेणी पर आरूढ हुए—किसी शिक्षाके ग्रहण करनेसे—नहीं होता, परम उत्कृष्ट तपोबलसे समस्त कषायों पर विजय करनेसे अर्थात् उन्हें आत्मासे सर्वथा पृथक् कर देनेसे ही आत्मा केवलज्ञानी बन जाता है, इसलिये सम्यक्चारित्रसे ही विशेषज्ञान अथवा सर्वज्ञज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा चारित्र पूज्य है। चारित्र ही लोकमें पूजा जाता है, त्याग ही चारित्रका मूर्तिमान् रूप है। इसलिये स्वल्पज्ञानी संयमी भी पूज्य है।

सम्यक्चारित्रमें सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता।

नहि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानंतरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानपूर्वकं) अज्ञानपूर्वक (चरित्रं) चारित्र (सम्यक्व्यपदेशं) सम्यक्भावको—समीचीनताको (हि) निश्चयसे (न लभते) नहीं प्राप्त होता है, (तस्मात्) इसलिये (चारित्राराधनं) चारित्रका आराधन करना (ज्ञानानंतरं) ज्ञानके पीछे (उक्तं) कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसलिये यहांपर सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्रको अज्ञानपूर्वक चारित्र कहा गया है। अज्ञानपूर्वक चारित्र कुचारित्र अथवा मिथ्याचारित्रको कहते हैं। इसलिये चारित्र तभी सम्यक्चारित्र कहलाने योग्य है जबकि वह सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दर्शन-सहित ज्ञान) पूर्वक होता है। बिना सम्यग्ज्ञानके चारित्रमें समीचीनता अथवा सम्यक्पना नहीं आता है। यह बात पहले कही जा चुकी है कि अविवेकपूर्वक चारित्र पापबंधका कारण है। संसारमें ऐसे अनेक तपस्वी देखनेमें आते हैं जो कुतप तपते हैं, शरीरको कष्ट देते हैं, वासनाओंको रोकते हैं, परंतु बिना सद्विवेकके उनका वह सब कर्म उलटा पापबंधका कारण है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक स्वल्पक्रिया अथवा थोडा व्रत भी लाभदायक है। बिना सद्विवेक या सम्यग्ज्ञानके बहुतसा तपका आचरण भी दुःखकारण है। जो पुरुष नग्न होकर जंगलमें रहकर भी आरंभी और परिग्रही हैं, जो व्रती होकर भी अमर्यादी एवं सांसारिक वासनाओंसे मुक्त नहीं हैं, जो धर्मात्मा बनते हुए भी हिंसक हैं, जो देवोपासक बनते हुए भी कुदेवाराधक हैं, जो त्यागी एवं संयमी बनकर भी अभक्ष्यसेवी और रात्रि-भोजी हैं, वे सब सद्विवेकशून्य मिथ्याचरणी हैं। इसीलिये आचार्योंका यह उपदेश है कि "हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया" अर्थात् जिन्होंने सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके भी चारित्र धारण नहीं किया, उनका वह ज्ञान व्यर्थ है; क्योंकि सद्विवेकका फल आत्माको समुज्ज्वल बनाना है, सो वे नहीं बना सके। तथा जो सम्यग्ज्ञानी नहीं हैं वे यदि चारित्र धारण करते हैं, तो उनका चारित्र नष्ट है, किसी कामका नहीं है। अज्ञानसे कीगई क्रिया कभी उत्तम फलको नहीं देसकती। जिन्होंने सम्यग्ज्ञानको प्राप्तकर, यदि चारित्र नहीं धारण किया तो उन्होंने इतनी ही हानि उठाई कि वे आत्माको विशेष महत्त्वशाली नहीं बना सके। परंतु जिन्होंने

बिना सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके चारित्र धारण किया उन्होंने तो लाभ नहीं किया इतना ही नहीं किंतु उलटा पापबंध किया। यदि वे उस चारित्रको नहीं धारण करते तो भी ठीक था, बिना सम्यग्ज्ञानके चारित्र धारण करना अंधे आदमीके समान है। जैसे एक अंधा आदमी जंगलमें पहुंच गया, वहां दैवयोगसे जंगलमें आग लग गई, आग लगने पर अंधा इधर उधर भागने लगा, जिधर भागे उधर ही उसे अग्निका संताप सताने लगा, इसीप्रकार घूमते घामते उसके चारों ओर अग्नि व्याप्त होगई तब तो उसका प्राणही मरणासन्न होगया, इसी बीचमें एक नेत्रवाले पुरुषने दौडकर उसका हाथ पकड लिया और उसे एक अग्निरहित प्रदेशसे निकाल कर बचा दिया, इसीप्रकार सद्विवेकी पुरुष उन अविवेकपूर्ण आत्माओंका उद्धार करते हैं जो कि अपनी अज्ञान क्रियाओंसे पापोपार्जन कर रहे हैं। यह सम्यग्ज्ञानका ही प्रभाव है कि जिन क्रियाओंके करनेसे मिथ्याज्ञानी कर्मबंध करता है उन्हीं क्रियाओंके करनेसे वह (सम्यग्ज्ञानी) कर्मोंकी निर्जरा करता है। इसीलिये ग्रंथकारने चारित्रकी आराधना-प्राप्तिके लिये उपासना, ज्ञानकी आराधनाके पीछे--सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पीछे बतलायी है।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ ३९॥

अन्वयार्थ---(यतः) कारण कि (समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्) समस्त पापयुक्त योगोंके दूर करनेसे (चारित्रं) चारित्र (भवति) होता है, (तत्) वह चारित्र, (सकलकषाय विमुक्तं) समस्त कषायोंसे रहित होता है, (विशदं) निर्मल होता है, (उदासीनं) रागद्वेष रहित वीतराग होता है, (आत्मरूपं) वह चारित्र आत्माका निज स्वरूप है।

विशेषार्थ—चारित्रके दो भेद हैं; १ अंतरंग चारित्र और २ बाह्यचारित्र। यहांपर अंतरंग चारित्र जो आत्माका स्वरूप है उसीका लक्षण कहा गया है। अंतरंग चारित्रका लक्षण संक्षेपमें इतना ही है कि वह निवृत्ति स्वरूप होता है, जिन मन वचन कायरूप तीन योगोंसे शुभ अशुभ रूप प्रवृत्ति हो रही है उस प्रवृत्तिका रुक जाना अर्थात् जहांपर सकषाय योग नहीं रहता है, जहां समस्त कषायोंका अभाव हो जाता है, जहां आत्मा वीतराग निर्मलभावोंको धारण करता है आत्माकी उसी अवस्थाका नाम चारित्र है वह आत्माका निजरूप है। गुप्ति समिति रूप जो चारित्र है वह भी प्रवृत्ति रूप है। सामायिक आदि चारित्रोंमें समस्त सावद्यका अभेद रूपसे त्याग किया जाता है परंतु वहांपर भी संज्वलन कषायके मंदोदयसे समस्त सावद्ययोगोंका पूर्ण परिहार नहीं हो पाता, इसलिये जहां समस्त सावद्ययोगोंका पूर्ण परिहार है ऐसा यथाख्यातचारित्र ही यहां पर अंतरंग चारित्रमें कहा गया है। क्योंकि दशवें गुणस्थान तक मन वचन कायकी प्रवृत्ति सकषाय है, वहां सूक्ष्म लोभ कषायका उदय है, इसलिये वहां सूक्ष्मसांपरायनामा चारित्र है। उससे ऊपर उपशांतकषायमें सावद्ययोग नहीं है वहींपर यथाख्यात चारित्रका प्रारंभ हो जाता है।

देशचारित्र और सकलचारित्र।

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(हिंसातः) हिंसासे (अनृतवचनात) असत्य वचनसे (स्तेयात्) चोरीसे (अब्रह्मतः) कुशीलसे (परिग्रहतः) परिग्रहसे (कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः) समस्तविरति और एक देशविरतिसे (चारित्रं) चारित्र (द्विविधं) दो प्रकार (जायते) होता है।

विशेषार्थ—चारित्रके दो भेद हैं; एक एकदेश चारित्र, दूसरा सकल चारित्र। जहांपर हिंसा झूट चोरी कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग किया जाता है वहां एकदेश चारित्र कहलाता है, जहां इन पाचों पापोंका सर्वथा त्याग किया जाता है वहां सकल चारित्र कहलाता है। सकलचारित्रका दूसरा नाम महाव्रत है, एकदेश चारित्रका दूसरा नाम अणुव्रत है। कषायोंके अनुद्रेकको अर्थात् कषायोंके उदयमें न आनेको ही चारित्र कहते हैं, जहां जितने कषायांशोंका अनुदय है वहां उतना ही चारित्र समझना चाहिये। जो कषायें आत्माके सकलचारित्रको रोकनेवाली हैं उनके अनुदय होनेपर सकलचारित्र प्रगट हो जाता है। अनंतानुबंधी क्रोधादिचतुष्टय, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोधादिचतुष्टय, प्रत्याख्यानावरणी क्रोधादिचतुष्टयके अनुद्रेक—अनुदयमें सकलचारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यानावरणी देशचारित्रको नहीं होने देती इसलिये उसके अनुदयमें एकदेशचारित्र प्रगट हो जाता है। सकलचारित्र छठे गुणस्थानसे प्रारंभ हो जाता है। दशवें तक संज्वलनकषायका उदय रहता है। संज्वलनकषाय यद्यपि सकलचारित्रका घात नहीं करती तो भी यथाख्यातचारित्रकी बाधक है, इसलिये उपशांतकषाय गुणस्थानमें उसका भी अनुदय होनेसे वहां यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है। पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणी कषायका अनुदय है इसलिये वहां देशचारित्र प्रगट हो जाता है। अनंतानुबंधिकषाय स्वरूपाचरणचारित्र और सम्यग्दर्शन दोनोंका घात करती है, इसलिये अविरतसम्यक्त्वनामा चतुर्थ गुणस्थानमें उसका अनुदय होनेसे सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणचारित्र दोनों प्रगट हो जाते हैं। अनंतानुबंधिकषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयके भेदोंमें गिनाई गई है इसीलिये चारित्रमोहनीयके २५ भेद हैं, तो भी उसमें चारित्रके घात करनेके साथ सम्यक्त्वके घात करनेकी भी शक्ति है,

इसलिये सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके लिये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके साथ अनंतानुबंधिकी चार प्रकृतियोंका भी अनुदय आवश्यक बताया गया है।

एकदेशचारित्र और सकलचारित्रके स्वामी।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(कार्त्स्न्यनिवृत्तौ) सर्वथा त्यागरूप चारित्रमें (निरतः) लवलीन रहनेवाले (अयं) ये (यतिः) मुनिमहाराज (समयसारभूतः) आत्माके सारभूत–शुद्धोपयोग रूप स्वरूपमें आचरण करनेवाले (भवति) होते हैं, (या तु) यह जो (एकदेशविरतिः) एकदेश रूप त्याग है (तस्यां) उसमें (निरतः) लवलीन रहनेवाला (उपासकः) श्रावक (भवति) होता है।

विशेषार्थ—सर्वथा त्यागरूप महाव्रतके स्वामी मुनिमहाराज होते हैं और एकदेश त्यागरूप अणुव्रतका स्वामी श्रावक–गृहस्थ होता है। जहां रंचमात्र भी आरंभ और परिग्रह है वहां मोक्षका साक्षात् साधनभूत मुनि पद नहीं पाला जा सकता, गृहस्थाश्रममें रहनेवाला पुरुष आरंभपरिग्रहके संबंधसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, इसलिये आरंभपरिग्रहके सर्वथा त्यागी वे मुनिमहाराज होते हैं जो नग्नादिगम्बर बनकर वीतराग–शुद्धोपयोग पूर्वक त्रस स्थावरकी रक्षा करते हुए जंगलमें ध्यान लगाते हैं। गृहस्थाश्रममें रहनेवाला श्रावक त्रसहिंसाका त्यागी है परंतु आरंभी उद्योगी विरोधी त्रसहिंसासे विरक्त नहीं हो पाता और स्थावर हिंसासे तो बच ही नहीं सकता। हां, अप्रोजनीभूत अनर्थदण्डस्वरूप स्थावरहिंसाको वह बचाता है परंतु फिर भी स्थावर हिंसामें लिप्त रहता है इसलिये वह एकदेश त्यागरूप चारित्रका धारक

है। सर्वथात्यागी श्रीमुनि समयसारभूत अर्थात् शुद्ध निजस्वरूपके रसास्वादन करनेवाले बन जाते हैं और एकदेश त्यागी श्रावक उस निजात्मानंदी मुनिवृत्तिका उपासक—आराधना करनेवाला बन जाता है।

हिंसाका व्यापक स्वरूप।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्) आत्माके परिणामोंकी हिंसा होनेके कारणसे (एतत् सर्वं एव) यह सब ही (हिंसा) हिंसा है; (अनृतवचनादिकेवलं) असत्य वचनादि केवल (शिष्यबोधाय) शिष्योंको बोध करानेके लिये (उदाहृतं) कहे गये हैं।

विशेषार्थ—आत्माके परिणामोंका पीडा जाना ही हिंसा है। जिस मनवचनकायसे अपने अथवा परके अथवा दोनोंके परिणामोंमें आघात पहुंचे, दुःख हो, संताप हो, कष्ट हो, उसीका नाम हिंसा है। जीवके परिणामोंकी पीडाको छोडकर हिंसा और कोई वस्तु नहीं है, इसीका नाम भावहिंसा है। जिसमें आत्मीयभावोंकी हिंसा होती है उसे ही भावहिंसा कहते हैं। वास्तवमें हिंसाका स्वरूप यही है और इतना ही है द्रव्यहिंसाको—शरीरके किसी अवयवकी अथवा समस्त शरीरकी हिंसाको (आयु-विच्छेदको) भी भावहिंसाके होनेसे ही हिंसामें गर्भित किया गया है। जो कोई किसीको शारीरिक कष्ट पहुंचाता है वहां आत्माके परिणामोंको दुःख पहुंचता है इसलिये द्रव्यहिंसा हिंसामें गर्भित हो चुकी। इसीप्रकार जिस जिस कार्यमें आत्माके परिणामोंकी हिंसा होती हो वे सब हिंसामें गर्भित हैं, जैसे—झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, तृष्णा बढाना, हंसना, रोना, राग-द्वेष करना इत्यादि सब हिंसाके

ही स्वरूप हैं, क्योंकि झूठ बोलना आत्माका निजधर्म नहीं है, आत्माका धर्म सत्य है उस आत्मीय सत्य परिणामके रहते हुए जो वचनवर्गणा खिरती है वह भी सत्यके नामसे कही जाती है। जो कोई झूठ बोलता है उसके आत्मासे सत्यरूप निजी परिणाम नष्ट होता है अथवा असत्यरूप विकार अवस्थामें आ जाता है। आत्माके परिणामोंका स्वस्वरूपमें नहीं रहना अथवा स्वस्वरूपसे च्युत होकर विकार अवस्थाको धारण कर लेना इसीका नाम भावोंकी हिंसा है, इसीप्रकार जितने भी आत्माके निज स्वरूपको विकृत बनानेवाले कार्य हैं वे सब हिंसामें गर्भित हैं। चोरी करना, कुशील सेवन करना आदि भी आत्माके अचौर्यस्वरूप और ब्रह्मचर्यस्वरूप निजस्वरूपका नाश कर उसे चोरी तथा कुशीलादिरूप विकारी बना देते हैं इसीलिये चोरी आदि सभी कार्य हिंसामें गर्भित हैं। उपर्युक्त कथनका सार यह है कि जितने भी विकृत भाव हैं वे सब हिंसास्वरूप हैं इसलिये संसारमें जितने भी पापोंके भेद प्रभेद कहे जाते हैं वे सब हिंसाके ही दूसरे नाम हैं।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि 'जब सभी पाप हिंसास्वरूप हैं तो फिर झूठ, चोरी, कुशील तृष्णा आदि भिन्न भिन्न पापोंके नाम क्यों कहे गए हैं?' इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें सब हिंसाके रूप होनेपर भी केवल बालकोंके बोध करानेके लिये विजातीय (भिन्न भिन्न) पापोंका भिन्न भिन्न नाम कहा गया है। अल्पज्ञानी एवं अज्ञानी जीव खंड खंड रूपसे एक एक विषयको समझकर एक एक अंशको छोडते जांय इसीलिये खंड खंड अंशांशोंका पांच पापोंके नामसे जुदा जुदा रूप दिया गया है। सबोंमें आत्माके निजस्वरूपका घात होनारूप लक्षण घटित होनेसे सब हिंसामें गर्भित हो जाते हैं। जिसप्रकार खंड खंड रूप पापोंको झूठ चोरी कुशील तृष्णा आदि नामसे कहा गया है, उसीप्रकार सत्य,

अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहभावोंको भी भिन्न भिन्न व्रतके नामोंसे कहा गया है अर्थात् विजातीय एवं खंड खंडरूप पापोंका त्याग खंड खंडरूप व्रतके नामसे जुदा जुदा कहा गया है। वास्तवमें वे सब एक अहिंसाके ही स्वरूपमें गर्भित हैं।

हिंसाका लक्षण।

यत्खलु कषाययोगात प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (कषाययोगात्) कषायसहित योगोंसे (द्रव्यभावरूपाणां) द्रव्य और भावरूप (प्राणानां) प्राणोंका (यत् व्यपरोपणस्यकरणं) जो नष्ट करना है (सा) वह (सुनिश्चिता) निश्चितरूपसे (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

विशेषार्थ—हिंसाका यही मूल लक्षण है कि सकषायमनवचनकायसे अपने तथा परके अथवा दोनोंके भावप्राण और द्रव्यप्राणोंका घात होना। इस लक्षणकी सूक्ष्मतापर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि केवल किसी जीवका मारा जाना अथवा उसके अंगोंका भंग हो जाना मात्र ही हिंसा नहीं है; किंतु भावहिंसापूर्वक की गई द्रव्यहिंसा हिंसामें गर्भित है। दूसरे शब्दोंमें इस बातको यों कह सकते हैं कि केवल द्रव्यहिंसाको हिंसा नहीं कहा जाता, वहां हिंसाका लक्षण ही घटित नहीं होता। यदि बिना कषायविशिष्ट मनवचनकायकी प्रवृत्तिके केवल शरीरके अंग भंग हो जाने अथवा जीवके मर जाने मात्रसे हिंसा होती हो तो जिन सज्जनोंका हिंसा करनेका सर्वथा परिणाम जीवके सतानेका नहीं है उनसे जो प्रमादवश या दृष्टिदोषसे सूक्ष्म जीवोंका वध हो जाता है तो उन्हें भी उस जीवकी हिंसाका

दोष लगना चाहिये परन्तु उन्हें लगता नहीं है; क्योंकि उनके परिणाम हिंसा करनेके सर्वथा नहीं हैं और न लोकमें ही निरपराधी पुरुष—उनके द्वारा जीववध होनेपर भी दंडित अथवा दोषी ठहराये जाते हैं। डाक्टरका अभिप्राय यही रहता है कि रोगीको जल्दी आराम हो, उसकी हित कामनासे वह उसके शरीरमें चीरा देता है, परन्तु दैवयोगसे चीरा देते देते यदि नस्तरके कडे आघातसे रोगीकी मृत्यु हो जाय तो डाक्टर उसका मारनेवाला कभी नहीं कहा जाता, इसलिये हिंसा वहीं कही जाती है जहां अभिप्रायपूर्वक जीवका वध किया जाता है। अभिप्रायपूर्वक जीवका वध वहीं हो सकता है जहां सकषायप्रवृत्ति है। यदि हिंसामें भावोंकी मुख्यता न हो अथवा हिंसामें सकषायप्रवृत्ति कारण न हो तो पिता पुत्रकी हितकामना रख कर उसे पाठशाला भेजता है, पुत्र नासमझीके कारण पढने नहीं जाना चाहता, पिता उसे मार पीटकर फटकार देकर एवं अनेक प्रकारका भय दिखाकर पाठशाला भेजता है, ऐसा करनेमें पुत्रके परिणामोंमें संक्लेश होनेसे उसके भावोंकी हिंसा होती है; परन्तु उसका दोष पिताके अधीन नहीं है, कारण पिताका अभिप्राय दुरभिप्राय नहीं है। इसीप्रकार यदि कोई सदुपदेष्टा किसी व्यसनीको व्यसन छुडानेके अभिप्रायसे डर दिखावे, उसके दुष्कार्यकी निंदा करे और उससे उस व्यसनीके भाव पीडे जांय तो उसका दोष उस धर्मोपदेष्टाको नहीं लग सकता। इसीप्रकार त्रस और स्थावर हिंसाके सर्वथात्यागी हरप्रकारसे जीवरक्षाका प्रयत्न करनेवाले श्रीमुनिमहाराज अकस्मात् उनके द्वारा सूक्ष्म जीवका वध होनेपर भी हिंसाके भागीदार नहीं होते। यदि किसी पुरुषने अच्छे अभिप्रायसे किसीके प्रति कटुवचन भी कह दिये, तो उन वचनोंसे सुननेवालेको जो आघात पहुंचेगा उस भावहिंसाका भागीदार वह कटुभाषी नहीं हो सकता जो अच्छा अभिप्राय रखता है। इसलिये केवल मनवचन-

कायकी प्रवृत्ति हिंसाका कारण नहीं है, किंतु सकषाय-प्रवृत्ति ही हिंसाका कारण है, इसीलिये 'कषाय-योगात्' यह हेतुवाक्य दिया गया है। जहांपर कषायपूर्वक योग है वहां चाहे भावहिंसा हो चाहे द्रव्य-हिंसा हो, दोनों ही हिंसामें गर्भित हैं, अथवा दूसरे किसी जीवकी हिंसा नहीं भी हो अपने भावोंमें ही सकषाय परिणाम हैं तो अपनी ही हिंसा है।

हिंसा चार भेदोंमें मूलरूपसे बटी हुई है—१ संकल्पिनी, २ विरोधिनी, ३ आरंभिणी और ४ उद्योगिनी। इन चार भेदोंमें सबसे बडी और सबसे प्रथम त्याज्य संकल्पसे होनेवाली हिंसा है; जहांपर भावोंमें यह संकल्प कर लिया जाता है कि मैं इस जीवको मार डालूं अथवा इसे दुःख पहुचाऊं, वहांपर हिंसा करनेका अभिप्राय रहनेसे उसे संकल्पसे होनेवाली हिंसा कहते हैं; अर्थात् हिंसाके अभिप्रायसे (इरादेसे) की गई हिंसाको संकल्पिनी हिंसा कहते हैं। जो जीव संकल्पिनी हिंसा करनेके लिये उद्यमी होता है उसके द्वारा दूसरे जीवका घात हो अथवा न हो, परंतु उसे तो हिंसासे होनेवाला पापबंध हो ही जाता है। यही बात लोकनीतिमें भी पायी जाती है, जो कोई किसीको मारनेके लिये तलवार या लाठीका प्रयोग करता है उससे वह नहीं भी मारा जाय तो भी प्रयोग करनेवालेको सरकार उसी अपराधमें सामिल करती है जोकि मारनेवाला है। यह संकल्पी हिंसा तीव्र कषायके उदयसे होती है। जबकि आत्माका स्वभाव जीवोंपर दया करनेका स्वाभाविक है तब उसके जीवबध करनेके भावोंका होना महान् क्रूरताका सूचक है। 'मैं इसे मारूं' यह भाव बिना घातक क्रूर परिणामोंके कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। इसलिये विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है कि सबसे पहले इसप्रकारकी संकल्पी हिंसाका सर्वथा त्याग कर दें।

दूसरी—विरोधिनी हिंसा उसे कहते हैं कि जहांपर दूसरे जीवको मारनेके या उसे दुःख पहुंचानेके तो

भाव नहीं हैं परंतु दूसरा जीव अपनेको पहले मारना चाहे या दुःख देना चाहे तो उस अवसरपर अपनी रक्षाकेलिये विरोध करनेमें जीववध हो जाता है; अपनी रक्षा करनेमें जहांपर उस आक्रमणकारी जीवका विरोध करनेमें जो वध होता है वहांपर अपनी रक्षा करनेवालेका अभिप्राय जीवको मारनेका नहीं है किंतु अपनी रक्षा करनेका है, परंतु आत्मरक्षा करते करते यदि दूसरे जीवका बध होता है तो वह हिंसा विरोधसे होनेवाली विरोधिनी कही जाती है। यद्यपि इस हिंसामें भी जीवका बध होता है और संकल्पसे होनेवाली हिंसामें भी जीवका बध होता है, परंतु दोनोंमें बहुत बडा अंतर भावोंका है; संकल्पी हिंसामें मारनेवालेके भावोंमें क्रूरता भरी हुई है, विरोधी हिंसावालेके परिणाममें क्रूरता नहीं है किंतु अपनी रक्षाका प्रयत्नमात्र है। संकल्पी हिंसामें तो जीवके बध करनेके परिणाम हैं, विरोधीमें जीववध करनेके परिणाम तो सर्वथा नहीं हैं परंतु अपनी रक्षाके प्रयत्नमें प्रतिकार करतेहुए जीववध हो जाता है अथवा किया जाता है। यदि एक न्यायनिष्ठ राजाके ऊपर कोई परराष्ट्र चढ आवे तो अपनी एवं प्रजाकी रक्षाके लिये उस राजाको ऊपर आये हुए परराष्ट्रका सामना करना ही पडेगा, वैसी अवस्थामें उसके द्वारा अनेक सैनिकोंकी हिंसा भी होगी। राज्यभार ग्रहण करके प्रजाजनपर शासन करनेवाले पदाधिकारीके लिये विरोधी हिंसाका समारंभ अनिवार्य है। इसलिये पदस्थानुसार यथाशक्ति हिंसाका परित्याग करना प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है।

तीसरी—आरंभी हिंसा वह कहलाती है जो कि गृहस्थाश्रममें होनेवाले आरंभोंसे होती है। गृहस्थाश्रममें रहनेवाले मनुष्योंको गृहस्थाश्रम संबंधी आरंभ करने ही पडते हैं, बिना आरंभ किये गृहस्थाश्रम चल ही नहीं सकता, जलका बरतना, चौका, चूले, ऊखरी, झाडना, कपडे धोना आदि सब कार्योंमें आरंभ

होता है; जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना अनिवार्य है । इसलिये गृहस्थाश्रमी आरंभी हिंसासे बच नहीं सकते; परंतु आरंभजनित हिंसाकी कमी अथवा स्वल्पता की जा सकती है, जिन कार्योंको विशेष आरंभके साथ किया जाता है उन्हें थोडे आरंभसे भी किया जा सकता है, अथवा ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये जिनमें विशेष आरंभ होता हो, अथवा जिन आरंभोंमें अधिक जीवोंके बधकी संभावना हो उन आरंभोंको नहीं करना चाहिये । इसप्रकार गृहस्थाश्रममें रहनेवाले विवेकी पुरुष आरंभी हिंसाका बहुत कुछ बचाव कर सकते हैं । एक बात यह भी आवश्यक है कि किसी भी कार्यके करनेमें सावधानी रखनेकी बडे प्रयत्नसे सम्हाल करनी चाहिये। बिना देखभालके या बिना सोधे-सुधाए, बिना जमीनको देखे झाडू देनेसे, बिना देखे पानीसे चौका धोनेसे, बिना सोधे अन्नको कूटने पीसनेसे बहुतसी हिंसा हो जाती है, उसका बहुत अधिक पापबंध हो जाता है; इसके लिये प्रयत्नपूर्वक सावधानीसे हरएक क्रिया करना चाहिये ।

चौथी—उद्योगिनी हिंसा वह कहलाती है जो गृहस्थाश्रमी मनुष्योंके उद्योग धंधोंसे होती है । किसी प्रकारके व्यापारमें अनाज भरनेमें, मिल खोलनेमें, दूकान करनेमें, खेती आदि सभी कार्योंका जो उद्योग (प्रयत्न) किया जाता है उसमें जो जीवोंकी हिंसा हो जाती है उसे उद्योगिनी हिंसा कहते हैं। इस हिंसामें भी उसी प्रवृत्तिका विचार करना इष्ट है कि जिससे जीववध अति स्वल्प हो, उद्योगी और आरंभी हिंसाओंमें जीववधके परिणाम नहीं है किंतु आरंभजनित हिंसा होती है । आरंभ सकषाय भावोंसे किया जाता है इसलिये सकषाय मनवचनकायकी प्रवृत्ति होनेसे वहां भी हिंसाका लक्षण घटित होता है । इसप्रकार चार प्रकारकी हिंसासे विरक्त होना चाहिये । श्रावक संकल्पी हिंसाका त्यागी

तो होता ही है किंतु अन्यान्य हिंसाओंको भी उसे कम कम करना चाहिये। चारों प्रकारकी हिंसाओंके सर्वथा त्यागी संकल्प, विरोध, आरंभ, उद्योगरूप विचार एवं क्रियाओंसे सर्वथा रहित श्रीमुनि महाराज होते हैं। गृहस्थ त्रसहिंसाका ही त्यागी हो सकता है स्थावरहिंसाका वह उस पदस्थमें रहकर त्यागी तो नहीं हो सकता: हां, प्रयोजनके सिवा व्यर्थकी अनावश्यक हिंसासे यत्नाचारद्वारा अपनेको बचा सकता है।

अहिंसा और हिंसाका लक्षण।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयकरके (रागादीनां) रागादिकभावोंका (अप्रादुर्भावः) उदयमें नहीं आना (अहिंसा) अहिंसा (भवति) कहलाती है, (इति) इसीप्रकार (तेषां एव) उन्हीं रागादिभावोंकी (उत्पत्तिः) उत्पत्तिका होना (हिंसा) हिंसा है (इति जिनागमस्य) इसप्रकार जिनागमका अर्थात् जैनसिद्धांतका (संक्षेपः) सारभूत रहस्य है।

विशेषार्थ—आत्माके शुद्ध स्वभावका विभावरूप परिणमन होना ही हिंसा है। विभावरूप परिणाम रागादिस्वरूप हैं, इसलिये रागादिरूप जो भाव हैं, वे ही हिंसाके नामसे कहे जाते हैं। हिंसासे विपरीत अहिंसा है। इसलिये रागादिकभावोंका उदयमें नहीं आना ही अहिंसा है। अर्थात् अहिंसा शुद्धभावोंका नाम है। जिस जीवके निष्कषाय शुद्धपरिणाम हैं वही अहिंसाका स्वामी है। जीवके विकृत (विकार-सहित) परिणामोंका नाम हिंसा है। विकाररहित शुद्धपरिणामोंका नाम अहिंसा है। जो जीव किसी दूसरे जीवको सताना चाहता है उसके परिणाम विकारसहित (रागद्वेषसे मलिन) पहले ही हो जाते हैं,

इसलिये दूसरे जीवको कष्ट पहुंचे या नहीं पहुंचे. मारनेवालेके रागद्वेषरूप विकारी परिणाम होनेसे वह हिंसक—हिंसा करनेवाला हो चुका।

वीतरागीको हिंसा नहीं लगती।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—[युक्ताचरणस्य] योग्य आचरणवाले अर्थात् यत्नाचार-पूर्वक सावधानीसे कार्य करनेवाले [सतः] सज्जन पुरुषको [रागाद्यावेशं] रागादिरूप परिणामोंके उदय हुए [अंतरेण] विना [प्राणव्यपरोपणात् एव] प्राणोंका घात होनेमात्रमें [जातु] कभी [हि] निश्चय करके [हिंसा न भवति] हिंसा नहीं लगती है।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांतमें हिंसाका लक्षण "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमादके योगसे प्राणोंका नष्ट करना हिंसा है, यह कहा गया है। प्राणोंके नष्ट करनेके पूर्व प्रमत्तयोग विशेषण दिया गया है। यह हेतुरूप विशेषण हिंसाके लक्षणको अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव आदि समस्त दूषणोंसे रहित सुघटित बनानेके लिये ही दिया गया है। इस प्रमादयोगरूप पदसे सिद्ध होता है कि 'जहांपर प्रमादयोग नहीं है किंतु जीवके प्राणोंका घात है वहांपर हिंसा नहीं कहलाती और जहांपर प्राणोंका घात नहीं भी है किंतु प्रमादयोग है वहांपर हिंसा कहलाती है। शंका हो सकती है कि जबतक दोनों पदोंकी सार्थकता नहीं होगी तबतक हिंसाका लक्षण घटित नहीं होगा। जहां प्रमादयोग है वहां प्राणोंके घातके बिना भी हिंसा कही गयी है, परंतु "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्रके अनुसार तो प्रमाद-

योग भी होना चाहिये और प्राणोंका घात भी होना चाहिये ?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि–जहां प्रमादयोग है वहां द्रव्यप्राणोंका घात यदि नहीं भी है तो न सही, परन्तु भावप्राणोंका तो है। जो प्रमादयोग (कषायरूप परिणाम) करता है वह अपने भावोंका घात तो कर ही चुका, दूसरे या अपने द्रव्यप्राणोंका घात पीछे हो या न हो। इसलिये हिंसाका यही लक्षण समुचित लक्षण है कि प्रमादयोगसे प्राणोंका घात होना। इसीलिये यहांपर ग्रन्थकर्ता श्रीआचार्य महाराज कहते हैं कि जिस जीवके राग-द्वेषरूप परिणामोंका उदय नहीं है और जो सदा यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे गमनागमन किया करता है उस जीवके द्वारा यदि अज्ञान अवस्थामें किसी प्राणीके प्राणोंका घात भी हो जाय तो उस यत्नाचारी निष्कषाय जीवको हिंसा करनेका दूषण नहीं लगता है। क्योंकि वहां केवल प्राणोंका घात है, प्रमादरूप परिणाम तो नहीं है। इसलिये हिंसा वहीं होती है कि जहां प्रमादरूप परिणाम होते हैं। अतएव श्री-मुनिमहाराज सदा वीतराग परिणामोंसहित रहते हैं, बडे यत्नाचारसे गमनागमन किया करते हैं, ऐसी अवस्थामें उनके शरीरद्वारा अज्ञात अवस्थामें किसी जीवका वध भी हो जाय, तो वे उसकी हिंसाके भागीदार नहीं हैं। अर्थात् उनके हिंसारूप परिणाम नहीं हैं किंतु वीतरागरूप हैं और यत्नाचारपूर्वक उनकी क्रिया है: जहां ये दोनों बातें हैं वहां हिंसा कदापि नहीं हो सकती।

सरागीको बिना आत्मघातके भी हिंसा लगती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—[रागादीनां] रागादिकोंके [वशप्रवृत्तायां] वशमें प्रवर्तित [व्युत्थानावस्थायां] प्रमाद-

अवस्थामें [जीवः] जीव [म्रियतां] मर जाय [मा वा] अथवा नहीं मरे [ध्रुवं] नियमसे [हिंसा] हिंसा [अग्रे] आगे [धावति] दौडती है।

विशेषार्थ—जिससमय आत्मा रागादि वैभाविक भावोंके वशवर्ती होकर प्रमाद-अवस्थामें रहता है उससमय उसके द्वारा दूसरे जीवकी मृत्यु हो अथवा नहीं हो, उसे नियमसे हिंसा लगती है। इसलिये केवल प्राणोंका घात होना ही हिंसा नहीं है, किंतु आत्माकी सकषायरूप प्रमाद-अवस्था ही हिंसा है। वह अवस्था जिस जीवके है उस जीवको बाह्यप्राणोंका घात (द्रव्य प्राणोंका घात) किये बिना ही हिंसाका दूषण लगता है।

इसमें हेतु।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—[यस्मात्] क्योंकि [आत्मा] आत्मा [सकषायः सन्] कषायसहित होता हुआ [प्रथमं] पहले [आत्मना] अपने ही द्वारा [आत्मानं] अपने आपको [हंति] मार डालता है, [पश्चात्] पीछे [प्राण्यंतराणां] दूसरे जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [जायेत न वा] हो अथवा नहीं हो।

विशेषार्थ—सकषायरूप प्रमाद-अवस्थामें बिना दूसरेके घातके ही हिंसा बतलायी गई है। इस संबंधमें यह शंका हो सकती है कि 'बिना प्राणघातके हिंसा कैसी?' इसीके उत्तरमें यह श्लोक कहा गया है कि—जो जीव कषाय करता है वह पहले अपने स्वरूपको नष्ट कर लेता है, क्योंकि कषाय करना आत्माका धर्म नहीं है। यदि कषाय करना आत्माका धर्म हो तो उन्नतिमें उत्तरोत्तर कषायभावोंकी भी उन्नति होना चाहिये, परंतु होता इसके सर्वथा विपरीत है। ज्यों ज्यों आत्मा ध्यानादि क्रियाओंद्वारा

उन्नत अवस्थामें पहुंचता जाता है, त्यों त्यों उसके शांति क्षमा दया आदि सद्गुण वृद्धिंगत होते जाते हैं और क्रोध मान माया लोभादि विभाव-परिणाम क्षीण होते जाते हैं। जहां आत्मा सर्वथा स्वस्वरूपमें पहुंचता है वहां आत्मासे क्रोधादि विकार सर्वथा दूर होते जाते हैं। इससे भली भांति सिद्ध होता है कि क्रोधादिभाव आत्माका निजरूप नहीं है। क्रोधादि विकार परकृत हैं, पुद्गलके निमित्तसे होनेवाला परिणाम है। यदि वह जीवका निजभाव होता तो ज्ञानके समान उसे भी सदा कमती बढती रूपमें रहना अवश्य चाहिये, परंतु यह बात प्रत्यक्ष-बाधित है। क्रोधादि परिणाम प्रतिसमय जागृत नहीं रहते हैं किंतु निमित्त पाकर उदित होते रहते हैं। कोई कोई संसारसे उदासीन ऐसे भी त्यागी एवं योगी पुरुष हैं जिनके कषायभाव अत्यंत मंद हो चुके हैं, किन्हीं योगियोंके उनका अभाव ही हो चुका है। इससे भली-भांति सिद्ध है कि क्रोधादि परिणाम आत्माका विकाररूप परिणाम है, उसका स्वभावरूप परिणाम-क्षमादिक भाव है। कषाय करनेवाला जीव पहले तो अपना ही घात कर डालता है, ज्यों ही उसके कषायभाव जागृत हुआ त्यों ही उसके निजगुण क्षमा मार्दव आर्जव आदि नष्ट हो जाते हैं। इसलिये जिसप्रकार हाथमें अग्नि उठाकर दूसरे पर फेंकनेकी चेष्टा करनेवालेका हाथ पहले जल जाता है पीछे दूसरा जले या न जले यह दूसरी बात है, उसीप्रकार कषायीजीव पहले अपने आत्माका घात कर ही डालता है पीछे दूसरेका घात हो या न हो यह दूसरी बात है।

प्रमादयोगमें नियमसे हिंसा होती है।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणामनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यं ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसायां) हिंसामें (अविरमणं) विरक्त न होना (अपि) तथा (हिंसापरिणमनं) हिंसामें परिणमन करना (हिंसा भवति) हिंसा कहलाती है (तस्मात्) इसलिए (प्रमत्तयोगे) प्रमादयोगमें (नित्यं) नियमसे (प्राणव्यपरोपणं) प्राणोंका घात होता है।

विशेषार्थ—हिंसामें जहां प्रवृत्ति है अर्थात् मन वचन कायकी उपयोग सहित जहां हिंसा करनेकी प्रवृत्ति है वहां तो हिंसा होती ही है परंतु जहांपर हिंसा करनेकी प्रवृत्ति नहीं है किंतु जहां हिंसासे विरक्ति-त्याग भी नहीं है वहां भी हिंसा होती है। हिंसामें प्रवृत्ति न होनेसे केवल त्याग न करनेसे हिंसा कैसे होती है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हिंसाका लक्षण प्रमादयोग है, जहां प्रमादरूप परिणाम है वहीं हिंसा है, वाह्य प्रवृत्ति हो या न हो। इस लक्षणके अनुसार जो जीव हिंसाका त्यागी नहीं है उसके परिणामोंमें न तो निराकुलता है, न शांतिरूप परिणाम हैं किंतु कषायविशिष्ट संस्कार हैं और वे संस्कार ही हिंसामय परिणाम हैं। जिसप्रकार विलाव हिंसामें प्रवृत्त होने पर भी हिंसक कहलाता है और सोया हुआ भी हिंसक कहलाता है, सोनेमें भी उसकी क्रूरता चली नहीं गई है उसके क्रूरपरिणाम बराबर उपस्थित हैं। उसीप्रकार हिंसाका त्याग नहीं करनेवाले जीवके परिणाम संस्कारित रूपसे हिंसामय रहते हैं। दूसरी बात यह है कि हिंसा रागरूप परिणामका ही नाम है, जिस जीवने हिंसाका त्याग नहीं किया है उसके परिणामोंमें हिंसा रहती है, क्योंकि यदि राग प्रवृत्तिका अभाव होता तो हिंसाका त्याग ही कर देता, जिसप्रकार गृहस्थ पुरुष त्रसहिंसाका त्यागी है उसके त्रसहिंसाके किंचिन्मात्र भी परिणाम नहीं हैं परंतु वह स्थावर हिंसाका त्यागी नहीं है इसलिये स्थावर हिंसामें उसकी सरागप्रवृत्ति पायी जाती है उसीप्रकार हिंसासे अविरक्तजीवके परिणाम सरागरूप रहते ही हैं। यह बात भी अनुभव-

गम्य है कि किसी वस्तुका विना त्याग किये परिणामोंमें उस विषयसे पूर्ण उदासीनता एवं परिणामोंमें निराकुलतापूर्ण शांति हो ही नहीं पाती। तीसरी बात यह भी है कि जबतक जिस वस्तुका त्याग नहीं किया जाता है तबतक निमित्त पाकर उसमें प्रवृत्ति हो ही जाती है। इतनाही नहीं किंतु बिना त्याग किये उस वस्तुकी अंतर्लालसा कभी व्यक्त कभी अव्यक्त बनी ही रहती है और जब उस वस्तुका त्याग कर दिया जाता है तो उसमें कभी प्रवृत्ति तो होती ही नहीं। परिणामोंमें विरक्तरूप भाव रहनेसे उस वस्तुमें लालसारूप परिणाम भी नहीं होते, इससे यह बात सिद्ध होती है कि हिंसाका त्याग किये विना भी प्रमत्तयोग रहनेसे हिंसा लगती है और प्रवृत्ति करनेसे तो स्पष्ट हिंसा प्रत्यक्ष ही है इसलिये प्रमत्त-योगमें नियमसे प्राणघात होता है।

हिंसाके निमित्तोंको हटाना चाहिये।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (पुंसः) आत्माके (सूक्ष्मा अपि हिंसा) सूक्ष्म भी हिंसा (परवस्तु-निबंधना) जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी (न भवति) नहीं होती है। (तदपि) तो भी (परिणामविशुद्धये) परिणामोंकी विशुद्धिकेलिये (हिंसायतननिवृत्तिः) हिंसाके आयतनों—हिंसाके निमित्त कारणोंका त्याग (कार्या) करना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोकद्वारा यह बात प्रगट की गई है कि वास्तवमें हिंसा परिणामोंके अधीन है, परिणामोंसे ही होती है, परिणामोंमें ही होती है, बाह्यपदार्थोंमें न तो हिंसा है और न वे हिंसाके कारण

ही हैं, यदि बाह्यपदार्थोंमें ही हिंसा होती तो फिर पहले यह नहीं कहा जाता कि दूसरे जीवकी हिंसा हो या नहीं हो जिसके परिणामोंमें रागद्वेषादि संक्लेशभाव हैं वह हिंसाका भागीदार हो जाता है। इससे भलीभांति सिद्ध है कि बाह्यपदार्थोंमें हिंसा नहीं है किंतु प्रमादयुक्त परिणामोंमें ही है इसलिये परिणामोंको ही प्रमादरहित बनानेसे हिंसाभावसे जीव मुक्त हो जाता है। जबतक प्रमादयुक्त परिणाम हैं तबतक बाह्यप्राणोंका घात हो या न हो हिंसा अवश्य लगेगी। इस कथनके अनुसार यद्यपि बाह्यपदार्थोंमें हिंसाका कोई संबंध नहीं है फिर भी उन समस्त पदार्थोंसे संबंध नहीं करना चाहिये जो कि परिणामोंको क्लेशित बनानेमें सहकारी पडते हों। परिणामोंको विशुद्ध रखनेके लिये हिंसाके निमित्तकारणोंका भी त्याग कर देना योग्य है। संसारमें हिंसाका निमित्तभूत आरंभ है, इसलिये आरंभसे मुक्त होनेकी पूर्ण चेष्टा करना चाहिये।

निश्चय और व्यवहारमें सिद्धि।

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (निश्चयं अबुद्ध्यमानः) निश्चयनयको नहीं समझता हुआ (निश्चयतः) निश्चयरूपसे (तमेव) उसको ही निश्चय तत्त्वको ही (संश्रयते) आश्रय करता है, स्वीकार करता है (सः बालः) वह मूर्ख (बहिःकरणालसः) बाह्यक्रियारूप चारित्रमें आलसी–प्रमादी ('सन्') होता हुआ (करणचरणं) क्रियारूप चारित्रको–व्यवहारचारित्रको (नाशयति) नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह बात प्रगट की गई थी कि हिंसा वास्तवमें निज परिणामोंकी अशुद्धतामें ही है; वाह्यपदार्थोंमें नहीं है। यहांपर यह बतलाते हैं कि जो सर्वथा निश्चयनयका अवलम्बन कर वाह्यचारित्र—व्यवहारचारित्रकी परवा नहीं करते हैं; जिनका यह सिद्धांत है कि वाह्यक्रियाओंमें क्या धरा है परिणामोंको ही ठीक रखना चाहिये, उन लोगोंको निश्चयनयका स्वरूप नहीं मालूम है। विना वाह्यक्रियाओंका विचार किए परिणाम ठीक नहीं रह सकते, क्योंकि परिणामोंकी शुद्धि अशुद्धि वाह्य पदार्थों एवं वाह्यक्रियाओंके निमित्तसे होती है इसलिये वाह्यप्रवृत्तिका विचार रखना नितांत आवश्यक है। जो पुरुष दौडकर विना देखे चलने लगे, विना देखे भक्ष्याभक्ष्य खाने लगे, विना छाना हुआ जल पीने लगे, विना देखे वस्तुओंको उठाने लगे और रखने लगे फिर यह कहे कि वाह्यप्रवृत्ति मेरी वैसी भी रहो परिणामोंको मैं ठीक रक्खूंगा तो मुझे हिंसा नहीं लगेगी, तो ऐसा कहनेवाला अविवेकी है वह परिणामोंको कभी सम्हाल नहीं सकता, विना वाह्यप्रवृत्तिमें जीवरक्षाका विचार किये जीवहिंसासे कभी छूट नहीं सकता इसलिए परिणामोंकी विशुद्धिके लिये वाह्यप्रवृत्तिको संयमित बनानेकी अत्यावश्यकता है। जो केवल निश्चयनयका अवलम्बन करके वाह्यप्रवृत्तिका विचार नहीं करते हैं वे निश्चयनयके स्वरूपसे भी अपरिचित हैं क्योंकि नयवाद अनेकांतरूप है, वह स्याद्वादके नामसे प्रसिद्ध है, यदि उसका ग्रहण एकांतरूपसे किया जायगा तो वस्तुसिद्धि नहीं हो सकती इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका आश्रय कर निश्चयतत्त्व और व्यवहारतत्त्व दोनोंकी सिद्धि करना आवश्यक है। परिणामोंकी विशुद्धताका भी पूरा लक्ष्य रखना आवश्यक है और वाह्यप्रवृत्तिको भी निर्दोष बनाना आवश्यक है, किसी एकके छोड देनेसे कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (हिंसां अविधाय अपि) हिंसाको नहीं करके भी (एकः) एक कोई जीव (हिंसाफलभाजनं) हिंसाके फलका भोक्ता (भवति) होता है (अपरः) दूसरा जीव (हिंसां कृत्वा अपि) हिंसा करके भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसाके फलका भाजन (न स्यात्) नहीं होता है ।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें परिणामोंकी विचित्रता दिखलाई गई है और उन्हींके ऊपर हिंसाके फलका भोक्ता या अभोक्ता सिद्ध किया गया है। एक जीव दूसरे जीवकी हिंसा तो करना चाहता है परंतु बाहर प्रवृत्तिमें कोई उद्योग नहीं कर सका है अर्थात् अपने परिणामोंको तो हिंसामय भावोंमें उग्र कर चुका है परंतु दूसरे जीवके प्राणोंका घात नहीं कर सका है ऐसी अवस्थामें हिंसा करनेके भाव रखनेवाला जीव हिंसा करनेका अपराधी हो चुका उसे हिंसाका फल अवश्य मिलेगा, भले ही दूसरे जीवकी हिंसा नहीं हुई है फिर भी उसके—मारनेवालेके परिणाम हिंसारूप हो चुके इसलिए उसके जो क्लेशित परिणामोंसे अशुभास्रव हुआ है उसका फल उसे अवश्य मिलेगा। दूसरा कोई जीव किसीको नहीं मारना चाहता परिणामोंको सदा शांत दयारूप रखता है फिर भी उसके शरीरसे किसी जीवका अकस्मात्—बिना उसकी इच्छाके घात हो गया वैसी अवस्थामें वह हिंसाके फलका भोक्ता नहीं हो सकता। कारण उसके भाव तो हिंसारूप नहीं हैं, इसलिए हिंसा होनेपर भी वह हिंसाके फलका भोक्ता नहीं हो सकता। यह परिणामोंकी ही विचित्रता है कि कोई हिंसा करता है फिर भी उसे हिंसाका फल नहीं मिलता, कोई हिंसा नहीं करता है फिर भी हिंसाका फल पाता है।

और भी।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पं।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) किसीको (अल्पा हिंसा) थोडी भी हिंसा (काले) समयपर—उदय कालमें (अनल्पं फलं) बहुत फलको (ददाति) देती है। (अन्यस्य) किसी जीवको (महाहिंसा) बहुत बडी हुई हिंसा भी (परिपाके) फलकालमें (स्वल्पफला) थोडा फल देनेवाली (भवति) हो जाती है।

विशेषार्थ—कोई जीव बाह्यहिंसा तो कम करता है अर्थात् जीवोंका घात थोडा करता है परंतु अपने भावोंको कषायसे तीव्र हिंसामय बना डालता है, ऐसी अवस्थामें उसके तीव्र अशुभकर्मका बंध होता है, जिस समय वह कर्मबंध उदयमें आता है उस समय वह बहुत बडी हिंसासे होनेवाले फलको देकर उस जीवको महा दुःखी बना डालता है। तथा कोई जीव परिणामोंमें तो मंद कषाय रखता है परंतु बाह्यप्रवृत्तिमें उसके द्वारा हिंसा अधिक हो जाती है, वैसी अवस्थामें उसके जो कर्मबंध होता है वह मंद रसको लेकर ही होता है. वह जब उदयमें आता है तब थोडे फलको देकर ही खिर जाता है। यह परिणामोंकी ही विचित्रता है कि कोई बाह्यहिंसा अधिक करनेपर भी परिपाककालमें हिंसाजन्य थोडा फल पाता है, कोई बाह्यहिंसा कम करनेपर भी हिंसाजन्य फल अधिक पाता है। इसका मूल कारण यही है कि जिससमय जिस जीवके जैसे परिणाम तीव्र संक्लेशमय या मंद संक्लेशमय होते हैं उसके जो कर्म-बंध होता है उसमें रसदानशक्ति वैसी ही मंद या तीव्र पडती है और उदयकालमें वैसी ही कमती या अधिक फल देती है। बाह्यकारण निमित्तमात्र हैं। परिणामोंकी सरागता या वीतरागता ही हिंसा अहिंसारूप फलकी दात्री है।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मंदमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥ ५३॥

अन्वयार्थ—[सहकारिणोः अपि] दो पुरुषोंके द्वारा साथ साथ की गई भी [हिंसा] हिंसा [फलकाले] फलकाल प्राप्त होने पर [अत्र] आत्मामें [वैचित्र्यं] विचित्रताको [व्रजति] प्राप्त होती है। [सा एव] वही हिंसा [एकस्य] एक जीवको [तीव्रं फलं] तीव्र फल [दिशति] देती है [सा एव] वही हिंसा [अन्यस्य] दूसरे जीवको [मंदफलं दिशति] मंद फल देती है।

विशेषार्थ—यदि दो जीव मिलकर किसी जीवकी हिंसा करें तो उन दोनोंको भी समान हिंसाका फल नहीं होता, जिसके अधिक कषायसहित परिणाम हैं उसे हिंसाका तीव्र फल मिलता है जिसके कुछ कम कषायसहित परिणाम हैं उसे कम फल मिलता है। एक कार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी एवं समान क्रिया करनेपर भी परिणामोंकी तीव्रता और मंदताके कारण दो जीवोंमें एक अधिक पापी बनकर तीव्र अशुभ कर्म बांध लेता है दूसरा लघु पापी होकर उससे हलका अशुभ कर्म बांधता है।

यही बात राजा और प्रजामें घटित करना चाहिये। कुछ लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि 'यदि राजाकी आज्ञासे सैनिक लोग परचक्रको मारें तो उनकी हिंसाका भागीदार वे मारनेवाले सैनिक नहीं होते किंतु आज्ञा देनेवाला राजा ही होता है' परंतु यह बात एकांतरूपसे ठीक नहीं है, कारण ऐसा हो सकता है कि राजाने किसी दुष्ट पुरुषका अन्याय देखकर अपने परिणामोंमें मंदकषाय रखते हुए ही यह आज्ञा दी कि 'अमुक पुरुष बहुत पापिष्ठ है इसलिये उसे मार डालो' तो उसकी हिंसाका भागी-

दार सरागप्रवृत्ति होनेसे कुछ अंशोंमें राजा भी होता है परंतु उससे बढ कर वह सैनिक भी होता है जिसने उसे मारते समय अपने परिणामोंको बहुत ही क्रूर और कलुषित बनाया है । भले ही उसने राजाकी आज्ञासे हिंसामें प्रवृत्ति की है परंतु हिंसा करते समय जो उसके तीव्र कषायी परिणाम हुए हैं उनसे उसके तीव्र अशुभकर्मका बंध नहीं होगा क्या ? आज्ञा लेनेका इतना ही प्रयोजन है कि वह सैनिक स्वयं किसीको मारनेका अधिकारी नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि वह हिंसामें रागपूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी निर्दोष बना रहे । हां ! राजा जो आज्ञा देता है वह अन्यायके रोकनेके लिए देता है उसे वैसी आज्ञा देनेके लिए बाध्य होना पडता है इसलिए राजाके तीव्र परिणाम न होनेसे वह बहुत कम हिंसाका भागीदार होता है । जैसे कि न्यायपूर्वक दण्डकी आज्ञा देनेवाला न्यायाधीश (जज) निर्दोष है वैसे ही राज्यशासनकी न्यायपूर्वक व्यवस्था करनेवाला राजा भी निर्दोष है । हां ! सरागप्रवृत्तिजन्य स्वल्पहिंसाका भाजन अवश्य है । इसलिये परिणामोंके आधारपर ही हिंसाका फल मिलता है ।

और भी ।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ---[प्राक् एव हिंसा फलति] कोई हिंसा पहले ही फल देती है [क्रियमाणा फलति] कोई हिंसा करते करते फल देती है [कृता अपि फलति] कोई हिंसा कर चुकनेपर फल देती है [च] और [कर्तुं आरभ्य] कोई हिंसा आरंभ करके [अकृता अपि] विना किये भी [फलति] फल देती है । [इति] इस प्रकार [अनुभावेन] भावोंके अनुसार [हिंसा फलति] हिंसा फल देती है ।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांतके मंतव्यानुसार जिस समय जैसे जीवके भाव हो जाते हैं उस समय उसी· प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म बंध जाते हैं। कोई जीव किसी जीवको मारनेका विचार कर चुका हो तो विचार करते समय जो उसके जीवघातक हिंसारूप भाव हुए हैं उसी समय उसके दुःख देनेवाले बुरे कर्मोंका बंध हो चुका है। विचार करनेके पीछे जबतक वह दूसरे प्राणीको मार भी नहीं पाया उसके पहले ही वे विचारसमयके बंधे हुए कर्म उदयमें आगये इसलिये जीवकी हिंसा भी नहीं कर पाया, उसके पहले ही उसे हिंसाका फल मिल जाता है। कोई जीव किसीको मारना चाहता है और वैसे हिंसारूप विचारोंमें उसने कर्मका बंध कर लिया पीछे जब दूसरे जीवको मारने लगा उसीसमय उसे उन कर्मोंका फल भी मिलने लगा जोकि उसने विचार करते समय बांधे थे इसलिये यहांपर हिंसा करते करते ही हिंसाका फल मिल गया। कोई जीव किसी जीवकी हिंसा कर चुका, हिंसा करते समय जो कर्म (पाप) उसके बंधे थे उनका पीछे उदय आया इसलिये यहांपर हिंसा करनेके पीछे हिंसाका फल मिला। कोई जीव हिंसा करनेके लिये मनमें विचार कर चुका उसी विचारोंसे उसने बुरे कर्म बांध लिये पीछे हिंसा करनेके लिये उद्यत हुआ परंतु हिंसा कर नहीं पाया इसी बीचमें उसके हिंसारूप भावोंसे बंधे हुए कर्म उदयमें आ गये इसलिये यहांपर बिना हिंसा किये भी हिंसाका फल मिल गया। इन ऊपर कहे हुये चार भंगोंका जो निदर्शन किया गया है वह परिणामोंकी विचित्रताको सूचित करता है, जीव चाहे हिंसा करै या न करै, पीछे करै या पहले करै या उसी समय करै कुछ भी हो परंतु जीवके जिससमय जैसे परिणाम होंगे उन परिणामोंसे जैसे उसने कर्म बांधे होंगे, समय पाकर वे कर्म उदयमें आकर उसे वैसा फल अवश्य देंगे। हिंसाका फल जीवको भावोंके अनुसार मिलेगा चाहे दूसरे जीवका उसके द्वारा वध हो, चाहे न हो।

अर्थात् दूसरे जीवकी वह हिंसा करे या न करे यदि उसके भावोंमें हिंसारूप प्रवृत्ति है तो उसे हिंसा करनेका फल अवश्य मिलेगा ।

हिंसा कर्ता एक, फल भोक्ता अनेक ।

एकः करोति हिंसां भवंति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(एकः) एक जीव (हिंसां करोति) हिंसा करता है (फलभागिनः) फलके भागी (बहवः भवंति) बहुत होते हैं, (बहवः हिंसां विदधति) बहुत जीव हिंसा करते हैं (हिंसाफलभुक्) हिंसाके फलका भागी (एकः भवति) एक होता है ।

विशेषार्थ—एक कुटुम्बमें दश पुरुष रहते हों, सभीकी इच्छा और प्रेरणासे उनमेंसे एक पुरुष यदि चोरी करने या जूआ खेलने जाता है तो उसके उस दुष्कृत्यका फल सबोंको भोगना पडता है । यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि किसी कुटुम्बमें यदि सभी दुष्ट एवं व्यसनी पुरुष रहते हों तो उनमेंसे किसी एकके अपराधपर सभी पकडे जाते हैं इसलिये यह बात सुसंगत है कि एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं । किसी दुष्ट राजाने निरपराध हरिणको शिकार खेलते हुए बंदूकसे मार डाला उसके साथियोंने हृदयसे प्रशंसा की कि वाह महाराज ! आपने खूब किया तो उस हिंसा कृत्यकी सराहनासे राजाके साथ साथ सभी सराहना करनेवाले भी हिंसाके फलके भोगनेवाले हैं कारण उनके परिणाम भी तो हिंसारूप ही हैं इसलिये उनके भी अशुभ कर्म बंधेगा और फलकालमें राजाके समान उन्हें भी दुःख उठाना पडेगा इसलिये यह बात युक्तिसिद्ध है कि एक करता है अनेक उसका फल भोगते हैं ।

कहीं पर इसके विपरीत है अर्थात अनेक हिंसा करते हैं फल एकको मिलता है। जैसे किसी राजाकी आज्ञा हो कि अमुक पुरुषको मार डालो परंतु सैनिक लोगोंकी इच्छा नहीं है कि वे उसे मारें फिर भी राजाके तीव्र अनुरोध (आज्ञा) एवं राजदंडके भयसे वे उसे मारनेमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये उस हिंसाका फल उस आज्ञा देनेवाले राजाको ही मिलेगा; सैनिक लोग तो बिना इच्छाके राजाज्ञासे उस दुष्टकर्ममें प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए हैं वे उस हिंसाके भागीदार नहीं होंगे। इससे यह बात सिद्ध होती है कि अनेक हिंसा करते हैं परंतु उसका फल एकको मिलता है। यहांपर भी परिणामोंकी ही विचित्रता समझना चाहिये कि क्रिया करनेवाला तो हिंसाका फल नहीं पाता है और क्रिया नहीं करनेवाला पाता है।

और भी कहा है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(कस्य अपि हिंसा) किसी जीवको तो हिंसा (फलकाले) फलकालमें (एकं एव हिंसाफलं) एक ही हिंसारूप फलको (दिशति) देती है (अन्यस्य) दूसरे जीवको (सैव हिंसा) वही हिंसा (विपुलं अहिंसाफलं) बड़े भारी अहिंसारूप फलको (दिशति) देती है।

विशेषार्थ—किसी जीवने दूसरे जीवकी हिंसा हिंसाकरनेके अभिप्रायसे यदि की हो तो उसे हिंसारूप ही फल मिलेगा अर्थात् हिंसा करनेसे जो बुरे कर्मोंका उसके बंध हुआ है उदयकालमें वह उसे दुःख देकर ही निकलेगा। और किसी जीवने हिंसा तो की परंतु अभिप्राय उसका उत्तम हो तो उसे हिंसारूप फल न मिल कर अहिंसारूप फल मिलेगा। जैसे जंगलमें ध्यानमें बैठे हुए मुनि महाराजको

देखकर सिंह तो उन्हें मारनेके उद्देशसे उनपर झपटा परंतु इसी बीचमें एक सूकरके परिणामोंमें मुनिमहाराजकी रक्षाका भाव उत्पन्न हुआ, उसने उस सिंहपर आक्रमण किया, दोनो लडते लडते मर गये, दोनोंके ही क्रूर परिणाम थे, फिर भी सिंहका जीव तो नरक गया और सूकरका जीव स्वर्ग गया। दोनोंके ही हिंसक परिणाम थे, दोनोंने दोनोंकी हिंसा भी की, एक साथ ही उनकी हिंसारूप प्रवृत्ति हुई फिर भी अभिप्रायके भेदसे एक स्वर्ग गया दूसरा नरक गया। सिंहका अभिप्राय मुनिमहाराजके घात करनेका था इसलिये उसे दुर्गतिमें जाना पडा, सूकरका अभिप्राय मुनिमहाराजकी रक्षा करनेका था इसलिये उसे सुगति मिली। इसी दृष्टांतके आधारपर यह बात भली भांति सिद्ध होती है कि एक ही हिंसा एकको हिंसाके फलको देती है और दूसरेको अहिंसाके फलको देती है।

हिंसा अहिंसाका फल।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—[अपरस्य तु] किसीको तो [अहिंसा] अहिंसा [परिणामे] उदयकालमें [हिंसाफलं] हिंसाके फलको [ददाति] देती है [तु पुनः] और [इतरस्य] किसीको [हिंसा] हिंसा [अहिंसाफलं] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है [न अन्यत] और फलको नहीं।

विशेषार्थ—किसी जीवने किसी जीवके घात करने अथवा उसे हानि पहुंचानेका विचार किया और उसीप्रकारका उद्योग करना आरंभ किया परंतु दूसरा जीव अपने पुण्योदयसे बच गया अथवा बुरेकी जगह उसका भला हो गया तो ऐसी अवस्थामें हिंसा नहीं होनेपर भी घात करनेकी चेष्टा करने-

वालेको हिंसाका ही फल मिलेगा। तथा किसी पुरुषने एक चिडियाके बच्चेको सडकके किनारे पडा हुआ देखकर सुरक्षित रहनेके अभिप्रायसे एक घोंसलेमें रख दिया परंतु वहांसे उसे एक पक्षी पकडकर ले गया और उसे मार डाला अथवा किसी रोगीको वैद्यने अच्छा करनेके अभिप्रायसे औषधि दी; परंतु उस औषधिसे वह मर गया तो वैसी अवस्थामें उस वैद्यको एवं घोंसलेमें बच्चेको रखनेवाले पुरुषको हिंसा होनेपर भी अहिंसाका ही फल मिलेगा। कारण उनके परिणामोंमें हिंसाका भाव किंचिन्मात्र भी नहीं है प्रत्युत: उनके भाव जीवके बचानेके हैं, वैसे परिणामोंके रहनेपर यदि उनसे किसी निमित्तवश बाह्य हिंसा हो गई तो वे उस हिंसाके फलके भागीदार नहीं हो सकते किंतु भावोंके अनुसार अहिंसाके फलके भागीदार हो चुके।

मार्ग प्रतीक।

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनां।
गुरवो भवंति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः॥ ५८॥

अन्वयार्थ—[इति] इसप्रकार [सुदुस्तरे] अत्यंत कठिन [विविधभंगगहने] अनेक प्रकारके भंग-भेद प्रभेदरूप गहन वनमें [मार्गमूढदृष्टीनां] जिनमार्गको भूले हुए पुरुषोंकेलिये [प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः] अनेक नयसमूहको भलीभांति जाननेवाले [गुरवः] श्रीगुरु-आचार्य महाराज ही [शरणं भवंति] शरण होते हैं।

विशेषार्थ—जिसप्रकार बडे भारी जंगलमें कोई अनजान पुरुष फंस जाता है तो उसका वहांसे निकलना बहुत कठिन हो जाता है कारण जंगलमें मार्गका मिलना अत्यंत कठिन है। इसीप्रकार जैन-धर्मने परिणामोंकी अनंत श्रेणियां बतलाई हैं उनमेंसे थोडीसी श्रेणियोंका परिज्ञान करना भी गणधर-देव, श्रीआचार्यपरमेष्ठी आदि श्रुतधारियोंका काम है, साधारण बुद्धिवाले तो क्या विशेष पंडित भी उन

परिणामकोटियोंका परिज्ञान करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, कारण आत्माओंमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है, उसमें निमित्तकारण पूर्वबद्ध कर्मपरमाणुओंका उदय है, जैसे जैसे कर्मोंका उदय होता रहता है उसी उसीप्रकार आत्माओंके परिणमनमें भेद प्रभेद होते चले जाते हैं। कर्मोंकी भिन्न भिन्न वर्गणाओंके स्कंधभेदसे असंख्यात भेद हैं तथा उतने ही उनके प्रतिपक्षी क्षयोपशमके भेद हैं। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक कर्मपरमाणुमें रसदानशक्ति है और जितने कर्मपरमाणुरूप आवरकोंके भेद हैं उतने ही क्षयोपशमके भेद हैं, इस दृष्टिसे अनंत कर्मपरमाणुओंके प्रतिपक्षी अनंत आत्मीयभावोंकी क्षयोपशम-रूप कोटियां हैं। इसप्रकार उन अनंत भावोंके होनेवाले प्रतिक्षण परिणमनके सूक्ष्म अंशोंका परिज्ञान नितांत दुस्तर एवं छद्मस्थोंके अगम्य है इसीलिये उसको गहनवनके नामसे आचार्योंने कहा है। परंतु जिसप्रकार बडेसे बडे जंगलमें भटके हुए मनुष्यको जंगलके मार्गोंको जाननेवाला मनुष्य तुरंत मार्गपर खडा कर देता है एवं प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचा देता है उसीप्रकार इस सिद्धांतरूपी गहनवनमें जो जीव मार्ग भूलकर इधर उधर कुमार्गमें भटकते फिरते हैं उनके लिये श्रीगुरु आचार्य महाराज ही शरणभूत हैं अर्थात् उस कुमार्गमें जानेवाले पुरुषको वे स्व-पर-तारक गुरु ही सर्वज्ञ प्रतिपादित जिनमतका रहस्य बताकर सुमार्गपर लानेका प्रयत्न करते हैं। सिद्धांतरहस्यके अपरिमितवेत्ता उन दिगम्बराचार्योंके सिवा अन्य समर्थ नहीं है इसलिये उन्हींकी शरणमें पहुंचकर उन्हींके सदुपदेशसे आत्माका कल्याण करना चाहिये।

जिनेंद्रदेवका नयचक्र।

अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रं।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानां ॥ ५९ ॥

सिद्धि

अन्वयार्थ—[अत्यंतनिशितधारं] अत्यंत तीक्ष्ण धारवाला [दुरासदं] बडी कठिनतासे मिलनेवाला [जिनवरस्य नयचक्रं] जिनेंद्रदेवका नयरूपी चक्र [धार्यमाणं] यदि धारण किया जाय तो वह [दुर्विदग्धानां] अज्ञानी जीवोंके [मूर्धानं] मस्तकको [झटिति] शीघ्र ही [खंडयति] खंड खंड कर देता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार चक्रसे शत्रुओंका मस्तक खंड खंड हो जाता है उसीप्रकार इस जिनेंद्रदेवके नयरूपी चक्रसे अथवा जिनेंद्र भगवानद्वारा प्रतिपादित नयसमूहसे मिथ्यावादियोंका अभिमान खंड खंड हो जाता है। अर्थात् जब पदार्थ अनेक धर्मात्मक है तो वह नयभंगियोंसे ही ठीक ठीक कहा जा सकता है. नयोंको छोडकर किसी भी धर्मको यदि एकांतरूपसे प्रतिपादन किया जाय तो वह प्रतिपादन वस्तुस्वरूपसे प्रतिकूल हो जाता है इसलिये जैनधर्मको छोडकर सभी धर्म एकांतपक्षके प्रतिपादक होनेसे निरवलंब, वस्तुस्वरूपसे च्युत एवं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे बाधित हैं, इसीलिये जैनमतका सारभूत रहस्य नयचक्रका सर्वोपरि महत्त्व प्रगट करनेके लिये आचार्य महाराजने उस नयचक्रको चक्रकी उपमा दी है। चक्र नाम समूहका भी है और शस्त्रविशेषका भी है दोनों ही अर्थ यहांपर घटित होते हैं। दुर्विदग्ध लोगोंका मस्तक उनका माना हुआ तत्त्व समझना चाहिये, उसीके बलपर वे ऊंचा शिर किए हुए रहते हैं परंतु अनेकांतस्वरूप जिनमतके सामने उन सबका मस्तक गिर जाता है—खंडित हो जाता है।

हिंसा निरूपणकी समाप्ति।

अवबुध्य हिंस्याहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥ ६०॥

अन्वयार्थ—[हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि] हिंस्य कौन है, हिंसक कौन है, हिंसा क्या है, हिंसाका

फल क्या है ? इन चारों बातोंको [तत्त्वेन] वास्तवरूपसे [अवबुद्ध्य] समझ करके [नित्यं अवगूहमानैः] सदा संवर करनेमें सावधान रहनेवाले पुरुषोंको [निजशक्त्या] अपनी शक्तिके अनुसार [हिंसा] हिंसा [त्यज्यतां] छोडना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिसकी हिंसा की जाती है उसे हिंस्य कहते हैं । एकेंद्रियसे लेकर संज्ञी पंचेंद्रियपर्यंत सभी प्राणी हिंस्य कहे जा सकते हैं, कारण कि सभी संसारी जीवोंके द्रव्यप्राण अथवा भावप्राण स्व-परके द्वारा पीडे जा सकते हैं । हिंसा करनेवालेको हिंसक कहते हैं, इस कोटिमें मनवाले संसारी जीव विशेष रीतिसे समझना चाहिये बाकी तेइंद्रिय आदि भी रागद्वेषके निमित्तसे इस कोटिमें आ सकते हैं, एकेंद्रिय दो इंद्रिय जीव भी सरागी हैं परंतु वे सर्वथा अव्यक्त कोटिमें हैं । वास्तवमें हिंसककी प्रधान कोटिमें वे ही जीव समझने चाहिये जो बुद्धिपूर्वक अपने अथवा परके द्रव्यप्राण अथवा भावप्राणोंका घात करते हैं । जो प्राणपीडारूप क्रिया है उसे हिंसा कहते हैं, अर्थात् जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणोंमें जो पीडा हो रही है और द्रव्यप्राणोंका जो घात हो रहा है वही हिंसा है । हिंसा करते समय जो अशुभ कर्मोंका बंध किया जाता है उसके उदयमें आनेपर हिंसा करनेवालेको जो नरकादि गतियोंमें कष्ट मिलता है वही हिंसाका फल है । जैसे एक मनुष्यने सिंहको मारा और तीव्र क्रूर परिणामोंसे उसने नरकायुका बंध बांध लिया, पहली आयुके खिर जानेपर तथा हिंसा करते समय बांधी हुई नरकायुका उदय आने पर वह जीव नरकगतिमें चला गया और वहां छेदन भेदन भर्जन कुंभीपाकपाचन आदि नानाप्रकारके दुःखोंको भोगने लगा तो यहांपर सिंह तो हिंस्य है, मनुष्य हिंसक है, सिंहके प्राणोंका घात होना हिंसा है और मनुष्यने नरकायुका जो बंध किया तथा उसके उदयमें आनेपर वह नरकगतिमें पहुंचकर वहांके दुःखोंको भोगने लगा यह हिंसाका फल है ।

इसप्रकार इन समस्त सूक्ष्म हिंसाकोटियोंको समझ करके प्रत्येक विचारशील एवं कर्मोंका उपशमन करनेके लिये उद्योगशील पुरुषको अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका परित्याग कर देना ही उचित है।

अष्ट मूलगुण।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुंबरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसाव्युपरतकामैः) हिंसाको छोडनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको (प्रथम एव) सबसे पहले (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक अथवा सावधानीके साथ (मद्यं) मदिरा (मांसं) मांस (क्षौद्रं) मधु (पंच उदुंबरफलानि) पांच उदंबर फल (मोक्तव्यानि) छोड देना चाहिये।

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह बात प्रगट की गई थी कि अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका परित्याग करना चाहिये। इस श्लोक द्वारा यह बात प्रगट की गई है कि वे कोनसे पदार्थ हैं जिनके सेवनसे अत्यधिक जीवोंकी हिंसा होती है जिन्हेंकि सबसे पहले छोडनेकी आवश्यकता है? इसके लिये बतलाया गया है कि हिंसाका त्याग करनेवालोंको सबसे पहले मदिरा, मांस, मधु (शहत) और पांच उदुंबरफल इन आठ वस्तुओंका परित्याग कर देना चाहिये! सबसे पहले इन्हीं आठोंका परित्याग क्यों बतलाया गया है? इसका उत्तर यह है कि ये आठों ही वस्तुएं ऐसी हैं कि जिनके सेवनसे अनंतप्राणियोंका घात हो जाता है एवं असंख्य त्रसजीवोंका घात हो जाता है। इनसे बढकर दूसरा कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो कि जीवोंकी खान हो। जीवहिंसाका त्याग करनेके लिये यदि कोई प्रथम श्रेणी है तो इन्हीं आठ वस्तुओंका त्याग है, इनका त्याग किये बिना यदि कोई हिंसाका त्यागी कहलानेका पात्र बनना

चाहता है तो वह बात सर्वथा असत्य है। त्यागका मार्ग ही इन आठोंके त्यागसे प्रगट होता है। अथवा यों कहना चाहिये कि जो पुरुष मदिरा मांस मधु और पांच उदुम्बरफलोंको छोड नहीं सकता वह हिंसाका त्यागी कभी बन ही नहीं सकता अथवा वैसे पुरुषकी प्रवृत्ति त्याग करनेके लिये कभी उद्यत नहीं हो सकती। मदिरा मांस मधु आदि आठों ही पदार्थ जीवोंके साक्षात् पिण्ड हैं तथा अनंत स्थावर एवं असंख्य त्रसोंके आश्रयभूत हैं इसलिये उनका सेवन करनेवाला महापापी तीव्र कषायी, सबसे बडा-हीनाचारी एवं मनुष्य श्रेणीमें गिनने योग्य नहीं है। जैनधर्मके सिद्धांतके अनुसार तो जो मनुष्य इन आठोंका परित्याग नहीं करता है वह जैन ही नहीं कहा जा सकता, इन आठोंका त्यागी ही जैन कहा जाता है। इन आठोंका त्याग ही अष्ट मूलगुणके नामसे प्रसिद्ध है। अष्ट मूलगुणका पालन करनेवाला मनुष्य ही जैन कहा जा सकता है। जिसके जैनत्वके योग्य मूलगुण ही नहीं है वह जैन नहीं कहा जा सकता इसलिये उपर्युक्त मदिरा आदि आठोंका त्याग करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

मदिरा-पानमें दोष।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(मद्यं) मदिरा (मनः मोहयति) मनको मूर्छित–बेहोश कर देता है (मोहितचित्तस्तु) मोहित चित्तवाला पुरुष (धर्मं विस्मरति) धर्मको भूल जाता है (विस्मृतधर्मा जीवः) धर्मको भूला हुआ जीव (अविशंकं) विना किसी प्रकारकी शंकाके (हिंसां आचरति) हिंसाका आचरण करता है।

विशेषार्थ—सबसे बडा दोष ज्ञानका नष्ट हो जाना है। मदिरा पीनेवालोंका ज्ञान एकदम नष्ट हो

जाता है, उनकी बुरी दशा हो जाती है। उन्हें अपने शरीर तकका होश नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें कहां तो विवेक ठहर सकता है और कहां धर्म ठहर सकता है? मदिरापायी पुरुषके धर्म कर्म विवेक सभी नष्ट हो जाते हैं वैसी अवस्थामें उसकी हिंसामें सुतरां प्रवृत्ति हो जाती है, कारण कि विवेकपूर्ण उत्तम-गुणोंकी ओर तो बुद्धिका झुकाव बडे यत्न करनेपर होता है परंतु नीचमार्गकी ओर वह सुतरां प्रवृत्त हो जाती है। इसका कारण जीवोंके अनादिकालसे चले आये हीनसंस्कार एवं अशुभकर्मोंका उदय ही है इसलिये मदिरा पीनेवाला पुरुष निडर होकर हिंसा करने लगता है। मदिरा पीनेवालेकी हिंसा करनेमें ही क्यों प्रवृत्ति होती है? इसका उत्तर यह है कि मदिरासे आत्मामें तमोगुणकी वृद्धि होती है उसके निमित्तसे वह तीव्रकषाय एवं क्रूरतापूर्ण कार्यमें प्रवृत्त होनेके लिये बाध्य हो जाता है। इसलिये देखा भी जाता है कि मदिरापायी पुरुष गाली बकता फिरता है, कुचेष्टाएं करता फिरता है, अभक्ष्य-पदार्थोंका सेवन करता है, सप्तव्यसनके सेवनमें लग जाता है ये सब तमोगुणके कार्य हैं इसलिये उसकी समस्तक्रियायें हिंसाजनक हैं।

मदिरा जीवोंका पिंड है:

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यं।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(च) तथा (बहूनां रसजानां जीवानां) बहुतसे रससे उत्पन्न हुए जीवोंकी (योनिः) योनि अर्थात् जीवोत्पत्तिका आधार (मद्यं) मदिरा (इष्यते) कही जाती है (मद्यं भजतां) मदिरा पीनेवाले (तेषां) उन जीवोंको (हिंसा अवश्यं संजायते) हिंसा अवश्य लगती है।

विशेषार्थ—मदिराकी उत्पत्ति सडाए हुए पदार्थोंसे होती है। महुआ, गुड आदि अनेक मादक पदार्थोंको इकट्ठा कर महीनों एवं वर्षों सडाया जाता है। बहुतकाल सडनेसे उन पदार्थोंमें तीव्र मादकता उत्पन्न हो जाती है। जो जितने अधिक दिन सडाये जाते हैं उनसे उतनी ही अच्छी शराब तयार होती है। उन महीनों और वर्षोंके अनेक मिले हुए दुर्गंधित पदार्थोंमें असंख्य तो त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं, और अनंत स्थावर जीव पैदा हो जाते हैं। पीछे उन सडाये हुए पदार्थोंको मथा जाता है। मथन करनेमें वे समस्त—पंचेंद्रिय तक असंख्य त्रसजीव तथा अनंत स्थावरजीव उसी मदिराके रसमें मथ जाते हैं। इस-प्रकार अनंतों जीवोंका बध हो चुकनेके पीछे फिर जब मदिरा तयार हो जाती है तो फिर उस दुर्गंधित रसमें असंख्य त्रस और अनंत स्थावर उत्पन्न होते हैं। उसी जीवोंसे सने हुए मदिराको मदिरापीनेवाले दुष्टपुरुष पी जाते हैं। पीछे ज्ञानगुणके मूर्छित होनेसे नानाप्रकारके खोटे कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं इस-प्रकार मदिरापान महान् हिंसा और अनर्थोंका घर है।

और भी कहा है—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेपि च सरकसन्निहिताः॥ ६४॥

अन्वयार्थ—(अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः) अभिमान भय ग्लानि हास्य दुःख शोक कामवासना क्रोध आदिक सभी दुर्गुण अथवा कषाय हैं, वे सब (हिंसायाः पर्यायाः) हिंसाके पर्याय-वाची शब्द हैं (च) और (सर्वे अपि) सभी (सरकसन्निहिताः) मदिराके निकटवर्ती हैं अर्थात् मदिराके पास रहते हैं।

विशेषार्थ—अभिमान आदिक सभी दोष हिंसाके ही पर्यायवाची शब्द हैं। इस बातको पहले ही प्रगट किया जा चुका है कि कषायपरिणाम भावहिंसास्वरूप हैं। उपर्युक्त समस्त दुर्भाव अथवा कषाय-भाव मदिरा पीनेसे उत्पन्न होते हैं इसलिये मदिरापायी पुरुष भावहिंसा एवं द्रव्यहिंसा ही किया करता है अर्थात् उसका मदिरापान ही पहले तो हिंसात्मक कार्य है दूसरे उससे होनेवाले भाव और उत्तर प्रवृत्तियां हिंसात्मक हैं इसलिये जो दुर्बुद्धि मदिराका त्याग नहीं करते वे महापापी हैं।

मांसकी उत्पत्ति।

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥ ६५॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिस कारण (प्राणिविघातात् विना) विना प्राणियोंके वध हुए (मांसस्य उत्पत्तिः) मांसकी उत्पत्ति (न इष्यते) नहीं हो सकती (तस्मात्) इसलिये (मांसं भजतः) मांसको सेवन करनेवाले पुरुषको (हिंसा अनिवारिता प्रसरति) हिंसा अनिवार (अवश्य ही) होती है।

विशेषार्थ—मांस क्या पदार्थ है? इसका विचार करनेसे जाना जाता है कि मांस त्रस जीवका भीतरी शरीरपिंड है इसलिये जो वस्तु साक्षात् त्रस जीवके शरीरका पिंड है वह विना जीववधके तयार नहीं हो सकती अतः मांस सेवन करनेवालोंको हिंसा अनिवार—अवश्य ही होती है।

मांसमें अनन्त जीव।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥ ६६॥

अन्वयार्थ—(यदपि) यद्यपि (मांसं) मांस (स्वयं एव मृतस्य) अपने आप मरे हुए (महिषवृषभादेः अपि भवति) भैंस बैल आदि पशुओंका भी होता है (तत्र अपि) वहां भी (तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्) उस मांसके आश्रित निगोदजीवराशिके घात होनेसे (किल) निश्चयसे (हिंसा भवति) हिंसा होती है।

विशेषार्थ—अनेक कुतर्की पुरुष ऐसी भी आशंका किया करते हैं कि जिस मांसको जीववध करके तयार किया गया है उसके भक्षणमें हिंसा लगती है परंतु जो मांस स्वयं मरेहुए पशुओंका तयार किया गया है उसके भक्षणमें कोई दोष नहीं है। इसका उत्तर इस श्लोक द्वारा दिया गया है कि स्वयं मृत-जीवके मांसभक्षणमें भी अनेक महान् दोष आते हैं। कारण जो पुरुष मांसभक्षण करते हैं वे साक्षात् जीवके कलेवरका भक्षण करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके कितना तीव्रराग है अथवा कितनी तीव्र पापवासना है उसका विवेचन करना व्यर्थ है। क्या जीवका कलेवर ग्रहण करनेवाले मनुष्योंकी कोटिमें बिठानेके पात्र हैं? कभी नहीं। वे राक्षस हैं ऐसे पुरुषोंके हृदयमें दयाका लेश नहीं हो सकता। फिर भी शंकाकारके कथनानुसार यह मान लिया जाय कि स्वयंमृतके मांसमें क्या जीववध हो सकता है? तो उसका उत्तर यह है कि मांस एक ऐसी घृणित वस्तु है जिसमें निरंतर अनंत निगोतजीवराशि उत्पन्न होती रहती है। इसलिये मांसभक्षण करनेवाले उस अनंतजीवराशिका भी भक्षण कर जाते हैं अतएव मांससेवियोंके नियमसे महान्–दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसा होती है।

पक्वमांसमें भी जीवराशि है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(आमासु) कच्ची (पक्कासु अपि) पकी हुई भी (विपच्यमानासु अपि) पकती हुई भी (मांसपेशीषु) मांसकी डलियोंमें (तज्जातीनां) उसी जातिके (निगोतानां) निगोतजीवराशियोंकी (सातत्येन) निरंतर (उत्पादः 'भवति') उत्पत्ति होती रहती है।

विशेषार्थ—कोई यह शंका करे कि–कच्चे मांसमें जीव रह सकते हैं अग्निपर पकाये हुए मांसमें नहीं रहते होंगे? तो आचार्य महाराज इसका उत्तर देते हैं कि–चाहे कच्चा मांस हो, चाहे पकाया हुआ मांस हो, चाहे अग्निपर पकाया जा रहा हो, कैसी भी अवस्थामें वह क्यों न हो, हरसमय उसमें उसी जातिकी–जिस जातिके जीवका वह मांस है उसी जातिवाले अर्थात् गो भैंस आदि जिन जीवोंके शरीरका वह मांसपिंड है उसीप्रकारके वर्णादिवाले परमाणुओंके शरीरवाले एवं उसीप्रकार आकार विशेष रखनेवाले अनंत निगोदजीव उसमें निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं।

इसलिये—

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं।
स निहंति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनां ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (आमां) कच्ची (वा) अथवा (पक्वां) पकाई हुई (पिशितपेशीं) मांसकी डलीको (खादति) खाता है (वा) अथवा (स्पृशति) स्पर्श करता है (सः) वह (बहुजीवकोटीनां) अनंत जीवराशियोंके (सततनिचितं) निरंतर संचित हुए (पिंडं) पिंडको (निहंति) नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ—जो मांसपिंडको खाता है वह तो अनंतजीवराशिको खाता ही है उस पापिष्ठकी तो बात ही क्या? परंतु जो उस अनंत जीवराशिमय मांसको छूता भी है वह भी उन जीवोंका घातक है इसलिये मांसका स्पर्श भी दुर्गतिका कारण है और तीव्रहिंसाका मूलभूत है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यंतं॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—[लोके] लोकमें [मधुशकलमपि] मधुका एक छोटासा खंड भी [प्रायः] बहुधा [मधुकरहिंसात्मकं] मक्खियोंकी हिंसाका स्वरूप [भवति] होती है। [यः] जो [मूढधीकः] मूढ बुद्धि रखनेवाला [मधु भजति] मधुका सेवन करता है [सः] वह [अत्यंत हिंसकः भवति] अत्यंत हिंसक होता है।

विशेषार्थ—मधु (शहत) की एक बिंदु भी बिना मक्खियोंकी हिंसा किये नहीं मिल सकती, कारण कि जो कोई मधु लेनेकी चेष्टा करेगा वह पहले उन मक्खियोंके छत्तेको—उनके घरको नष्ट करेगा वैसा करनेसे कुछ मक्खियां उड जाती हैं परंतु अनेक उसी छत्तेमें दब जाती हैं, छत्तेके निचोडनेसे पिस जाती हैं। इसके सिवा उस छत्तेमें रहनेवाले ऐसे पिंड जिनमें कि जीव पड चुके हैं वे सब उसीमें नष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन समस्त जीवोंका बुरी तरहसे घात होता है। जो विचारी मक्खियां छत्तेसे उड भी जाती हैं, वे भी उनका घर नष्ट हो जानेसे महान् क्लेश भोगती हैं। इसके सिवा मधु कोई उत्तम पदार्थ भी नहीं है किंतु मक्खियोंके मुहका जूठा उगाल है। पुष्पोंका रस पीकर मक्खियां आती हैं उसी रसको छत्तेपर उगलती हैं वही मधु है इसलिये वह मधु खाने योग्य तो क्या छूने योग्य भी पदार्थ नहीं है। हिंसाका विचार करनेसे तो मधुको खानेवाला महान् पापी एवं क्रूरात्मा है, कारण कि मक्खियोंके छत्तेमें रहनेवाले असंख्य जीवोंका घात वह करता है जो मधुकी एक बिंदु भी खाता है। इस विषयमें कि जो मधुका एक बिंदु भी खाता है वह सात गावोंके जलादेनेके बराबर हिंसाका भागी

होता है। ऐसा समझकर किसी पुरुषको मधुका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये किंतु सदाके लिये सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

स्वयं गिरे हुए मधुके ग्रहणमें हिंसा।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधु गोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥ ७०॥

अन्वयार्थ—[यः] जो पुरुष [गोलात्] मधुके छत्तेसे [स्वयं एव विगलितं] अपने आप ही गिरे हुए [वा] अथवा [छलेन 'विगलितं'] छलसे गिरे हुये [मधु] मधुको [गृह्णाति] ग्रहण करता है [तत्रापि] वहांपर भी [तदाश्रयप्राणिनां] उसके आश्रयभूत प्राणियोंके [घातात्] घातसे [हिंसा भवति] हिंसा होती है।

विशेषार्थ—जो स्वयमेव छत्तेमे गिरे हुए मधुका सेवन करता है वह भी हिंसक होता है, कारण कि उसके आश्रित रहनेवाले सभी जीव नष्ट हो जाते हैं अथवा जो किसी भी छलसे मधुबिंदुका ग्रहण करता है वह नियमसे हिंसक होता है।

व्रती इनका भक्षण नहीं करते।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यंते न व्रतिना तद्वर्णा जंतवस्तत्र॥ ७१॥

अन्वयार्थ—[मधु मद्यं नवनीतं] मधु—शहद, मदिरा—शराव, नवनीत—मक्खन अथवा लौनी [च] और [पिशितं] मांस [महाविकृतयः] महान विकृतिवाले पदार्थ हैं अर्थात् इन पदार्थोंके सेवन करनेसे आत्मामें विकार पैदा होता है इसलिये [ताः] ये चारों [व्रतिना] व्रती पुरुषोंके द्वारा [न वल्भ्यंते] नहीं सेवन किये जाते हैं क्योंकि [तत्र] उनमें [तद्वर्णाः] उसी वर्णवाले [जंतवः] जंतु उत्पन्न होते रहते हैं।

विशेषार्थ—मधु, मदिरा, मक्खन और मांस इन चारों ही मकारोंमें उन्हीं उन्हीं रंगवाले जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये व्रती पुरुष उनका कदापि सेवन नहीं करते हैं। इनका सेवन करनेवालोंकी आत्मा महामलिन विकारयुक्त एवं नीचपथकी अवलंबिनी बन जाती है।

इन उपर्युक्त पदार्थोंमें मदिरा और मांसका तो जैनमात्रके ही त्याग होता है, परंतु कोई कोई भाई शहद और मक्खनका सेवन करते हुए पाये जाते हैं। परंतु उन्हें भी न सेवना चाहिये क्योंकि मधु और मक्खन इन दोनोंको मदिरा और मांसके साथ वर्णन किया है, इसलिये इन दोनोंकी भी वही कोटि है जो मदिरा और मांसकी होती है। इतना विशेष है कि मक्खनमें एक मुहूर्तके पीछे जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है। कोई कोई दो मुहूर्त पीछे उसमें जीवोंकी उत्पत्तिका विधान करते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें वह एक मुहूर्त अथवा दो मुहूर्त पीछे सर्वथा अभक्ष्य हो जाता है। इसलिये श्रावकोंको चाहिये कि एक मुहूर्तके भीतर ही मक्खनको अग्निपर तपाकर घृत बना लेवें तभी उसका ग्रहण करें। आजकल मक्खनके विषयमें बहुत कम लोग विचार करते हैं। बहुभाग लोग एक, दो एवं आठ दिन तक मक्खनको कच्चा ही रखते हैं पीछे उसे अग्निपर तपाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन समस्त जीवोंकी हिंसाके वे भागीदार हैं जो कि उसमें दो मुहूर्त पीछे पड चुके हैं। इसलिये इस शिथिलाचारको तुरंत दूर करनेका जैनियोंको प्रयत्न करना चाहिये।

दूसरी बात शहदके विषयमें भी है। बहुसंख्यक जैनीभाई बीमारीके समय चटनी आदि औषधिके लिये शहदकी चासनी बना लेते हैं और उसी शहदके साथ औषधि खालेते हैं। मधुका ग्रहण करना तो दूर रहा उसका स्पर्श भी आचार्योंने महान् पापबंधका कारण बतलाया है। उसका कारण भी प्रगट

किया है। कि उसके आश्रित रहनेवाले समस्त जीवोंका वध हो जाता है, मधुबिंदुको खानेवालेके लिये सातगावोंके जलानेवालेके बराबर पापी बतलाया गया है, इसलिये मधुका सर्वथा त्याग कर देना ही प्रत्येक जैनके लिये अत्यावश्यक है। जो पदार्थ अभक्ष्य हैं, अनुपसेव्य हैं, उनका ग्रहण जैनमात्रके लिये निषिद्ध है। जो मधुका भी त्याग करनेमें असमर्थ हैं वे हिंसासे कभी नहीं बचसकते और न वे जैन कहलानेके पात्र हैं कारण अष्ट मूलगुणका धारण करना जैनत्वका प्रथम लक्षण है, उसके अभावमें जैनत्वका भी अभाव समझना चाहिये।

पांच उदुंबरफल।

योनिरुदुंबरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—[उदुंबरयुग्मं] उदुंबर युग्म–ऊमर और कठूमर [प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि] पाकर, बड और पीपलफल [त्रसजीवानां] त्रस जीवोंके [योनिः] योनिभूत हैं अर्थात् त्रसजीवोंकी उत्पत्तिके ये पांचों फल घर हैं इनमें अनेक त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं [तस्मात्] इसलिये [तद्भक्षणे] उनके भक्षण करनेमें [तेषां] उन त्रसजीवोंकी [हिंसा] हिंसा ['भवति'] होती है।

विशेषार्थ—इन पांचों वृक्षोंके फलोंमें त्रस जीव साक्षात् उडते देखे जाते हैं तथा और भी सूक्ष्म-जीव बहुत होते हैं जो नहीं देख पडते इसलिये हिंसासे बचनेवालोंको इन पांचों ही फलोंके भक्षणका त्याग कर देना उचित है।

पञ्च उदुंबर सूखे भी अभक्ष्य हैं।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—[पुनः] फिर [यानि] जो फल [शुष्काणि तु] सूखे हुए भी [कालोच्छिन्नत्रसाणि] काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित हो जांय [तानि अपि] उनको भी (भजतः) सेवन करनेवालेको (विशिष्टरागादिरूपा) विशिष्ट रागादि रूप (हिंसा स्यात) हिंसा होती है ।

विशेषार्थ—जो लोग यह विचारकर कि सूखे फलोंमें तो त्रस जीव नहीं रहते उनके भक्षण करनेमें क्या दोष है ? सूखे फलोंको भक्षण करने लगें तो आचार्य उनके लिये भी निषेध करते हैं कि जो फल सूख जाते हैं और काल पाकर उनमेंसे त्रस जीव नष्ट हो जाते हैं अथवा बाहर निकल जाते हैं ऐसे सूखे हुए फल भी नहीं खाना चाहिये, कारण कि उनके खानेमें एक विशेष रागरूप परिणामोंकी उत्पत्ति होती है । बिना तीव्र रागके उनके सुखानेके लिए परिणाम भी नहीं हो सकते । जब कि उन फलोंमें तीव्र गृद्धता या राग विशेष होगा तभी उन त्रस जीवोंके घररूप फलोंको सुखानेके लिये प्रवृत्त परिणाम होंगे वैसी अवस्थामें तीव्र रागजनित भावहिंसा होती ही है । दूसरी बात यह भी है कि जो फल त्रस जीवोंकी योनिभूत हैं, ऐसे फलोंको सुखानेसे वे त्रस जीव क्या सभी बाहर ही निकल जाते हैं ? अनेक उसी फलमें गरमीसे मरकर रह जाते हैं, सूक्ष्म होनेसे दीखते भी नहीं हैं और फलके समान रंग होनेसे भी नहीं दीखते । वैसी अवस्थामें उन फलोंका सेवन त्रस जीवोंके कलेवरका भक्षण है । जो पदार्थ त्रस जीवोंकी योनिरूप नहीं हैं उनसे तो त्रस जीव निकल जाते हैं परंतु जो योनिरूप हैं उनसे सब त्रसोंका निकलना अशक्य है । अनेक सूक्ष्म त्रस उन्हीं फलोंमें रहते ही हैं इसलिये ऐसे सर्वथा अभक्ष्य पंच उदुंबर फलोंको सुखाकर खाना भी हिंसा है । परिणामोंमें तीव्र राग तथा आकुलता होनेसे भावहिंसा होती है और उन त्रस जीवोंका घात होनेसे द्रव्यहिंसा होती है इसके सिवा उन फलोंका भक्षण करनेसे मांस-सेवनका दोष आता है, इसलिये ये पांचों फल जैनमात्रके लिये त्याज्य हैं ।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनायाः भवंति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(अमूनि) इन (अष्टौ) आठ (अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि) अनिष्ट, कठिनतासे छूटनेवाले और पापोंकी खानस्वरूप फलोंको (परिवर्ज्य) छोडकर ही (शुद्धधियः) शुद्धबुद्धिवाले पुरुष (जिनधर्मदेशनायाः) जिनधर्मके उपदेश ग्रहण करनेके (पात्राणि भवंति) पात्र होते हैं ।

विशेषार्थ—जबतक कोई पुरुष इन पांच फलोंको और मदिरा मांस मधुको नहीं छोड सकता तब तक वह जैनधर्मके उपदेशको सुननेका पात्र भी नहीं है । कारण कि जिसके इतना तीव्र राग है कि जो साक्षात् त्रस जीवोंके कलेवरको ही भक्षण कर जाता है, उस दयाहीन महाक्रूरपरिणामी मलिनात्माके जिनधर्मके स्वरूपके सुननेके कहां परिणाम हो सकते हैं ? ऐसे तीव्र रागी पुरुषको उपदेश नहीं देना चाहिये सो नहीं । आचार्य महाराजका यही अभिप्राय है कि ऐसे अभक्ष्यभक्षी मलिनबुद्धिकी आत्मामें थोडे भी निर्मल परिणाम नहीं हैं जो कि जिनधर्मको सुनकर वह कुछ लाभ उठा सके । ऐसी अवस्थामें उसे उपदेश देना व्यर्थ ही जाता है । क्योंकि जिसके परिणामोंमें थोडासा क्षयोपशम होता है तभी उस आत्माका उपयोग सन्मार्गकी ओर झुकाया जा सकता है इसलिये वे ही पुरुष जिनधर्मका उपदेश ग्रहण करनेके पात्र हैं जो इन—मदिरा मांस मधु और पांच उदुंबर फलोंका त्याग करके अपने परिणामोंको निर्मल बना चुके हैं ।

ऊपर कहे हुए तीन मकार और पांचों ही फल आत्माके लिये महान् अनिष्ट करनेवाले हैं, महान् पाप-

बंध करनेवाले हैं इसलिये सबसे पहले जैनधर्मके सिद्धांतानुसार इन्हीं आठोंका परित्याग श्रावककोलिये आवश्यक बतलाया गया है। इन्हीं आठोंके त्यागको आठ मूलगुण कहते हैं, जिसके मूलगुण नहीं हैं वह श्रावककी कोटिमें भी नहीं सम्हाला जा सकता। मूलगुणोंके अभावमें उत्तरगुण–पंच अणुव्रत आदि तो किसीप्रकार पाले ही नहीं जा सकते हैं। जिसके आठ मूलगुण नहीं हैं वह किसीप्रकारकी धर्मक्रियाके पालनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

त्रस-हिंसा तो छोड ही दो।

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वंतोपि ये परित्यक्तुं।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेपि मुंचंतु ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं अहिंसारूपं) धर्म अहिंसारूप है इस बातको (संशृण्वंतः अपि) भलेप्रकार जानते हैं फिर भी (ये) जो पुरुष (स्थावरहिंसां परित्यक्तुं) स्थावर हिंसाके छोडनेमें (असहाः) असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (त्रसहिंसां मुंचंतु) त्रसहिंसाको तो छोड दें।

विशेषार्थ—जो पुरुष धर्मका स्वरूप ही नहीं समझते वे यदि हिंसासे नहीं बच सकें तो आश्चर्यकी बात नहीं है कारण वे उस विषयमें अज्ञानी हैं, परंतु जो यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि–धर्मका स्वरूप अहिंसात्मक है, यदि वे भी हिंसा नहीं छोड सकें तो आश्चर्यकी बात है। श्रीगुरु ऐसे पुरुषोंसे जो कि धर्मका स्वरूप समझे हुए हैं प्रेरणापूर्वक आदेश करते हैं कि भाई! यदि तुम जान बूझकर भी स्थावर हिंसाके छोडनेमें समर्थ नहीं हो तो न सही; परंतु त्रसहिंसा तो छोड दो। यदि वह भी नहीं छोड सकते तो तुम्हारा धर्मका सुनना सुनाना सब कुछ व्यर्थ है।

अर्थात् श्रावकोंको प्रयोजनसे भिन्न स्थावर हिंसा भी यथाशक्ति बचाना चाहिये परंतु त्रसहिंसा तो उसके लिये छोडना आवश्यक ही है।

सामान्य और विशेषत्यागमें अन्तर।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(औत्सर्गिकी) उत्सर्गरूपी—सामान्यरूप (निवृत्तिः) त्याग (कृतकारितानुमननैः) कृत, कारित, अनुमोदनाके भेदोंसे (वाक्कायमनोभिः) वचन, काय और मनके भेदोंसे (नवधा) नौ प्रकार (इष्यते) कहा जाता है। (तु) और (एषा आपवादिकी निवृत्तिः) यह अपवादरूप त्याग (विचित्ररूपा) अनेक प्रकार कहा जाता है।

विशेषार्थ—त्याग दो भेदोंमें बांटा जाता है (१) जो त्याग मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना—अर्थात् किसी कार्यको मनसे वचनसे कायसे स्वयं करना, दूसरोंसे कराना, करते हुएकी प्रशंसा आदि करना, इन नौ प्रकारोंसे किया जाता है वह उत्सर्गत्याग कहा जाता है। उत्सर्गत्याग सर्वथात्याग, सामान्यत्याग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। परंतु जो त्याग इन नव भेदोंमेंसे किसी एक वा अनेक भेदोंसे किया जाता है वह अपवादत्याग कहा जाता है। अपवादत्याग, विशेषत्याग, आंशिकत्याग आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिसप्रकार चारित्रधारियोंके मुनि और श्रावक ऐसे दो भेद हैं उसीप्रकार त्यागके भी सर्वथात्याग और एकदेशत्याग ऐसे दो भेद हैं। मुनिमहाराज तो महाव्रतके धारक हैं इसलिये वे तो प्रत्येक पापाचारका सर्वथात्याग करते हैं परंतु गृहस्थ अणुव्रती है तथा अव्रती पाक्षिक

भी है, इसलिये वह यथाशक्ति अनेकरूपसे थोडा थोडा त्याग करता है। कोई कायसे त्याग करता है मन वचनसे नहीं करता, कोई वचनसे भी त्याग कर देता है, कोई तीनोंसे त्याग करता है परंतु स्वयं करता है दूसरोंसे उस छोडने योग्य विषयका आरंभ कराता है, कोई किसी दूसरेको कोई पापाचार करते हुए देखकर स्वयं उसका त्यागी होनेपर भी उसकी प्रशंसा करता है इत्यादि अपवादत्यागके अनेक भेद प्रभेद हैं। जिस जातिका जिसने त्याग किया है अर्थात् नव भेदोंसे जिसने जिस भेदसे जिस वस्तुका त्याग किया है उसे उसपर दृढ रहकर आगेके भेदोंके त्यागके लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

निरर्थक स्थावरहिंसा भी त्याज्य है।

स्तोकैकेंद्रियघाताद् गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणां।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयं ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—[संपन्नयोग्यविषयाणां] इंद्रिय विषयोंको न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [गृहिणां] गृहस्थोंको [स्तोकैकेंद्रियघातात्] अल्प एकेंद्रियके घातके सिवा [शेषस्थावरमारणविरमणं अपि] बाकीके स्थावर जीवोंके मारनेका त्याग भी [करणीयं भवति] करना योग्य है।

विशेषार्थ—यह बात तो निश्चित है कि गृहस्थ स्थावरहिंसासे सर्वथा नहीं बच सकता, कारण कि गृहस्थाश्रममें आरंभोंका होना अनिवार है, जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना भी अनिवार है। परंतु विवेकी गृहस्थ प्रयोजनीभूत स्थावरहिंसा तो करता ही है उसके लिये उसका त्याग होना अशक्य है। विना मुनिपद ग्रहण किए वह हिंसा छूट नहीं सकती। परंतु प्रयोजनके सिवा बाकी अनावश्यक कार्योंसे होनेवाली स्थावरहिंसाको वह छोड देता है और यथाशक्ति परिमित न्यायानुसार विषयोंका ग्रहण करता

है। ऐसे विवेकी गृहस्थके लिये आचार्य उपदेश देते हैं कि—न्यायानुसार परिमित आवश्यक विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले गृहस्थसे यद्यपि अन्य अविवेकी अपरिमित एवं अनावश्यक विषयसेवी गृहस्थकी अपेक्षा बहुत कम स्थावरहिंसा होती है फिर भी उसे शेष स्थावर जीवोंकी हिंसाका विचारपूर्वक त्याग कर देना चाहिये अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे जो स्थावरहिंसा होती है उसका परित्याग तो वह कर नहीं सकता परंतु जो स्थावरहिंसा असावधानीसे अनेक व्यर्थ प्रवृत्तिसे होती है उसे अवश्य छोड देना चाहिये।

अहिंसापालकोंको दृढ रहना चाहिये।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमंजसमाकुलैर्न भवितव्यं॥ ७८॥

अन्वयार्थ—(अमृतत्वहेतुभूतं) अमृतपनेका कारणभूत—नहीं मरनेका कारणस्वरूप (परमं) उत्कृष्ट (अहिंसारसायनं) अहिंसारूपी रसायनको (लब्ध्वा) पाकर (बालिशानां) मूर्खोंके (असमंजसं) अयोग्य अथवा प्रतिकूल वर्तावको (अवलोक्य) देखकर (आकुलैः) व्याकुल (न भवितव्यं) नहीं होना चाहिये।

विशेषार्थ—अहिंसाधर्मका पालना एक प्रकारकी रसायन है। जैसे रसायनका सेवन करनेवाला चिरंजीवी बन जाता है उसीप्रकार इस अहिंसारूपी रसायनका सेवन करनेवाला सदाके लिये अजर अमर हो जाता है अर्थात् अहिंसाधर्मको उत्कृष्टरीतिसे पालनेवालोंको मोक्षसिद्धि हो जाती है। ऐसे महान् श्रेष्ठ अहिंसाधर्मको पाकर प्रत्येक बुद्धिमानको चाहिये कि वह सदा उसके यत्नाचारपूर्वक पालनेमें लगा रहे, तथा प्रतिकूल प्रवृत्ति देखकर किसी प्रकार चित्तमें व्याकुलता अथवा संशयालु प्रवृत्ति न करके

संसारमें यह भी देखनेमें आता है कि अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाले भी सुखी और ज्ञानवा[illegible] जाते हैं और अहिंसाधर्मके सेवन करनेवाले दुःखी भी पाये जाते हैं । अनेक अहिंसा धर्मके पा[illegible] कृशशरीर और रोगी भी देखनेमें आते हैं परंतु हिंसा करनेवाले और जीवोंके शरीरपिण्डको भक्षण करनेवाले कोई कोई पुष्टशरीर और निरोगी भी पाये जाते हैं । ऐसी अवस्थामें बहुतसे मूर्ख उस हिंसारूप अधर्मकी पुष्टि करते हैं । जो कुछ लाभ उन्हें पूर्वपुण्यके उदयसे मिल रहा है वह सब वे हिंसाके करनेसे बतलाते हैं । इसप्रकारकी विपरीत प्रवृत्ति कुछ मूर्खोंकी देखकर बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे चित्तमें यह संशयभाव कभी न लावें कि शायद हिंसासे ज्ञान विकसित होता हो तथा शरीरकी पुष्टि और निरोगता भी उसीसे होती हो । ऐसा संशय करना अज्ञानताका ही सूचक है । वास्तवमें विचार किया जाय तो हिंसा करनेवाला कभी ज्ञानवान एवं विवेकी नहीं बन सकता है, कारण कि जो क्षमा-शील आत्माको मलिन तथा क्रूर बना चुका है वह थोडेमे ज्ञानके क्षयोपशमको भी नष्ट कर देता है । विना सात्विकभावोंके विशेषज्ञानकी वृद्धि नहीं हो सकती । जिनकी मांसादिक पदार्थोंके भक्षणमें प्रवृत्ति है फिर भी जो विशेष बुद्धिमान देखे जाते हैं सो वह बुद्धिमत्ता आत्माको सुखी बनानेवाली नहीं है, वैसे ज्ञानसे सिवा अनर्थकारी प्रयोगोंके कभी उत्तम बात नहीं सूझ सकती इसलिये उस ज्ञानको कुमति-ज्ञानका विकाश कहा जाता है । और अपना तथा परका कल्याण सुमतिके बिना हो नहीं सकता इस लिये वैसे ज्ञानसे सात्विकपरिणामी मंदज्ञानी उत्तम है । और न हिंसा करनेवाला पुष्टशरीरी और निरोगी ही रह सकता है । जो पुष्टता उत्तम उत्तम फलोंके सेवनसे घी दूध बादाम आदि उत्तम उत्तम पदार्थोंके सेवनसे आती है वह मांसादि विकारी पदार्थोंके सेवनसे कभी नहीं आ सकती । ऊपरसे

शरीर भले ही स्थूल हो जाये परंतु मांसादि अभक्ष्य भक्षण करनेवालोंके शरीरमें अनेक विकार और मलोंका संचय होता रहता है, उससे उन्हें दमा श्वास रुधिरविकार आदि बीमारियोंका घर बनना पडता है। इसलिये अहिंसा पालन करनेवालोंको पापमें लिप्त जीवोंकी अवस्थाओंको देखकर थोडा भी स्वधर्मसे विचलित एवं संशयालु नहीं होना चाहिये किंतु दृढ रहकर उत्तरोत्तर उस अहिंसात्मक पवित्र धर्मकी वृद्धि कर आत्म उन्नतिके साथ साथ पर रक्षणव्रतकी पूर्णता तक पहुंचना चाहिये।

धर्मार्थ हिंसा भी पाप है।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(भगवद्धर्मः सूक्ष्मः) ईश्वरका बताया हुआ धर्म सूक्ष्म है (धर्मार्थं हिंसने) धर्मके लिये हिंसा करनेमें (न दोषः अस्ति) दोष नहीं है (इति) इसप्रकार (धर्ममुग्धहृदयैः) धर्ममें मूढ बुद्धि रखनेवाले हृदयसहित (भूत्वा) बनकर (जातु) कभी (शरीरिणः) प्राणी (न हिंस्याः) नहीं मारने चाहिये।

विशेषार्थ—संसारमें अनेक अज्ञानी मनुष्य पापमें ही धर्म मान बैठे हैं। ऐसे लोगोंको मार्ग बतानेवाले उनके शास्त्र बतलाते हैं कि ईश्वरने जो धर्मका व्याख्यान किया है वह अत्यंत सूक्ष्म है इसलिये धर्मके लिये जो जीवोंकी हिंसा होती है उसमें कोई दोष नहीं है। हिंसामें दोष क्यों नहीं है इसका उत्तर वे लोग कुछ नहीं दे सकते। केवल इतना ही कहते हैं कि धर्मका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे कुछ नहीं जाना जा सकता कि हिंसामें धर्म क्यों है? इसप्रकार वे धर्मसेवनमें मूढ बनकर अनेक जीवोंका अपने ईश्वरके नामपर बध करते हैं। यज्ञोंमें संज्ञी पंचेंद्रिय पशुओंको बुरी तरह होम देते हैं, देवताओंके नामपर पशु-

ओंकी बलियां चढ़ाते हैं, अनेक मार्गोंसे तीव्र हिंसा करते हैं, फिर भी दुष्ट धर्म कहकर उस जीवसंहारसे पुण्य समझते हैं। परंतु उनकी ऐसी समझ अत्यंत विपरीत और खोटी है जीवोंकी हिंसा करनेमें कभी धर्म नहीं हो सकता। जिस जीवको धर्मके नामसे मारा जाता है उसको कितना तीव्र दुःख होता है यह बात किसीसे छिपी नहीं है, तो क्या किसी जीवको मरणवेदनाका कष्ट पहुंचाना भी कभी पुण्यबंधका कारण हो सकता है, वह तो नितांत अधर्म है, जीवोंका घात करनेवाला कषायी है, वह नरकगामी है। यह बात भी कुबुद्धिधारक पुरुषोंने मिथ्या ही मान रक्खी है कि-धर्म सूक्ष्म है, उसका पता नहीं लग सकता। जिस धर्मकी परीक्षा प्रमाण और युक्ति द्वारा सिद्ध न हो उसे बुद्धिमान पुरुषोंको कदापि नहीं स्वीकार करना चाहिये। जो धर्म स्वानुभव, युक्ति, आगम इनसे दूर हो तो उस धर्मको किसप्रकार धर्म कहा जा सकता है? इसलिये विद्वानोंको उचित है कि धर्मका स्वरूप समझकर ही उसे धारण करें। धर्म अहिंसामय है, दयामय है। हिंसा और अदयाभाव उससे सर्वथा विपरीत-अधर्म है। इसलिये यज्ञादिकोंमें धर्म समझकर जो लोग पशुओंका प्राणवध करते हैं, वे साक्षात् अधर्मी हैं, पापी हैं, निर्दयी हैं। इसप्रकार समझकर धर्मके विषयमें मूढबुद्धि बनना महा मूर्खता है, ऐसी मूर्खता धारणकर पशुओंकी हिंसा करना कभी भी किसीको उचित नहीं है।

और भी।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वं।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥ ८०॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (धर्मः) धर्म (देवताभ्यः) देवताओंसे (प्रभवति) पैदा होता है इसलिये

(ताभ्यः) उनके लिये (इह) इस लोकमें (सर्वं) सब कुछ (प्रदेयं) दे देना चाहिये (इति) इसप्रकार (दुर्विवेककलितां) अविवेकपूर्ण (धिषणां) कुबुद्धिको (प्राप्य) पाकरके (देहिनः) प्राणी (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिये।

विशेषार्थ—धर्मके प्रणेता देवता हैं इसलिये उनके लिये मांसादि देनेमें भी कोई दोष नहीं है, ऐसी खोटी बुद्धि धारण करके प्राणियोंका वध करना उचित नहीं है। लोकमें किसी अतिथिके लिये भी मांस सरीखा महा निकृष्ट एवं घृणित पदार्थ भेट नहीं किया जाता। किसी राजामहाराजाकी भेटमें भी कोई ऐसी बुरी वस्तु नहीं देता तो क्या देवताओंकी भेटमें ऐसी अपवित्र अत एव अस्पृश्य वस्तु देनी चाहिये, कभी नहीं। जो लोग धर्मके नामपर देवताओंके बहानेसे पशुवध करते हैं वे महा मूर्ख हैं।

अतिथिके लिये भी प्राणिघात करना पाप है।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोपि दोषेस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनं ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(पूज्यनिमित्तं) पूज्य पुरुषोंके निमित्त (छागादीनां) बकरा आदिके (घाते) मारनेमें (न कोपि दोषः अस्ति) कोई दोष नहीं है (इति) इसप्रकार (संप्रधार्य) निश्चय करके (अतिथये) अतिथिके लिये (सत्त्वसंज्ञपनं) प्राणियोंकी हिंसा (न कार्यं) नहीं करना चाहिये।

१—'उत्तररामचरित' सनातनधर्मावलंबियोंका काव्यग्रन्थ है, उसके प्रणेता उन्हींके महान् कवि भवभूति हुये हैं। उन्होंने रामचरितमें प्रगट किया है कि 'एक ऋषि जिनके यहां अतिथि हुए थे उसने उनके सत्कारार्थ [illegible] की हिंसा की और आगंतुक ऋषिने मांसाहार किया'। इसप्रकार पशुहिंसा और मांसभक्षणकी आज्ञा देनेवाले तथा ऐसी नीच राक्षसी प्रवृत्ति करनेवाले ऋषि नामधारियोंके विषयमें विशेष लिखना व्यर्थ है।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंने यह भी धर्म समझ लिया है कि यदि घरमें कोई अतिथि अथवा शिष्ट-पुरुष आवे तो उसके लिये पशुवध करनेमें कोई दोष नहीं है। परंतु यह बात उन्हीं लोगोंकी मानी हुई है जो कि हिंसामें धर्म माने हुए हैं और स्वयं मांसाहारी हैं। मांसाहारियोंके अतिथि भी मांसाहारी ही प्रायः होते हैं अन्यथा अतिथिके लिये पशुवध करके मांस तयार करना फलाहारियोंका काम नहीं है। जिस अतिथिके लिये मांसाहार दिया जायगा वह अतिथि कभी शिष्ट एवं मनुष्यताके व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता; किंतु राक्षसवृत्तिवाला है। इसीलिये ऐसे अतिथि मांसाहारियोंके यहां पहुंचकर अपनी तृष्णाको पूर्ण करते हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो यह सब तीव्र अधर्म है किसी भी बुद्धिमानको ऐसी अधर्ममय प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये।

और भी खोटी समझ।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थं।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—[बहुसत्त्वघातजनितात] बहुतसे प्राणियोंके घात करनेसे तयार होनेवाले [अशनात्] भोजनसे [एकसत्त्वघातोत्थं] एक प्राणीके घातसे उत्पन्न भोजन [वरं] श्रेष्ठ है [इति] इसप्रकार [आकलय्य] विचार करके [महासत्त्वस्य] एक विशाल त्रस प्राणीकी [हिंसनं] हिंसा [जातु] कभी [न कार्यं] नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ—जिन लोगोंका यह मत है कि भोजनमें अनेक स्थावर जीव मर जाते हैं इसलिये उनकी अपेक्षा एक बडे पशुको मारकर खा लेनेमें उतना दोष नहीं है। वे बहुत खोटी समझ रखते हैं, कारण

हिंसा द्रव्यप्राण और भावप्राणोंके नष्ट करनेसे होती है। जिस जीवके जितने ही अधिक प्राण नष्ट किए जांयगे उतनी ही अधिक हिंसा उसके मारनेवालेको लगेगी। स्थावर जीवकी अपेक्षा द्वींद्रिय आदिमें क्रमसे अधिक प्राण होते हैं इसलिये उनके वध करनेमें अनंतगुणित पाप भी बढता जाता है। इसलिये वनस्पतिमें रहनेवाले जीवकी अपेक्षा जबकि द्वींद्रिय शंखमें और त्रींद्रिय चिउटी आदिमें बहुत अधिक हिंसा है तो पंचेंद्रिय संज्ञी पशुके घात करनेमें तो महान् पाप है। दूसरे एकेंद्रिय जीवका अन्न वनस्पति आदिसे भिन्न कोई शरीर नहीं है और न उसके संहनन है अतएव उसके रुधिर मांस हड्डी आदि भी नहीं है। इसलिये अन्न वनस्पतिके भक्षणमें मांसका दोष नहीं लगता है। परंतु त्रस जीवोंके भक्षणमें मांसभक्षण है कारण उनके संहनन होनेसे मांस रुधिर मज्जा हड्डी आदि सभी शरीरपिंड है। शरीरपिंडका भक्षण ही मांसभक्षण है। एकेंद्रियके उस पदार्थसे भिन्न कोई शरीरपिंड नहीं होता। तीसरे—यह हेतु भी अकिंचित्कर—व्यर्थ है कि प्राणवध एकेंद्रियमें भी है और पंचेंद्रियमें भी है इसलिये दोनोंका भक्षण समान है, कारण न तो प्राणिवध दोनोंमें समान है और न रागक्रिया समान है। एकेंद्रियका प्राणिवध अशक्यानुष्ठानवश सुतरां होता है उसके लिये हिंसा करनेके भाव भी नहीं होते; किंतु आरंभमात्रमें एकेंद्रियका विघात है इसलिये वहांपर संकल्पीहिंसा नहीं है परंतु पंचेंद्रियके घातमें संकल्पी हिंसा है वहां एक जीवका जान बूझकर वध किया जाता है इसलिये उसके मारनेमें तीव्र रागक्रिया है वह अनंत पापबंध करनेवाली है। एकेंद्रियका विघात सुतरां होता है इसलिये वहां न संकल्पी हिंसा है और न तीव्रराग ही है। एकेंद्रियका विघात तो स्वयं होता है, किया नहीं जाता है, पंचेंद्रियका विघात प्रयोग एवं विचारपूर्वक किया जाता है। इसीलिये वह संकल्पी हिंसा है। अतएव दोनोंमें प्राणवध भी समान

नहीं है। एकमें रागकी तीव्रता है एकमें उसके लिये रागभाव नहीं है, जैसे कि स्त्री माता भी है और स्त्री अपनी स्त्री भी है। दोनोंमें स्त्रीपन रहनेपर भी पुरुषोंको रागभाव स्त्रीके सेवनमें ही होता है, माताके प्रति उसप्रकारके किसीके परिणाम भी नहीं होते इसलिये ऐसी खोटी बुद्धि नहीं रखना चाहिये कि अनेक जीवोंकी अपेक्षा एक बडे प्राणीका वध कर लिया जाय। ऐसा करनेमें एक बात यह भी है कि जिस एक पशुका वध किया जाता है उसे तो महान् पीडा होती ही है परंतु उसके वधके साथ उसके शरीरमें रहनेवाले और भी अनेक त्रस एवं अनंत एकेंद्रिय जीव निधनको प्राप्त हो जाते हैं और उस कलेवरके भक्षणमें और भी उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव भक्षणमें आ जाते हैं इसलिये यह सिद्धांत सर्वथा मिथ्या है कि एक प्राणीका वध किया जाय।

एकके वधमें अनेकोंकी रक्षाका विचार भी मिथ्या है।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानां ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—[अस्य] इस [एकस्य एव] एक ही हिंसक जीवके [जीवहरणेन] प्राण नष्ट करनेसे [बहूनां] बहुत जीवोंकी [रक्षा भवति] रक्षा होती है। [इति] इसप्रकार [मत्वा] मान करके [हिंस्रसत्त्वानां] हिंसा करनेवाले प्राणियोंकी [हिंसनं न कर्तव्यं] हिंसा नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—मोटी समझ एवं कुबुद्धि रखनेवाले कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि संसारमें जितने हिंसा करनेवाले जीव हैं उन्हें मारदेना चाहिये जिससे जगत्में हिंसा न हो। जैसे बिल्ली चूहोंकी हिंसा करती है तो एक बिल्लीके मार देनेसे बहुतसे चूहोंकी रक्षा होजायगी। सिंह, हिरण आदि पशुओंकी

हिंसा करता है इसलिये एक सिंहके मारडालनेसे अनेक जंगलके पशुओंकी रक्षा हो जायगी इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं। इसप्रकार कहनेवालोंको सोचना चाहिये कि तुम जीवोंकी रक्षा करना ही यदि लक्ष्य रखते हो तो फिर स्वयं हिंसक क्यों बनते हो? संसारमें एक दूसरेके भक्षक अनेक हैं, तुम किस किसको मारते फिरोगे? बिल्ली, कुत्ता, चिड़िया, बगुला, भेडिया, सिंह, चीता, मयूर, नकुल आदि बहुतसे एक दूसरेके विरोधी और भक्षक ही हैं। ये ज्ञानहीन पशुपक्षी हैं, अपने स्वभावानुसार पापबंध करते ही रहते हैं। उन्होंने ऐसी ही नीचपर्याय पायी है जिसमें कि जीवभक्षण अनिवार ही है। फिर विवेकशील, ज्ञानी एवं सदाचारी मनुष्य पर्याय पाकर तुम क्या रक्षाके बहानेसे अनेक जीवोंका वध करके स्वयं हिंसक बनते हो? तीसरे—कहांतक तुम इसप्रकार रक्षा करसकते हो? एक बिल्लीको मार-दोगे, दोको मारदोगे फिर भी बिल्लियोंका अस्तित्व नहीं जा सकता। इसीप्रकार अन्यान्य पशुपक्षियोंकी सर्वत्र अनेक संख्या है। और ऐसा करनेसे तुम अनेकोंकी रक्षा करके एकको मारनेवाले कहां रहे किंतु अनेकोंके मारनेवाले ठहर गये। इसलिये अनेकोंकी रक्षाके लिये एककी हिंसा करनेका महानीच तथा तीव्र पापबंधका कारण दुर्विचार बुद्धिमान पुरुषोंको करना सर्वथा अनुचित एवं त्याज्य है। यह बात आबालगोपाल प्रसिद्ध है कि जो हिंसा करता है, दूसरेको कष्ट पहुंचाता है वही पापका भागीदार होता है। विवेकी पुरुषोंको उचित है कि अपनी शक्तिके अनुसार हरएक जीवकी रक्षाकरें, अपने द्वारा किसी प्राणीको कष्ट नहीं होने देवें और उनके द्वारा जो रक्षा आवश्यक है उसकेलिये वे प्रतिहिंसाके भाव न करें; किंतु वस्तुस्वरूप विचारकर समताभाव धारण करें। संसारमें ऐसा कोई शासन हो ही नहीं सकता है जो समस्त जीवोंके परिणामोंको अहिंसक बना डाले, जिनकी उत्पत्ति स्वभावतः क्रूरपर्यायमें होती है

उनके भावोंको अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। इसी जगत्स्वरूपके विचारसे परमदिगम्बर श्रीमुनि-महाराज त्रस-स्थावरकी हिंसाका सर्वथा त्याग करके उनकी अपने शरीर द्वारा होनेवाली सूक्ष्म हिंसाके बचावकेलिये देख देखकर गमन करते हैं, पीछी कंमडलु शास्त्रजीको देखकर उठाते वा रखते हैं, इसप्रकारसे अपने शरीर द्वारा जीववध नहीं होने देते। वे संसारके जीवोंको उपदेश करते हैं कि हिंसा करना पाप है परंतु उन्हें हिंसा करते हुए देखकर भी सामर्थ्यपूर्वक रोकनेके लिये कभी उद्यत नहीं हो सकते, कारण वे जगत्मे परम उदासीन स्वयं आत्मरसास्वादनमें निमग्न हैं। सामर्थ्यपूर्वक दूसरोंको रोकना तो दूर रहा, वे किसीको उपदेशके सिवा आदेश भी नहीं कर सकते, यह बात उनके परमश्रेणीके वीतराग-मुनिपदके विरुद्ध है। वे इसप्रकार दूसरोंके निमित्तसे कहांतक पररक्षण कर सकते हैं और उनके निमित्तसे अपने परिणमोंको सकषाय एवं साकुल बना सकते हैं? इसलिये वे ऐसे अवसरोंपर उपसर्ग समझकर मौनसे रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे वहींतक पररक्षण करते हैं जहांतक कि उनके आत्मसाधनमें किसीप्रकार न्यूनता नहीं आती। इंद्रिय और कषायमात्रको जीतनेवाले उन मुनियोंकी प्रवृत्ति केवल आत्महितसाधनकी ओर ही प्रमुखतासे झुकी रहती है, वीतराग परणतिमें उनके कभी कोई विकार नहीं आता। ऐसे वीतरागी जीवमात्रके ऊपर दयाभाव धारण करनेवाले श्रीऋषीश्वर ही कर्मबंधन काट कर मोक्ष लक्ष्मीका वरण करते हैं। इसलिये उसी उच्चादर्शके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको वहींतक परोपकार एवं पररक्षण करना उचित है जहांतक कि आत्मस्वरूपका घात न हो। यदि जीवकी रक्षाके निमित्तसे आत्मा परमदयालु स्वभावसे च्युत हो जाय अथवा उसे हिंसामें प्रवृत्त होना पडे तो वह पररक्षण नहीं किंतु स्वात्मध्वंसन है। ऐसा समझकर सन्मार्गसे गमन करना ही बुद्धिमत्ता है।

बहुसत्त्वघातिनोमी जीवंत उपार्जयंति गुरुपापं।
इत्यनुकंपां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥ ८४॥

अन्वयार्थ—(अमी) ये (बहुसत्त्वघातिनः) बहुत जीवोंकी हिंसा करनेवाले हिंसक जीव (जीवंतः) जीते हुए (गुरुपापं) बहुत पापको (उपार्जयंति) इकट्ठा करते हैं (इति) इसप्रकार (अनुकंपां) दयाको (कृत्वा) करके (हिंस्राः) हिंसा करनेवाले (शरीरिणः) शरीरधारी–जीव (न हिंसनीयाः) नहीं मारने चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंका यह भी विचार है कि ये बहुतसे प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले संसारमें जितने दिन अधिक जीते रहेंगे उतना ही अधिक पापबंध करते रहेंगे, इसलिये ये विचारे बडे भारी पापबंधसे बच जावें इसकेलिये उन्हें अभी मार देना अच्छा है। इसप्रकार जीवोंके मारनेमें जो दया समझते हैं वे भारी भूल करते हैं। दया जीवोंकी रक्षामें है, न कि जीवोंकी हिंसामें, जिन जीवोंको मारा जायगा उनके प्राण अवश्य पीडे जांयगे और फिर उसमें दया न पलकर जीवहिंसाजनित पापबंध होगा। दूसरी बात यह भी है कि जिन बहुत प्राणियोंको मारनेवालोंपर दयाभाव धारण करके तुम उन्हें पापसे बचानेके लिये मारते हो सो ऐसा करनेसे बहुत प्राणियोंके मारनेवाले तुम ही दयाके पात्र बन गये क्योंकि संसारमें असंख्य जीव एक दूसरेके हिंसक हैं, सभीपर दया करके सबोंको तुम मारोगे इसलिये बहुत प्राणियोंके मारनेवाले तुम ही दयाके पात्र ठहर गये! इसलिये यह सिद्धांत कि 'हिंसक अनेक जीवोंका बध करते हैं उन्हें मार देना चाहिये' सर्वथा भूलभरा है, कारण यह दयाका स्वरूप ही नहीं है। किसी प्राणीको कष्ट न पहुंचानेके परिणामको ही दया कहते हैं। किसी जीवके मरनेमें महान्

कष्ट होता है इसलिये दयालुके स्थानमें क्रूरपरिणामी हिंसक बनना उचित नहीं है। जिस जीवके जैसे भाव हैं उनके अनुसार वह पुण्य पापका बंध करता है, तुम क्यों व्यर्थ ही खोटी समझसे पापबंधके भागीदार बनते हो?

दुःखी भी नहीं मारने चाहिये।

बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयांति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिं।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोपि हंतव्याः॥ ८५॥

अन्वयार्थ—(तु) और (बहुदुःखाः) बहुत दुःखमें सताये हुए प्राणी (संज्ञपिताः) मारे हुए (अचिरेण) जल्दी (दुःखविच्छित्तिं) दुःख नाशको (प्रयांति) पा जांयगे (इति) इसप्रकार (वासनाकृपाणीं) विचार रूपी तलवारको (आदाय) लेकर (दुःखिनः अपि) दुःखी जीव भी (न हंतव्याः) नहीं मारने चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंकी एसी भी खोटी समझ है कि जिन जीवोंको अधिक दुःख हो रहा है उन्हें अभी मार देना चाहिये जिससे कि वे तुरंत ही दुःखोंसे छूट जांय। जितने दिन संसारमें ये जीते रहेंगे उतने दिन ही दुःखी बने रहेंगे, अभी मार देनेसे तुरंत दुःखोंसे छूट जांयगे। इसप्रकारके विपरीत विचार रखनेवाले वस्तुस्वरूप एवं कर्मसिद्धांतसे सर्वथा अपरिचित हैं। उन्हें इस बातका तनिक भी पता नहीं है कि दुःख उन्हें क्यों हो रहा है और वह कब छूट सकता है? वास्तवमें वे विचार करेंगे तो उन्हें यह बात स्वीकार करनी पडेगी कि दुःख जीवोंको उनके ही दुष्कर्मका फल है। जिन जिन जीवोंने जैसे जैसे खोटे कर्म किये हैं उन्हींके अनुसार उनके अशुभ कर्मोंका बंध हुआ है, वे ही कर्म उदयमें आकर उन्हें दुःख पहुंचाते हैं। जबतक वे कर्म उदयमें आते रहेंगे तबतक जीवको दुःख पहुंचाते रहेंगे, चाहे जीव

वर्तमान पर्यायमें हो, चाहे मरकर दूसरी पर्यायमें चला जाय, कहीं भी क्यों न हो, कर्मोंका फल उसे भोगना ही पडेगा। ऐसी अवस्थामें उन्हें दुःखसे छुडानेके लिये उनको मार डालनेकी बात व्यर्थ है। प्रत्युतः उसे मारनेसे उसके और भी परिणाम पीडे जांयगे इसलिये और भी वह पापबंध करेगा। इसके सिवा मारनेवाला महान् पापका बंध करके स्वयं दुःखभाजन बनेगा। इसलिये उपर्युक्त खोटी समझको छोड देना चाहिये। कर्मोंके ऊपर किसीका शासन नहीं चल सकता। बडे बडे चक्रवर्ती, इंद्र तथा तीर्थंकर सरीखे महाशक्तिधारी एवं महापुण्याधिकारी पुरुषोंको भी कर्मोंने फलकाल तक नहीं छोडा है फिर किसीको दुःखसे छुडानेके विचारसे स्वयं दुःख पहुंचानेवाला बन जाय यह महामूर्खता किसीको नहीं करना चाहिये।

सुखी भी नहीं मारने चाहिये।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवंति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमंडलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—[सुखावाप्तिः] सुखकी प्राप्ति [कृच्छ्रेण 'भवति'] बडी कठिनतासे होती है, इसलिये [सुखिनः] सुखी जीव [हताः] मारे हुए [सुखिन एव] सुखी ही [भवंति] होते हैं [इति] इसप्रकार [तर्कमंडलाग्रः] विचाररूपी तलवार [सुखिनां घाताय] सुखी पुरुषोंके घातके लिये [न आदेयः] नहीं पकडना चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंकी ऐसी भी कुबुद्धि है कि संसारमें सुख जीवोंको बडी कठिनतासे मिलता है इसलिए सुखी जीवोंको सुखसहित अवस्थामें ही मार डालना चाहिये; जिससे कि वे मरकर दूसरी पर्यायमें भी सुखी बने रहेंगे। ऐसी मिथ्या एवं युक्तिशून्य समझ रखनेवालोंको समझ लेना चाहिये कि

सुख दुःखका मिलना शुभ अशुभ कर्मोंके अधीन है वह जीने या मरनेमें नहीं धरा है । जहां कहीं भी जीव रहे, कर्माधीन उसे दुःख सुख मिलेगा । यह बात मिथ्या है कि मरकर सुखी जीव सुखमें ही रहेगा, संभव है कि इस पर्यायमें उसे सुख रहा है, मरकर वह नरक या तिर्यंचगतिमें चला जाय फिर बिचारा महान् कष्टको भोगेगा । दूसरे—सबसे बडा कष्ट तो मरनेमें ही है, जब कि वह बिना आयु पूर्ण हुए मध्यमें हठात् मारा जा रहा है तो यह ही उसके लिये वज्र समान कष्ट है । इसलिए इसप्रकारकी कुबुद्धि धारण कर मनुष्योंको दयाके स्थानमें जीवघात कर हिंसाजनित पापके भागी नहीं बनना चाहिये ।

स्वगुरुका शिरच्छेद करना भी पाप है ।

उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—[भूयसः] बहुतसे [अभ्यासात्] अभ्याससे [उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य] सुगतिका कारणभूत समाधिके सारतत्त्वको प्राप्त करनेवाले [स्वगुरोः] अपने गुरुका [शिरः] शिर [सुधर्मं अभिलषिता] श्रेष्ठ धर्मके चाहनेवाले [शिष्येण] शिष्यके द्वारा [न कर्तनीयं] नहीं काटना चाहिये ।

विशेषार्थ—यह भी महामूर्खता है कि गुरुका भला हो इस बुद्धिसे समाधि—ध्यानमें बैठे हुए गुरुका शिर काट देना । समाधिमें बैठा हुआ यदि मार दिया जायगा तो वह इस शुभ कार्यसे अवश्य ही सुगतिको चला जायगा, ऐसी बुद्धि रखकर गुरुके लिये कृतज्ञता प्रगट करनेवाला एवं उसकी भलाई चाहनेवाला शिष्य यदि गुरुका प्राणहरण करता है तो उसकी बराबर कोई अज्ञानी नहीं है । ध्यानके द्वारा

१—छपी हुई प्रतियोंमें 'उपलब्धि' पाठ है, हमारी समझमें उपलब्ध ठीक प्रतीत होता है ।—टीकाकार.

शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध करनेवाले गुरुको प्राणदंड देकर उसके परिणामोंको कलुषित बनाकर विना कारण उसे पापबंध कराता है और स्वयं भी गुरुकी गुरुतम (बडीभारी) हिंसा करके पापबंध करता है। सच तो यह है कि विना विवेकके मनुष्य उसीप्रकार उपकारके बदले अपकार कर डालता है जिसप्रकार कि सोते हुए राजाकी रक्षामें नियुक्त मूर्ख पुरुष राजाकी नाकपर बैठी हुई मक्खीको उडता न देखकर राजाकी भलाईके लिये तलवारसे उसकी नाक काट डालता है। इसीप्रकार अनेक जीव संसारमें अपनी अज्ञानतासे पुण्यके बदले पाप कमा रहे हैं, कुमार्गको सुमार्ग समझ रहे हैं।

खारपटिकोंका मत।

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानां ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—[धनलवपिपासितानां] धनके प्यासे [विनेयविश्वासनाय] शिष्योंको विश्वास दिलानेके लिये [झटिति घटचटकमोक्षं] शीघ्र ही घटके फूटनेमे उडनेवाली चिडियाके समान मोक्षको [दर्शयतां] दिखानेवाले [खारपटिकानां] धूर्त—ढोंगी—गेरुआ आदि वस्त्र पहनकर झूठा भेष धारण करनेवाले पुरुषोंका मत [नैव श्रद्धेयं] नहीं मानना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसप्रकार घडेमें बैठी हुई चिडिया घडेके फोड देनेसे तत्काल उड जाती है उसीप्रकार जीवको मार देनेसे तुरंत ही उसकी मोक्ष हो जाती है। इसप्रकार झूंठी झूंठी बातें कहकर अपने अनुयायियोंको झूठा विश्वास दिलानेवाले बनावटी भेष धारण कर संसारको ठगते फिरते हैं। ऐसे लोग पहले बनारस आदि वैष्णवोंके तीर्थोंमें अधिक पाये जाते थे। जहां कोई तीर्थभक्त वहां पहुंचा, झट

उन्होंने अपने चुंगलमें उसे फंसाया। वे उसे "काश्यां मरणान्मुक्तिः" काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है, यह सिद्धांत समझाकर करौंत (आरे)के नीचे उसका शिर रख देते थे, सब धन उसका लेकर उसे खुशी खुशी परलोक पहुंचा देते थे। ऐसे परलोक पहुंचानेवाले अनेक स्थान आजकल बंद करा दिये गये हैं। अब ऐसी पृथा खुलेरूपमें कहीं देखनेमें नहीं पाई जाती। ऐसे धूर्तलोग केवल धनके लोभसे मनुष्योंके मारनेमें कुछ भी संकोच नहीं करते थे और इन लोगोंके विश्वासमें आया हुआ भक्त मनुष्य भी खुशीसे प्राण-देनेमें जीवनका महत्त्व समझता था। समझदार पुरुषोंको ऐसे हिंसामय मायाचार पूर्ण अधर्मसे बचना चाहिये।

भूखेको भी मांसदान देना पाप है।

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायांतं।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥ ८९॥

अन्वयार्थ—(च) और (अशनाय) भोजनके लिये (पुरस्तात्) सामने (आयांतं) आते हुए (परं) किसी (क्षामकुक्षिं) भूखे जीवको (दृष्ट्वा) देखकर (निजमांसदानरभसात्) अपना मांस देकर (आत्मा अपि) अपनी भी (न आलभनीयः) हिंसा नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ—कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि जो मांसभक्षी जीव हैं उनको भूखा देखकर अपना मांसतक दे देना चाहिये इसीके निषेधार्थ आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि कोई भूखा सामने आकर अपने खानेके लिये मांसकी याचना करे तो उसे अपने शरीरका मांस देकर अपने आत्माको नहीं ठगना चाहिये कारण दयाका लक्षण वही है जिसमें निज परके परिणामोंकी रक्षा हो। वह भूखा भी दयापात्र नहीं कहा जा सकता जो अनंतजीवोंका पिंडस्वरूप मांस जैसी घृणितवस्तु खानेके लिये तय्यार है,

और न वह दयालु ही कहा जा सकता है जो कि निज शरीरका मांस देकर अपने परिणामोंको कलुषित बनाता है और दूसरेके आत्माको पापमय प्रवृत्तिमें लगाता है इसलिये इसप्रकार किसी भूखेको भी मांसादि अभक्ष्यपदार्थ कभी नहीं देना चाहिये। और न किसीप्रकार धर्मके निमित्त आत्मघातमें प्रवृत्त होना चाहिये, आत्मघातके बराबर कोई दूसरा पाप नहीं है।

जिनमतसेवी कभी हिंसा नहीं करते।

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(नयभंगविशारदान्) वस्तु धर्मोंकी अपेक्षाको अच्छीतरह जाननेवाले (गुरून्) जैनगुरुओंकी (उपास्य) उपासना–पूजा करके (विदितजिनमतरहस्यः) जिनमतके रहस्यको समझनेवाला अतएव (विशुद्धमतिः) निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाला (अहिंसां श्रयन्) अहिंसातत्त्वपर आरूढ रहनेवाला (को नाम) कौन पुरुष (मोहं विशति) मोहको प्राप्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं होता।

विशेषार्थ—जिसने जैन गुरुओंके पास रहकर अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्रोंद्वारा जिनमतको अच्छी तरह समझ लिया है वह नियमसे निर्मल बुद्धिवाला बन जाता है और अहिंसातत्त्वपर अच्छीतरह आरूढ हो जाता है। वह पुरुष ऊपर बताये हुए हिंसामय कुतर्कोंमें कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता। हिंसामें धर्म अथवा दया बतानेवाले पुरुषोंका प्रभाव उस अहिंसातत्त्वसेवीकी आत्मापर तनिक भी नहीं पड सकता।

(इसप्रकार ४८ श्लोकोंमें अहिंसातत्त्वनिरूपण समाप्त हुआ।)

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः संति चत्वारः॥ ९१॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (किं अपि) कुछ भी (प्रमादयोगात्) प्रमादके योगसे (इदं) यह (असत् अभिधानं) असत्य कथन (विधीयते) कहा जाता है (तत्) वह (अनृतं) असत्य (विज्ञेयं) जानना चाहिये (तद्भेदाः अपि) उस असत्यके भेद भी (चत्वारः) चार (संति) हैं।

विशेषार्थ—जो वचन प्रमादपूर्वक अर्थात् सकषायभावोंसे कुछका कुछ कहा जाता है वही झूंठके नामसे प्रसिद्ध है। इस श्लोकमें दिये गये 'प्रमादयोगात्' पदसे यह बात सिद्ध होती है कि केवल कुछका कुछ कहना झूठमें सामिल नहीं है किंतु सकषायपरिणामोंसे अन्यथा कहना झूठमें सामिल है। जहां-पर परिणामोंमें किसी प्रकारका सकषायभाव अथवा अन्य विकारभाव नहीं है वहां यदि कोई बात अन्यथा भी कही जाय तो झूठ नहीं समझा जाता। परंतु जहां सदभिप्राय नहीं है वहां यदि अन्यथा बोला जाता है तो वह झूठ है। सिद्धांतकारोंने झूठका लक्षण यह भी कहा है कि जो वाक्य दूसरे जीवोंको पीडा देनेवाला हो वह सब झूठ है। इसलक्षणसे जो बात सत्य भी हो और उससे दूसरे जीवोंको कष्ट पहुंचता हो एवं कष्ट पहुंचानेका लक्ष्य रखकर ही प्रयोग करनेवालेने उसका प्रयोग किया हो तो वह सत्यबात् भी झूठमें सामिल है। इसीप्रकारसे जो बात झूठ भी है परंतु विना किसी छलके दूसरोंके हितका ध्यान रखकर सदभिप्रायसे कही गई है तो वह भी सत्यमें सामिल है। इसीबातको असत्यवचनके चार भेदोंसे प्रगट किया गया है।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(स्वक्षेत्रकालभावैः) अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे (सदपि) विद्यमान भी (वस्तु) वस्तु (यस्मिन्) जिस वचनमें (निषिद्ध्यते) निषिद्ध की जाती है (तत) वह (प्रथमं) पहला (असत्य) असत्य है। (यथा) जैसे (अत्र) यहांपर (देवदत्तः नास्ति) देवदत्त नहीं है।

विशेषार्थ—जगत्में समस्त पदार्थ अपने स्वरूपमें सत्ता रखते हैं, परस्वरूपकी अपेक्षासे कोई पदार्थ अपनी सत्ता नहीं रखता। यह एक मानी हुई बात है कि जिसका जो स्वरूप होगा उसी स्वरूपसे वह होगा, परस्वरूपसे पर होगा। इसीका नाम स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव है। प्रत्येक वस्तुका द्रव्य क्षेत्र काल भाव जुदा जुदा है। यदि एक हो तो सब वस्तुओंमें कोई भेद न रहे, वे सब एक हो जांय।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव क्या पदार्थ है ? इसका संक्षिप्त खुलासा इसप्रकार है। जिन प्रदेश अथवा परमाणुओंका पिंड वह वस्तु है वे प्रदेश अथवा परमाणुपिंड ही उस वस्तुका द्रव्य है। खंडकल्पनाकी अपेक्षा जितने आकाशप्रदेशोंको वस्तुके प्रदेशोंने घेर लिया है वे वस्तुप्रदेश ही वस्तुके निजक्षेत्र हैं। उन वस्तुप्रदेशोंमें होनेवाला कालकृत प्रतिक्षण परिणमन है वही उस वस्तुका काल है। और उस वस्तुमें रहनेवाले जो गुण–धर्म हैं वे ही उस वस्तुके भाव हैं। इन चारोंपर विचार करनेसे इस बातका स्पष्टीकरण हो जाता है कि वस्तुका जो कुछ स्व-स्वरूप है वह उसीका गुण, पर्याय और प्रदेशपिंड है, उससे भिन्न वस्तुका स्व-स्वरूप कुछ नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तु निजधर्म और निजप्रदेशपिंडसे सत्ता रखती

है। इस श्लोकमें 'स्व' पदसे द्रव्यका ग्रहण किया गया है। जो वस्तु अपने स्वरूपसे उपस्थित भी है फिर किसीके पूछनेपर कह देना कि वह नहीं है तो यह झूठ वचन है। जैसे देवदत्त घरमें मौजूद है परंतु किसीने बाहरसे पूछा कि देवदत्त है? उत्तरमें घरसे कोई जवाब दे देवे कि वह यहांपर नहीं है तो यह असत्य वचन है। इसमें उपस्थित वस्तुका अपलाप किया गया है।

दूसरे प्रकारका असत्य।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—[यत्र] जिस वचनमें [असत् अपि वस्तुरूपं] अविद्यमान भी वस्तुस्वरूप [तैः परक्षेत्रकालभावैः] उन भिन्नक्षेत्र भिन्नकाल भिन्नभावोंद्वारा [उद्भाव्यते] कहा जाता है [तत् द्वितीयं अनृतं] वह दूसरे प्रकारका झूठ है [यथा अस्मिन् घटः अस्ति] जिसप्रकार इस जगह घट है।

विशेषार्थ—जहांपर जो वस्तु नहीं है वहांपर उसे बतलाना यह दूसरा असत्यका भेद है। जिस जगह घडा नहीं रक्खा है किसीके यह पूछनेपर कि इस जगह घडा है या नहीं? यह उत्तर देना कि इस जगह घडा रक्खा है। यह दूसरे प्रकारका झूठ है।

तीसरे प्रकारका झूठ।

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—[यस्मिन्] जिस वचनमें [स्वरूपात् वस्तु सत् अपि] अपने स्वरूपसे वस्तु उपस्थित है

तो भी [पररूपेण अभिधीयते] परस्वरूपसे कहा जाता है [इदं तृतीय अनृतं विज्ञेयं] यह झूठका तीसरा भेद समझना चाहिये [यथा गौ अश्वः इति] जिसप्रकार गौको घोडा कह देना ।

विशेषार्थ—प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमें ही अपनी सत्ता रखती है, परस्वरूपसे वह अपनी सत्ता नहीं रखती, फिर भी किसी वस्तुको परस्वरूपसे कहना यह भी झूठ है । जैसे घरमें गौ बैठी हुई है, किसीके पूछनेपर उत्तरमें कहना कि हमारे घरमें घोडा बैठा हुआ है। इस वचनमें वस्तुका सद्भाव तो स्वीकार किया गया है परन्तु अन्यका अन्यरूप कहा गया है। गौ सदा अपने गौत्वस्वरूपसे ही कही जा सकती है क्योंकि गोत्व ही उसका निजरूप है, वह घोडारूपसे नहीं कही जा सकती। क्योंकि घोडा अपने घोटकत्वधर्मसे कहा जाता है अर्थात् जो सवारी ले जानेवाला, युद्धमें काम आनेवाला, सींगरहित गदहा आदि पशुओंसे भिन्न घोडा संज्ञावाला प्रसिद्ध पशु है, वही घोडा कहा जाता है। लोकमें गौ भी प्रसिद्ध है, गौको गौ कहना घोडेको घोडा कहना यह सत्य वचन है । इस कथनमें वस्तुस्वरूप ज्योंका त्यों कहा गया है परन्तु गौको घोडा बतलाना अथवा घोडेको गौ बतलाना यह असत्य वचन है। जो जिसका स्वरूप नहीं है वह परस्वरूपसे इस वचनमें कहा गया है। यह तीसरे प्रकारका झूठका भेद है।

चौथे प्रकारका असत्य ।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—[यत् वचनरूपं] जो वचनस्वरूप [गर्हितं] निंदनीय [अवद्यसंयुतं] दोषसहित [अपि अप्रियं] और अप्रिय-कठोर [भवति] होता है [इति] इसप्रकार [इदं] यह [तुरीयं] चौथा [अनृतं] झूठ [सामान्येन] सामान्यरीतिसे [त्रेधा] तीन प्रकार (मतं) माना गया है ।

विशेषार्थ—जो वचन निंदनीय शब्दोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठमें सामिल है। जो वचन दोष सहित वचनोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठ वचन है। जो वचन कठोर शब्दोंद्वारा बोला जाता है वह भी झूठमें सामिल है। कारण निंदनीय दुष्ट और कठोर वचनोंसे दूसरे पुरुषोंकी आत्मामें दुःख होता है और अपनी आत्मामें भी उनसे क्षोभ पैदा होता है; इसलिये जिन वचनोंसे अपनी और दूसरोंकी आत्माओंको कष्ट पहुंचता हो वे वचन सब झूठमें सामिल किए जाते हैं। यहांपर यह शंका की जा सकती है कि अनेक कठोर वचन ऐसे भी बोले जाते हैं जो सत्यरूप हैं, वे झूठमें कैसे सामिल किए जा सकते हैं? उत्तरमें यह कहना पर्याप्त है कि चाहे सत्य भी हैं परंतु उन वचनोंसे अपने और परके आत्मामें पीडा तो होती है, पीडाका होना ही भावोंका वध है, इसलिये कठोरवचन सत्य होनेपर भी झूठमें सामिल हैं। परंतु इतनी बात यहांपर ध्यानमें रखनेकी है कि जैन सिद्धांतकारोंने सर्वत्र प्रमादसहित वचनोंको ही झूठमें सामिल किया है जिन वचनोंमें प्रमादयोग नहीं है वे झूठमें सामिल नहीं किये जा सकते। जैसे गुरु पढाते समय शिष्यपर पाठ ठीक करनेकलिये मंदबुद्धिसे कठोर वचन कहता है अथवा कोई मुनिमहाराज किसी अव्रतीसे पाप छुडानेके उद्देश्यसे कठोरवचनोंमें पापोंकी समालोचना करते हों तो वह सब कथन झूठमें सामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि गुरु अथवा मुनिमहाराजके वचनोंमें प्रमादयोग नहीं है। सकषाय परिणामोंसे उन्होंने वे वचन नहीं कहे हैं किंतु उन जीवोंको सन्मार्गपर लानेके लिये ही कहे हैं। इसलिये जिस कठोर वचनमें प्रमादयोग हो वह सत्यवचन भी असत्यमें सामिल है और जहां प्रमादयोग नहीं है वह कठोर वचन भी असत्य नहीं कहा जा सकता। अब निंदनीय अवद्यसहित और कठोरवचन कौन कहलाते हैं इसीबातका नीचे लिखे श्लोकों द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता है।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितं ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—[पैशून्यहासगर्भं] पिशुनपना अर्थात् चुगलखोरी दूसरोंकी झूठी सांची बुराई करना हंसी सहित वचन बोलना [कर्कशं] क्रोधपूर्ण दूसरेके तिरस्कार करनेवाले वचन बोलना [असमंजसं] कुछका कुछ असंबद्ध बोलना [प्रलपितं च] जिन वचनोंका कोई उपयुक्त अर्थ नहीं है ऐसे निरर्थक एवं निःस्सार वचनोंका बोलना [अन्यत् अपि यत् उत्सूत्रं] और भी जो वचन भगवत् आज्ञासे विरुद्ध—जिनागमकथित सूत्रोंके आज्ञायोंसे विरुद्ध हैं [तत्सर्वं] वह सब वचन [गर्हितं] निंद्य [गदितं] कहा गया है।

विशेषार्थ—जो लोग दूसरोंकी झूठी सांची बुराई किया करते हैं वे सब झूठ बोलनेवाले हैं, कारण झूठी बुराईसे तो दूसरेके परिणामोंमें दुःख पहुंचानेसे उसकी भावहिंसा होती है। परंतु सांची बुराई करनेसे भी जिसकी बुराई की जाती है उसके परिणाम दुःखी होते हैं, उससे उसके अशुभास्रव होता है, उससे पुनः दुःख होता है। इसीप्रकार बुराई करनेवालेके अशुभास्रव होता है। इसलिये ऐसे बुराईयुक्त वचन असत्यमें सामिल हैं। कभी किसी व्यक्तिकी बुराई नहीं करना चाहिये. जहांपर किसी दोषी पुरुषसे दोष छुडानेके परिणाम होते हैं वहां उसकी बुराई करनेके भाव भी नहीं होते किंतु उसे ही एकान्तमें समझाया जाता है। हास्यसहित वचन वहीं बोला जाता है जहांपर किसी पुरुषको चिडाना हो या उसकी झूठी बातें प्रकाशमें लाकर उसे नीचा दिखाना हो, ऐसे ही वचन हास्यमिश्रित समझे जाते हैं, इन वचनोंसे भी परात्माका पीडन होनेसे वे असत्य कहे गये हैं। जो लोग दूसरोंको धिक्कार देनेवाले उद्धततापूर्ण

क्रोधके आवेगमें आकर अतिभयंकर कठोर वचन बोलते हैं उनके वे वचन भी दुखोत्पादक होनेसे असत्य हैं । जो कुछका कुछ असभ्य एवं असंबद्ध वचन बोलता है वह भी झूठ बोलता है । अन्यथा होनेसे एवं भ्रमोत्पादक होनेसे झूठ है। जो वचन अर्थशून्य है वह प्रलपित कहलाता है ऐसा वचन भी झूठ है, कारण जिसका कोई अर्थ न हो वह भी हरप्रकारसे भ्रमोत्पादक है। और भी जो कुछ सिद्धांत-कथनसे विपरीत बोला जाता है, वह सब गर्हितवचन है, निंदनीय है अतएव त्याज्य है।

सावद्य वचन ।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तंते ॥ ९७॥

अन्वयार्थ—[छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] छेदना, भेदना, मारण, खेती, वाणिज्य और चोरी आदिका जो वचन है [तत् सावद्यं] वह दोष सहित वचन है [यस्मात्] क्योंकि [प्राणिवधाद्याः] इन वचनोंसे प्राणियोंका वध आदि हिंसाके कार्य [प्रवर्तंते] होते हैं।

विशेषार्थ—इसके कान पूंछ नाक जीभ आदि छेद डालो, इसकी अंगुली गर्दन आदि काट डालो, इसे मारो, खेती करो अर्थात् इस जमीनको खोद डालो आदि, पशुओंका लेन देन आदि वाणिज्य करो, दूसरेका धन किसी मार्गसे उठा लाओ, उसके घरमें छतपरसे घुस जाओ आदि वचनोंका प्रयोग करना सब झूठ है कारण इन वचनोंसे सिवा प्राणिपीडनके और कुछ हितकारिता नहीं है।

अप्रिय वचन।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयं ॥ ९८॥

अन्वयार्थ—(अरतिकरं) चित्तमें आकुलता पैदा करनेवाला एवं धैर्यको नष्ट करनेवाला विद्वेषोत्पादक (भीतिकरं) भय उत्पन्न करनेवाला (खेदकरं) चित्तमें खेद—पश्चात्ताप उत्पन्न करनेवाला (वैरशोककलहकरं) शत्रुता उत्पन्न करनेवाला, शोक उत्पन्न करनेवाला, लडाई झगडा उत्पन्न करनेवाला (यद् अपरं अपि) और जो भी (परस्य) दूसरेको (तापकरं) संताप—कष्ट देनेवाला वचन है (तत् सर्वं) वह समस्त (अप्रियं) अप्रिय—असुहावना—श्रवणकटु वचन (ज्ञेयं) समझना चाहिये।

विशेषार्थ—ऊपर कहे हुए सभी अप्रियवचन हैं ऐसे वचनोंका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये जो सुनते ही दूसरोंके परिणामोंमें क्षोभ पैदा करनेवाले हों। अनेक अज्ञानी जीव ऐसे ही वचनों द्वारा अपने और दूसरोंके आत्माओंमें निरन्तर अशुभ कर्मबंध करने कराते रहते हैं।

झूठ वचनमें हिंसा होती है।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि) इस समस्त निरूपणमें ही (यत्) क्योंकि (प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं) एक प्रमादयोग ही जिसमें कारण है ऐसा कथन होता है। (तस्मात्) इसलिये (अनृतवचनेपि) झूठ वचनमें भी (हिंसा नियतं) हिंसा नियमसे (समवसरति वा समवतरति) होती है।

विशेषार्थ—आचार्योंने हिंसाका लक्षण यही कहा है कि जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका घात किया जाता है वहीं हिंसा होती है। लक्षणसे जितने भी कार्य प्रमादयोगसे दूसरेके तथा अपने प्राणोंको घात करनेवाले सिद्ध होते हैं वे सब हिंसामें गर्भित हैं। निंद्य, सदोष और अप्रियवचन भी प्रमादयोगसे ही

बोला जाता है इसलिये वह वचन भी हिंसामें गर्भित है। अर्थात् इन वचनोंसे जीवके प्राण पीडे जाते हैं। जहां सरल परिणाम होते हैं वहां निंद्य सदोष एवं अप्रियवचन नहीं निकलता। अथवा प्रमादयोगके विना यदि वचनोंमें कठोरता भी है तो भी वह वचन अप्रिय कठोर प्रतीत नहीं होता, कषायभावोंसे प्रयुक्त वचन ही झूठ एवं हिंसोत्पादक है।

अप्रमत्तपरिणाममें हिंसा नहीं है

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यं ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ—(सकलवितथवचनानां) समस्त झूठ वचनोंका (प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे) प्रमादयोगको ही कारण बतलानेपर (हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं) त्याज्य बातके विधानका कथन (असत्यं न भवति) असत्य नहीं है।

विशेषार्थ—समस्त झूठवचनोंका कारण प्रमादयोग है, अर्थात् प्रमादपरिणामोंसे जो वचन कहे जाते हैं वे सब झूठ हैं। जब यह बात है तब कोई ब्रह्मचारी आदि किसीसे व्यसनादि पापोंको छोडनेके लिये जो जोर देते हैं उनका वचन भले ही उस पापिष्ठ पुरुषको बुरा एवं अप्रिय मालूम पडता हो परंतु कहनेवालेका उद्देश्य उसका भला करनेका है इसलिये कहनेवालेके वचनोंमें प्रमादपरिणाम न होनेसे वे वचन असत्यकोटिमें नहीं सामिल किये जा सकते हैं।

यदि कोई शंका करे कि किसी पापको अथवा अनुपसेव्य अग्राह्यवस्तुको छुडाते समय जो वचन कहे जाते हैं वे भी तो अप्रिय एवं कठोर होते हैं वहां हिंसाका दूषण क्यों नहीं लगता और अनुशासि-

दोष क्यों नहीं आता, क्योंकि जितने कठोर अप्रियवचन हों, उन सबमें असत्यता और हिंसोत्पादकता आनी चाहिये, वह त्याग करानेवालेके वचनमें भी आनी चाहिये। इस शंकाका परिहार ही इस श्लोकमें किया गया है कि जहां प्रमादपरिणाम है वहांपर वचनमें दूषण है, जहां प्रमादपरिणाम नहीं है वह वचन निर्दोष है।

व्यर्थका झूठ तो छोड़ो।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं।
ये तेपि शेषमनृत समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चंतु ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (भोगोपभोगसाधनमात्रं) भोग उपभोग सामग्रीके इकट्ठा करनेमें कारण-मात्र (सावद्यं) सदोष वचनको (मोक्तुं अक्षमाः) छोड़नेके लिये असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (शेषं समस्तं अपि अनृत) बाकीके समस्त झूठको (नित्यं एव मुंचतु) सदा ही छोड देवें।

विशेषार्थ—भोजन पान गंध माला आदि भोग्य सामग्री कहलाती है अर्थात् जो एक बार भोग कर फिर भोगनेमें नहीं आवे उसे भोग्य कहते हैं। वस्त्र वर्तन मकान भूषण हाथी घोडा सेवक आदि चेतन अचेतन उपभोग्य सामग्री कहलाती है अर्थात् जिसे बार बार भोगा जा सके वह उपभोग्य है। इन भोग उपभोगके साधनोंमें नियमसे हिंसा होती है। कारण—जितना भी आरंभ है वह सब हिंसामूलक है, विना हिंसाके आरंभ होता ही नहीं। इसीलिये सप्रयत्न एवं हिंसासे बचनेके लिये सचेष्ट एवं साव-धान रहनेवाला गृहस्थ भी स्थावर हिंसासे विरक्त नहीं हो सकता, आरंभी आदि त्रसहिंसा भी उससे होती रहती है, घरमें रहकर वह अपने भोग उपभोगके कारण कलापोंसे छूट नहीं सकता इसलिये

उतने गृहस्थके लिये आवश्यक भोग उपभोग साधनोंमें काम आनेवाले प्रमादयुक्त वचनोंको छोडकर बाकी विना प्रयोजन व्यर्थका प्रयोगमें आनेवाला झूठवचन—कठोर अप्रिय सावद्य वचन तो छोड देना चाहिये। ग्रंथकार श्री आचार्यमहाराज कहते हैं कि ऐसी वचन हिंसाको तो प्रतिदिन छोडो उससे तो बचनेके लिये सदा चेष्टा करते रहो।

चोरीका लक्षण।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ १०२॥

अन्वयार्थ—[यत्] जो [प्रमत्तयोगात्] प्रमादके योगसे [अवितीर्णस्य] विना दिये हुए [परिग्रहस्य] परिग्रहका [ग्रहणं] ग्रहण करना है [तत्] वह [स्तेयं] चोरी [प्रत्येयं] जानना चाहिये [सा एव च] और वही (बधस्य हेतुत्वात्) हिंसाका कारण होनेसे (हिंसा) हिंसा है।

विशेषार्थ—विना दिये हुए किसीके धन धान्य आदि परिग्रहको प्रमादपूर्वक—कषायभावोंसे अर्थात् दूसरेका द्रव्य हडप लेनेके भावोंसे ले लेना चोरी कहलाती है। वह चोरी भी हिंसा ही है, कारण जिस प्रकार हिंसामें प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण किया जाता है उसीप्रकार चोरीमें भी प्राणोंका अपहरण किया जाता है। प्राणोंका भेद दो कोटिमें बांटा गया है—एक भावप्राण दूसरा द्रव्यप्राण। आत्मामें दुःख होना भावप्राणोंका घात है और शरीरके अंग उपांगोंका घात द्रव्यप्राणोंका घात है, इसके सिवा धन धान्य आदि बाह्यपरिग्रह भी बाह्यप्राण कहलाते हैं। इनके चुराए जानेसे संसारी मोही जीवके प्राणोंमें तीव्र आघात होता है। यहांतक कि बहुतसे मनुष्य प्राणोंकी परवा नहीं करते किंतु धनकी रक्षामें सर्वस्व

नष्ट करनेके लिये तयार रहते हैं ऐसी अवस्थामें द्रव्यके चोरी चले जानेसे उनकी आत्मामें बहुत ही दुःख होता है। इसलिए चोरी करनेवाला अपने प्राणोंका तो घात करता ही है क्योंकि आत्माका तो स्वभाव शुद्ध अचौर्यभाव है उसका घात होकर चौर्यभाव विभाव—विकारीभावका संचार होता है। साथ ही वह जिसका द्रव्य चुराता है उसके प्राणोंका भी घात करता है इसलिए चोरी करना भी हिंसा है।

धनादि बाह्यप्राण हैं।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसां[1]।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ—[ये एते अर्था नाम] जितने भी धन धान्य आदि पदार्थ हैं [एते पुंसां बहिश्चराः प्राणाः] ये पुरुषोंके बाह्यप्राण हैं। [यः जनः] जो पुरुष [यस्य अर्थान् हरति] जिसके धन धान्य आदि पदार्थोंको हरण करता है [सः] वह [तस्य प्राणान् हरति] उसके प्राणोंका नाश करता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष जिस पुरुषका रुपया पैसा गोधन सुवर्ण चांदी आदि द्रव्य चुराता है वह उसके अंतरंग प्राणोंका भी घात करता है, क्योंकि धनादि सम्पत्तिके चले जानेसे मोहवश उसके आत्मामें तीव्रतम कष्ट होता है।

हिंसा और चोरीमें अव्याप्ति नहीं है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ १०४ ॥

[1]—"अपहरति यस्तदर्थान् स तु तत्प्राणान् समाहरति" यह पाठ पं० गिरिधरमिश्रकृत संस्कृतटीकाके मूलका है, अर्थमें कोई भेद नहीं है।

अन्वयार्थ—[हिंसायाः] हिंसाकी [च] और [स्तेयस्य] चोरीकी [न अव्याप्तिः] अव्याप्ति नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य] दूसरोंके द्वारा स्वीकार की गई द्रव्यके [ग्रहणे] ग्रहण करनेमें [प्रमत्तयोगः] प्रमादयोग [सुघट एव 'तस्मात'] अच्छी तरह घटता है इसलिये [सा 'अस्त्येव'] हिंसा वहां होती ही है।

विशेषार्थ—लक्षण अपने लक्ष्यके एकदेशमें यदि न रहे तो उस लक्षणको अव्याप्ति दोषयुक्त लक्षण कहते हैं ऐसा लक्षण ठीक नहीं समझा जाता, यहांपर यह विचार करना है कि चोरीको हिंसा बतलाया है सो क्या चोरीमें हिंसाका लक्षण घटता है या नहीं ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि हिंसा और चोरीमें अव्याप्ति नहीं है जहां चोरी है वहां हिंसा अवश्य है। क्योंकि हिंसाका लक्षण प्रमादयोग बतलाया गया है वह प्रमादयोग चोरीमें घटित होता ही है। जो द्रव्य दूसरेका है उसके लेनेमें प्रमाद परिणाम—सरागभाव है। बिना हड़प लेनेके अभिप्रायके कोई किसीका द्रव्य नहीं चुरा सकता, जहां चुरा लेनेका भाव है वहां बुरा अभिप्राय है। प्रमादपरिणाम ही हिंसाका लक्षण है। इसलिये चोरी और हिंसामें अव्याप्ति नहीं है।

अतिव्याप्ति भी नहीं है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—[प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्] प्रमादयोगरूप एक कारणका विरोध होनेसे [अपि] और [कर्मानुग्रहणे] कर्मके ग्रहण करनेमें [नीरागाणां] वीतराग मुनियोंके [अविद्यमानत्वात्] प्रमादयोगका अभाव होनेसे [तयोः] उन चोरी और हिंसामें [अतिव्याप्तिश्च न] अतिव्याप्ति भी नहीं है।

विशेषार्थ—यदि कोई यह कहे कि जो वीतराग मुनियोंके कर्मोंका ग्रहण होता है वहां भी चोरीका लक्षण घटित होता है, विना दिये हुए द्रव्यका ग्रहण करना चोरी है, कर्म भी बिना दिये हुए ही ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहां चोरीका लक्षण चला जाता है परंतु वीतराग मुनि चोरीसे रहित हैं इसलिये वे अलक्ष्य हैं, अलक्ष्यमें लक्षण जाना ही अतिव्याप्ति है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि वीतराग मुनियोंमें चोरीका लक्षण जाता ही नहीं है कारण कि चोरीका लक्षण वहींपर जाता है जहांपर किसी वस्तुका दान अदान अथवा देन लेनका व्योहार होता है अर्थात् जो वस्तु दी जा सकती हो या ली जा सकती हो, वही चोरीके कार्यमें सम्हाली जा सकती है। जो वस्तु न दी जा सके और न ली जा सके। जो मनुष्यकी ग्रहणशक्ति एवं आंखोंके भी अगोचर है उसमें लेने देनेकी योग्यता ही नहीं है, कर्म अत्यन्त सूक्ष्मनेत्रेंद्रिय अगोचर पुद्गल परमाणु–स्कंध हैं। उनका ग्रहण जीवके मन वचन काययोग और कषाय-भावोंसे स्वतः–अपने आप होता है। इसलिये जीव उन्हें ग्रहण नहीं करता किन्तु उनका ग्रहण विकार-भावोंसे स्वयं होता है। दूसरे वे कर्म किसीकी वस्तु नहीं है किंतु संसारमें भरी हुई वर्गणाएं हैं जिस-प्रकार वायु सर्वत्र भरी है उसका उपयोग विना इच्छाके भी प्रत्येक व्यक्तिको करना पडता है उसीप्रकार कर्मोंका उपयोग भी विना इच्छाके प्रत्येक संसारीको करना पडता है जैसे वायुका उपयोग चोरीमें सामिल नहीं है वैसे कर्मोंका उपयोग भी चोरीमें सामिल नहीं है। चोरी वहींपर समझी जाती है जहां किसीका द्रव्य अपहरण किया जाय, कर्म तो किसीका द्रव्य नहीं है। तीसरे जहां इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है वहींपर चोरीका दोष आता है कर्मके ग्रहण करनेकी किसी जीवकी इच्छा भी नहीं होती, अन्यथा नरकादि गति योग्य निकृष्ट कर्मोंको कोई कभी नहीं ग्रहण करता और न कोई संसारमें घूमना पसंद ही करता

है इसलिये कर्मग्रहण इच्छासे नहीं किया जाता किंतु स्वयं हो जाता है जिसप्रकार लोहेमें अग्नि रहनेसे पानीके परमाणु स्वयं लोहेमें खिंच आते हैं उसीप्रकार योग और कषायोंसे कर्म आत्मामें स्वयं खिंच आते हैं। सबसे अन्तिम और मुख्य बात यह है कि चोरी वहीं समझी जाती है जहां प्रमादयोग है, विना प्रमादयोगके चोरीका लक्षण ही घटित नहीं होता, वीतराग मुनियोंके निष्कषाय एवं निरीह परम वीतराग होनेसे प्रमादयोगका उनमें नाम भी नहीं है। इसलिये कारणके अभावमें कार्य भी नहीं हो सकता, उनके प्रमादयोगरूप कारणका अभाव होनेसे चोरीरूप कार्य भी नहीं घटित होता। जहां प्रमादपरिणाम नहीं है वहां हिंसाका लक्षण भी नहीं घटित होता इसलिये चोरी और हिंसा इन दोनोंमें अतिव्याप्ति भी नहीं है।

चोरी छुड़ानेका उपदेश।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यं ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—[ये] जो पुरुष [निपानतोयादिहरणनिवृत्तिं] कूपजल आदिके हरण करनेकी निवृत्तिको [कर्तुं असमर्थाः] करनेके लिये असमर्थ हैं [तैरपि] उन पुरुषोंके द्वारा भी [अपरं समस्तं अदत्तं] दूसरा समस्त विना दिया हुआ द्रव्य [नित्यं] सदा [परित्याज्यं] छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ—स्वामीके विना पूछे कुएंसे जल लेना वास्तवमें चोरीमें शामिल है कारण जो वस्तु दी ली जा सकती है वही चोरीमें शामिल है। यदि कूएका स्वामी अथवा जमीनका स्वामी जल लेनेकी मनाई करदेवे तो जबरन कोई उस कूएसे जल नहीं ला सकता। क्योंकि कूआ भी जमीनके समान

सम्पत्तिमें सामिल है इसलिये विना आज्ञाके कूपसे जलग्रहण करना मिट्टी उठा लेना आदि सब बातें भी चोरीमें सामिल हैं, परंतु गृहस्थलोग इन व्यौहारोंके छोडनेमें असमर्थ हैं दूसरे जल मिट्टी आदिका ग्रहण सब कोई विना पूछे करते रहते हैं तीसरे उनके लेनेमें मालिककी कुछ हानि नहीं होती है, इसलिये स्थूलदृष्टिसे वे बातें व्यवहारमें चोरीमें सामिल नहीं भी की जाती हैं, वास्तवमें वे चोरीमें सामिल हैं ही, इसीलिये श्रीआचार्य महाराज लोकव्यवहार और सिद्धांत दोनोंकी दृष्टि रखकर कहते हैं कि जो ऐसी ऐसी व्यवहारमें आनेवाली बातोंको नहीं छोड सकते, वे बाकीके समस्त चोरीरूप पापको—जो कि लोकमें भी चोरीरूपसे प्रसिद्ध समझा जाता है, नियमसे छोडदें। सबसे उत्तम मार्ग तो यही है कि परद्रव्यको विना आज्ञाके ग्रहण ही न किया जाय परंतु जिन द्रव्योंका ग्रहण लोकनिषिद्ध नहीं है उनके सिवा बाकी समस्त परद्रव्यका ग्रहण विना मालिककी आज्ञाके नहीं करना यह द्वितीय पक्ष है।

मैथुनका लक्षण।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥ १०७॥

अन्वयार्थ——[यत् वेदरागयोगात्] पुंवेद और स्त्रीवेदरूप रागपरिणामके संबंधसे [यत्] जो [मैथुनं] स्त्री पुरुषोंकी कामचेष्टा होती है [तत्] उसको [अब्रह्म] अब्रह्म [अभिधीयते] कहते हैं। [तत्र सर्वत्र] वहां सब अवस्थाओंमें [वधस्य सद्भावात्] जीवोंका वध होनेसे [हिंसा अवतरति] हिंसा घटित होती है।

विशेषार्थ——वेदकर्म दो प्रकारका है एक नामकर्मका भेद, एक चारित्रमोहनीयका भेद। जो नामकर्मका भेदरूप वेदकर्म है उसके उदयसे शरीरमें द्रव्यरूप वेदरचना होती है, वह रचनामात्र जीवके

भावोंमें विकार नहीं कर सकती किंतु चारित्रमोहनीयके भेदस्वरूप वेदकर्मके उदयमें यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करनेकेलिये प्रवृत्त होता है इसलिये जहांपर वेदकर्मके उदयसे स्त्री पुरुषोंमें अथवा पशु पक्षियोंमें नर-मादाओंमें जहां परस्पर रमण करनेकी वाञ्छापूर्वक कामचेष्टा होती है वहींपर मैथुन कहा जाता है। वही ब्रह्मचर्यका प्रतिकूल दोष है, इसके होनेसे जीवका ब्रह्मचर्यरूप स्वभाव नष्ट हो जाता है इसलिये भाव-हिंसा भी होती है और मैथुनसेवन करनेसे अनेक जीवोंका, जो कि सूक्ष्मरूपसे योनिस्थानमें रहते हैं उनका, वध भी हो जाता है इसलिये द्रव्यहिंसा भी होती है अतः अब्रह्म भी हिंसा ही है, प्रमादभाव वहां है ही।

द्रव्यहिंसा।

हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यंते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—[यद्वत्] जिसप्रकार [तिलनाल्यां] तिलनालीमें [तप्तायसि विनिहिते] तपाये हुए लोहेके छोडनेपर [तिलाः हिंस्यंते] तिल पीडे जाते हैं- भुन जाते हैं [तद्वत्] उसीप्रकार [योनौ] योनिमें [मैथुने] मैथुन करते समय [बहवो जीवाः] अनेक जीव [हिंस्यंते] मारे जाते हैं।

विशेषार्थ—स्त्रियोंका योनिस्थान—जो कि स्त्रीनामकर्मके उदयसे द्रव्यचिह्नरूप होता है—अत्यंत मलिन स्थूल होता है। वह सदा मलसे आर्द्र ही रहता है, उसमें मलसे उत्पन्न अनेक जीवराशि रहती है, वह सब जीवराशि मैथुनक्रियामें नष्ट हो जाती है। जिसप्रकार तिलोंकी घानीमें यदि अग्निसे संतप्त लोहा छोड दिया जाय तो घानीके सभी तिल एकदम जल जाते हैं, उसीप्रकार मैथुन करनेसे अतिसूक्ष्म

असंख्य जीव नियमसे नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा स्त्रियोंके योनि स्तन आदि प्रदेशोंमें भी जीव रहते हैं, हस्तादि व्यापारसे वे सब भी नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार अनंत जीवराशिकी हिंसा करनेवाले मैथुन दुष्कर्मका अवश्य परित्याग कर देना ही उचित है। मैथुन परिणाम तीव्र रागोदयसे होता है और तीव्र रागका उत्पादक है, अतः सर्वथा मैथुन सेवन छोडकर ब्रह्मचर्यव्रत प्रत्येक बुद्धिमानको धारण करना चाहिये।

अनंगरमण निषेध।

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥ १०९

अन्वयार्थ—[यदपि] जो भी [किंचित् मदनोद्रेकात] कुछ कामके प्रकोपसे [अनंगरमणादि] अनंग-क्रीडन आदि [क्रियते] किया जाता है [तत्रापि] वहांपर भी [रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्] रागादिककी उत्पत्ति प्रधान होनेसे [हिंसा भवति] हिंसा होती है।

विशेषार्थ—विना तीव्र रागोदयके अनंगरमणादि दुष्क्रियायें हो ही नहीं सकतीं, स्त्रीपुरुषकी संभोग-क्रियाको छोडकर बाकी अंगभिन्न उपांगोंके साथ वेदरागकर्मके तीव्रोदयमे क्रिया की जाती है, वह भी रागमूलक होनेसे तीव्र पापबंधका कारण है। इसलिए ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको वह भी सर्वथा परि-त्याग करने योग्य है।

कुशीलत्यागका उपदेश।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति नहि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यं ॥ ११०

अन्वयार्थ—[ये] जो पुरुष [मोहात्] चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे [निजकलत्रमात्रं] अपनी स्त्री-

मालको [परिहर्तुं] छोडनेके लिये [न हि शक्नुवंति] निश्चयसे नहीं समर्थ हैं [तैरपि] उन्हें भी [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं] बाकीकी समस्त स्त्रियोंका सेवन [न कार्यं] नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ——सबसे उत्तम पक्ष यही है कि जिन परिणामोंमें वीतरागभाव जागृत रहें उन्हें ही सदा धारण किया जाय, वास्तवमें तो वहींपर आत्माको शांति मिलती है। इसके लिये जैनसिद्धांतका प्रथम उपदेश है कि स्वस्त्री और परस्त्री सबोंका परित्यागकर उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिये। परंतु सबोंके लिये यह मार्ग नितांत कठिन अथवा असंभव ही है। क्योंकि गृहस्थधर्मका प्रवाह भी तो अनिवार मार्ग है। गृहस्थाश्रममें रहनेवाले जो पुरुष स्वदारसंतोषी हैं वे भी एकदेश ब्रह्मचर्यव्रतके धारण करनेवाले हैं। इसलिए वे भी कुशीलत्यागी कहे जाते हैं परंतु यह पक्ष मध्यम है। कारण स्वस्त्रीमें संतोष रहनेपर भी अपनी स्त्रीमात्रमें रागपरिणति तो होती ही है इसलिए उसे भी छोडनेवाले उत्तमब्रह्मचर्यधारी कहे जाते हैं, परंतु जो स्वस्त्रीमात्रको छोडनेमें असमर्थ हैं, अर्थात् जिनके इतना चारित्रमोहनीय कर्मका मंदोदय अभी नहीं हुआ है, जो अपनी स्त्रीका भी परित्याग करसकें उनके लिये आचार्य उपदेश देते हैं कि वे केवल स्वदारसंतोषी तो नियमसे बन जांय, स्वस्त्रीको छोडकर बाकी समस्त स्त्रियोंके सेवनका तो उन्हें नियमसे परित्याग करदेना चाहिये। ऐसी अवस्थामें वे एकदेश ब्रह्मचर्यके धारी कहे जा सकते हैं अन्यथा जिनके परस्त्रीका त्याग नहीं है, वे पशुवत् प्रवृत्ति रखनेवाले, महानीच, चारित्रसे गिरे हुए मनुष्य हैं। ऐसा जीवन रखना पृथ्वीका भारभूत है।

परिग्रहका लक्षण।

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः॥१११॥

१८०

५७

अन्वयार्थ—(या) जो (इयं) यह (मूर्छा नाम) मूर्छा है (एषः हि) यह ही (परिग्रहः) परिग्रह (ज्ञातव्यः) जाननी चाहिये (तु) तथा (मोहोदयात्) मोहनीयकर्मके उदयसे (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्व परिणामः) ममतारूप परिणाम (मूर्च्छा) मूर्च्छा कहलाता है ।

विशेषार्थ—धनधान्यादि परिग्रहको संसार परिग्रह बतलाता है परंतु वास्तवमें धनधान्यादि परिग्रह तभी परिग्रह कहा जाता है जब कि उसमें ममत्वपरिणाम हो, विना ममत्वपरिणामके किसीका कुछ परिग्रह नहीं कहा जाता। यदि ध्यानमें बैठे हुए मुनिमहाराजके समीप बहुतसा द्रव्य रख दिया जाय तो वह द्रव्य उनका परिग्रह नहीं कहा जा सकता कारण कि उससे उनके परिणामोंमें किसीप्रकारका अंशमात्र भी ममत्व नहीं है। यदि कहा जाय कि मुनिमहाराज के तो उस धनधान्य परिग्रहसे स्वत्व नहीं है जिनका उसमें स्वत्वभाव है उनका तो वह परिग्रह कहलाता ही है। इसके उत्तरमें यही समझ लेना ठीक है कि स्वत्व भी उन्हींका कहा जाता है कि जिनका कि उस बाह्यपरिग्रहमें आत्मीयभाव है अर्थात् जो मोहितबुद्धिसे उसे अपना समझ रहे हैं जो अपने परिग्रहसे स्वत्व छोड चुके हैं अथवा दूसरोंको दानकर चुके हैं वह उनका परिग्रह नहीं कहलाता इसलिये यह निर्धारित बात है कि परिग्रह वास्तवमें ममत्व परिणामोंका नाम ही है। उसी ममत्व परिणामसे बाह्य परिग्रह भी उपचारसे परिग्रह कहलाता है। इसीलिये आचार्यमहाराजने मूर्छाको ही परिग्रह बतलाया है और मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला जो ममत्व परिणाम—यह मेरा है यह तेरा है, इत्यादिरूप है वही परिणाम मूर्छा कहलाता है। यही परिग्रहका यथार्थ लक्षण है। जहां यह लक्षण घटित होता है वहांपर परिग्रहपना आता है, जहां नहीं घटित होता वहां बाह्यपरिग्रह रहते हुए भी परिग्रह नहीं कहा जाता। इसलिये मूर्छा ही परिग्रहका निर्दोष लक्षण है।

मूर्छालक्षणकरणात सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रंथो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ—(मूर्छालक्षणकरणात्) परिग्रहका मूर्छा लक्षण करनेसे (परिग्रहत्वस्य) दोनों प्रकार—बहिरंग और अतरंग परिग्रहकी (व्याप्तिः सुघटा) व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है (शेषसंगेभ्यः) बाकीके सब परिग्रहोंसे (विना अपि) रहित भी (किल) निश्चय करके (मूर्छावान्) मूर्छावाला (सग्रंथः) परिग्रहवाला है।

विशेषार्थ—यदि परिग्रहका लक्षण मूर्छा किया जाता है तब तो कोई दोष नहीं आता है, यदि परिग्रहका लक्षण बाह्य पदार्थोंका संबंध आदि अन्य कुछ किया जाता है, तब उसमें व्यभिचार आदि दोष आते हैं। यदि जिसके पास बाह्य कुछ परिग्रहसंबंध है वही परिग्रही समझा जाय तो जिस मनुष्यने जंगलमें रहना स्वीकार कर लिया है, वस्त्र आदि कुछ भी बाह्य परिग्रह जिसने अपने पास नहीं रक्खा है नग्न ही सदा जो रहता है परन्तु घरवालोंमे मोहवासना जिसकी नहीं छूटी है उन्हें वह व्यापारके उपाय एवं धनकी रक्षाके उपाय बतलाता है तथा कभी कभी अपनी सब संपत्तिको देख भी जाता है, परंतु अपने पास कुछ बाह्य परिग्रह नहीं रखता है ऐसा मनुष्य भी, परिग्रहका बाह्य परिग्रह लक्षण करनेसे निष्परिग्रही—परिग्रहरहित ठहर जायगा तथा जिन मुनीश्वरने अंतरंग बाहिरंग सब परिग्रह छोड दिया है, केवल आत्मध्यानमें ही जो लीन रहते हैं एवं उसे ही मात्र निज संपत्ति समझते हैं, ऐसे नग्न दिगम्बर ध्यानस्थ मुनिमहाराजके ऊपर यदि कोई अनाडी कंबल डाल जाय, मुनिमहाराज उसे उपसर्ग समझकर ध्यानमें लीन रहें तो वैसी अवस्थामें विना अंतरंग ममत्व परिणामके भी बाह्य परिग्रह लक्षण करनेसे

मुनिमहाराज भी परिग्रहवाले ठहर जांयगे इसलिये परिग्रहका लक्षण मूर्छा करना ही उचित है, उसके होते हुए फिर एक भी दोष नहीं आता है। जहां जहां मूर्छा है वहां वहां परिग्रह है, जहां जहां मूर्छा नहीं है वहां वहां परिग्रह भी नहीं है. बिना ममत्व परिणामके मुनिके शरीरपर पडा हुआ कंबल भी उनका परिग्रह नहीं कहा जासकता, और मोहजनित वासना रखनेवाला जंगलमें विचरनेवाला नग्न मनुष्य बिना बाह्य परिग्रहके भी परिग्रही है इसलिये परिग्रहका लक्षण मूर्छा—ममत्वपरिणाम करना ही सुसंगत है।

बाह्यपरिग्रहमें परिग्रहपना है या नहीं।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ—(यदि एवं) यदि इसप्रकार है अर्थात् परिग्रहका लक्षण मूर्छा ही किया जाता है (तदा) उस अवस्थामें (खलु कोपि बहिरंगः परिग्रहो न भवति) निश्चयसे कोई भी बहिरंग परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंकाके उत्तरमें आचार्य उत्तर देते हैं कि (भवति) बाह्यपरिग्रह भी परिग्रह कहलाता है (यतः) क्योंकि (असौ) यह बाह्यपरिग्रह (नितरां) सदा (मूर्छानिमित्तत्वं) मूर्छाका निमित्तकारण होनेसे अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्वपरिणाम बाह्यपरिग्रहमें होता है इसलिये वह भी मूर्छाके निमित्तपनेको (धत्ते) धारण करता है।

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई गई थी कि यदि मूर्छा ही परिग्रहका लक्षण किया जायगा तो मूर्छा तो आत्माका विकाररूप मोहजनित भाव है, धन धान्य रुपया सोना आदि कुछ भी परिग्रह नहीं कहा जायगा। इस शंकाका आचार्यने इसी श्लोकमें उत्तर भी दे दिया है कि हां! बाह्यपरिग्रह भी

परिग्रह कहा जा सकता है क्योंकि वह मूर्छामें निमित्तकारण है, अर्थात् मूर्छारूप परिणाम वाह्यपरिग्रहके निमित्तसे ही होते हैं इसलिये उपचारसे उसे भी परिग्रह कहा जा सकता है। उपचाररूप कहनेका यही प्रयोजन है कि वास्तवमें तो परिग्रह व्यक्तियोंसे संबंध रखता है, विना किसीका संबंध पाये हुए स्वतंत्र पडी हुई वस्तुको परिग्रह नहीं कहा जाता जैसे जंगलमें खडा हुआ पहाड या खडे हुए वृक्ष आदि किसीके परिग्रह नहीं कहे जाते। यदि उस जंगलको कोई खरीद ले तो उसी दिनसे वह उसका स्वामी कहलाता है और वह जंगल उसका परिग्रह कहलाता है इसलिये वाह्यपरिग्रह तभी परिग्रह कहलाने योग्य है जबकि उसका किसी व्यक्तिसे संबंध है क्योंकि परिग्रह नाम ग्रहण किये हुए पदार्थका है जो जिसने ग्रहण करलिया है अर्थात् जिसने जिस वस्तुको अपना मान लिया है उसका वही पदार्थ परिग्रह है इसलिये वास्तवमें तो जहां ममत्व परिणाम है वहां ही परिग्रह कहा जाता है, चाहे वाह्यपदार्थ उपस्थित हो या न हो, अंतरंगमें पदार्थोंकी लालसा रखनेवाला अथवा वाह्यपदार्थोंको छोडनेपर भी उनमें ममत्व रखनेवाला परिग्रही है। परंतु उपचारसे वाह्यपदार्थको भी परिग्रह कहा जाता है, उसके दो हेतु हैं, एक तो यह कि वाह्यपदार्थ मूर्छाभावको उत्पन्न करता है, मूर्छाकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण है इसलिये निमित्तनैमित्तिक संबंध होनसे निमित्तको भी नैमित्तिकरूपमें कह दिया जाता है। दूसरा यह हेतु है कि वाह्यपरिग्रह कहलानेमें मूर्छा कारण पडी हुई है, ममत्वरूप परिणाम वाह्यपरिग्रहमें होता है, इसलिये मूर्छारूप कारण परिग्रहको वाह्यपरिग्रहरूप कार्यपरिग्रहमें उपचार करलेते हैं। इसलिये वाह्यपरिग्रह मूर्छाका दोनोंप्रकारसे निमित्तपना रखता है उसका कारण भी है और कार्य भी है इसलिये सामान्यरूपसे वाह्यपरिग्रहको भी परिग्रह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवं।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (परिग्रहस्य) परिग्रहको (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति (स्यात्) होगी (इति चेत्) यदि ऐसा है तो (एवं न भवेत्) ऐसा नहीं हो सकता (यत्) क्योंकि (अकषायाणां) कषाय-रहित वीतराग मुनियोंके (कर्मग्रहणे) कर्मके ग्रहण करनेमें (न मूर्छा अस्ति) मूर्छा नहीं है।

विशेषार्थ—यदि ऊपर कहे अनुसार बाह्यपरिग्रहको मूर्छाका निमित्त मानकर परिग्रह समझा जाता है तो परिग्रहकी अतिव्याप्ति होगी अर्थात् जहां परिग्रहका लक्षण नहीं जाना चाहिये वहां भी परिग्रहका लक्षण चला जायगा, वैसी अवस्थामें अतिव्याप्तिनामक दोष उपस्थित होगा। जिन वीतरागमुनियोंके कर्म ग्रहण होता है, वह भी तो बाह्यपदार्थ है, और वह भी मूर्छाका निमित्त हो सकता है इसलिये वह भी परिग्रहकोटिमें आ जायगा, इस दोषके अथवा आशंकाके परिहारके लिये आचार्य कहते हैं कि नहीं, परिग्रहको अतिव्याप्ति नामका दोष कर्मग्रहणमें नहीं आता है, कारण जहां मूर्छानिमित्तता है वहीं परिग्रहका लक्षण जाता है, वीतरागमुनियोंके जो कर्मग्रहण हो रहा है उनके मूर्छानिमित्तता नहीं है इसलिये वहां उसका लक्षण नहीं जाता। जहां मूर्छा उत्पन्न होनेकी शक्यता हो वहां किसी प्रकार लक्षणकी संभावना भी मानी जा सकती है परंतु जहां उसकी शक्यता भी नहीं है वहां परिग्रहके लक्षणकी सत्ता किसीप्रकार घटित नहीं हो सकती। कर्मग्रहण एक तो नितांत सूक्ष्म पुद्गलवर्गणा है। उसमें ग्रहण और त्यागका व्यौहार भी नहीं होसकता कारण वह न देखनेमें आती है और न ली दी जा सकती है।

दूसरे उसका ग्रहण विना इच्छाके सुतरां योगानिमित्तसे होता है, तीसरे वीतरागमुनियोंके मूर्छा भी नहीं है, ग्यारहवे, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें जहां कर्मग्रहण है वहां कषायभावकी सत्ता भी नहीं है वह दशवें गुणस्थानमें ही नष्ट हो चुका और सातवें आठवें नवमें दशमें गुणस्थानोंमें जहां कषायभाव है वह नितांत मंद एवं अप्रमत्तरूप है इसलिये वहां भी मूर्छाका अभाव ही कहना चाहिये। छठे गुणस्थानमें प्रमत्तपरिणाम है परंतु वहां कर्मोंमें 'ममेदं' यह मेरा है ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, इसलिये कर्मग्रहणमें वीतरागमुनियोंके मूर्छा नहीं है और इसीलिये कर्मग्रहणमें परिग्रहकी अतिव्याप्ति भी नहीं है।

परिग्रहके भेद।

अतिसंक्षेपाद्द्विविधः स भवेदाभ्यंतरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह परिग्रह (अतिसंक्षेपात्) अतिसंक्षेपसे (द्विविधः) दो प्रकारका है (आभ्यंतरश्च बाह्यश्च) आभ्यंतरपरिग्रह और बाह्यपरिग्रह। (प्रथमः) पहला आभ्यंतरपरिग्रह (चतुर्दशविधः) चौदह प्रकारका है (द्वितीयस्तु) दूसरा बाह्यपरिग्रह (द्विविधः भवति) दो प्रकारका है।

विशेषार्थ—यद्यपि परिग्रहमें असंख्यात भेद हैं, संख्यातकोटिमें लेनेसे भी अनेक भेद हैं, परंतु उन सब भेदोंको गणनामें नहीं लिया जा सकता, इसलिये संभाल करनेके लिये सब भेदोंको यहांपर दो कोटिमें बांटा गया है। एक अंतरंग परिग्रह और एक बाह्य परिग्रह। पहलेके १४ भेद हैं। दूसरेके दो भेद हैं, उन भेदोंको ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षट् दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतराः ग्रंथाः ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्ववेदरागाः) मिथ्यात्व पुंवेद स्त्रीवेद नपुंसकवेद (तथैव) उसी प्रकार (हास्यादयश्च षट् दोषाः) हास्य रति अरति शोक भय जुगप्सा ये छह दोष (चत्वारश्च कषायाः) चार कषाय ये (चतुर्दश अभ्यंतराः ग्रंथाः) चौदह अभ्यंतर परिग्रह कहलाते हैं।

विशेषार्थ—आत्माके कषायरूप वैभाविक भावको अभ्यंतर परिग्रह कहते हैं, अर्थात् 'ममेदंरूप'—यह मेरा है यह तेरा है इस रूप जो आत्माका मोहरूप परिणाम है उसीका नाम अभ्यंतर परिग्रह है, इस परिग्रहमें सभी कषाय भाव और मिथ्यात्व गर्भित हो जाता है, अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ही अंतरंगपरिग्रह है उसीके चौदह भेद हैं। मिथ्यात्वमें सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति अंतर्गत हो जाती है इसलिये मिथ्यात्व कहनेसे समस्त दर्शनमोहनीय हो चुका। चारित्रमोहनीय २५ भेदोंमें बँटा हुआ है वह संक्षेपमें १३ भेदोंमें आ जाता है, अनंतानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी, और संज्वलन (इन्हींके क्रोध मान माया लोभ ये प्रत्येकके चार चार भेद करनेसे, १६ भेद हो जाते हैं) तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, छह ये भेद और स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद तीन ये इसप्रकार १३ प्रकार चारित्रमोहनीय और १ मिथ्यात्व कुल १४ प्रकारका अभ्यंतर परिग्रह है। जिस पुरुषके बाह्यपरिग्रह कुछ भी न हो, भले ही वह नग्न बनकर जंगलमें रहता हो परंतु इन १४ मिथ्यात्व और कषायभावोंमेंसे कोई भी जिसके परिग्रह है वह अवश्य परिग्रही है, इस दृष्टिसे दशवें गुणस्थान-

वर्ती मुनिमहाराज भी कथंचित् परिग्रही कहे जा सकते हैं। परंतु उन गुणस्थानोंमें कषायोंका उदयमात्र है, वहां कषायोद्रेक बुद्धिपूर्वक नहीं है इसलिये कषायोंकी सत्ता मात्रकी अपेक्षासे परिग्रह कहा जाय तो कुछ आपत्ति नहीं है किंतु कार्यकी अपेक्षा अथवा बुद्धिपूर्वक ममत्वभावकी अपेक्षा वहां परिग्रहका सर्वथा अभाव है, मिथ्यात्वरूप परिग्रह तो चतुर्थ गुणस्थानवर्तीके भी नहीं है।

बाह्यपरिग्रहके भेद।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसां ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर बाह्यपरिग्रहके भेद बतलाते हैं (बाह्यस्य परिग्रहस्य) बाह्य परिग्रहके (निश्चित्तसचित्तौ) अचेतन और सचेतन (द्वौ भेदौ) दो भेद हैं (एषः) यह दोनों प्रकारका (सर्वोऽपि संगः) सभी परिग्रह (कदापि) कभी भी (हिंसां न अतिवर्तते) हिंसाका अतिवर्तन नहीं करता है।

विशेषार्थ—बाह्य परिग्रहके दो भेद हैं, एक अचेतन, दूसरा सचेतन। रुपया पैसा वर्तन वस्त्र मकान जमीन आदि जो कुछ जड संपत्ति है वह अचेतन परिग्रह है, गोधन हाथी घोडा बैल दासी दास स्त्री सरा, आदि सभी सचेतन परिग्रह हैं। जो जीवधारी परिग्रहको अर्थात जिन जीवोंसे अपना संबंध है उन्हें अपना मानता है वह उसका सचेतन परिग्रह है और जिन जड वस्तुओंको अपना मानता है वे सब उसका अचेतन परिग्रह हैं। इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें हिंसा नियमसे होती है। कारण दोनों प्रकारके परिग्रह विना आरंभके नहीं रह सकते, जो कुछ उनका कार्य अथवा आरंभ है वह विना हिंसाके नहीं हो सक्ता। इसलिये हिंसा परिग्रहसे अनिवार्य है। तथा जहां आरंभ नहीं है वहां ममत्व परिणामरूप भावहिंसा है ही, इसलिये परिग्रह और हिंसाकी भी व्याप्ति है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा अवश्य है।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ—[जिनप्रवचनज्ञाः] जिनेंद्र भगवानके उपदिष्ट आगमको जाननेवाले [आचार्याः] श्री परम गुरु आचार्यमहाराज [उभयपरिग्रहवर्जनं] सचित्त अचित्त इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका छोडना [अहिंसा इति सूचयंति] अहिंसा है ऐसा सूचित करते हैं और [द्विविधपरिग्रहवहन] दोनों प्रकारके परिग्रहोंका ग्रहण करना [हिंसा इति 'सूचयंति'] हिंसा है ऐसा सूचित करते हैं।

विशेषार्थ—परिग्रह रखना आरंभके विना नहीं रह सकता, और जहां आरंभ है वहां हिंसा अवश्य होती है, इसके सिवा जहां मोहजनित आत्मपरिणाम है वहां विना आरंभके ही भाव हिंसा है, इसलिये दोनों प्रकारके परिग्रहका ग्रहण करना ही हिंसा है और उनका छोडना ही अहिंसा है, ऐसा श्रीआचार्य महाराज बतलाते हैं।

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसांतरंगसंगेषु ।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वं ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ—[अंतरंगसंगेषु] अंतरंगपरिग्रहोंमें [हिंसापर्यायत्वात्] हिंसाके पर्याय होनेसे [हिंसा सिद्धा] हिंसा सिद्ध है [बहिरंगेषु तु] बहिरंग परिग्रहोंमें तो [नियतं] नियमसे [मूर्छा एव हिंसात्वं प्रयातु] मूर्छा ही हिंसापनेको सिद्ध करती है।

विशेषार्थ—अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व और कषायभाव हैं वे तो स्वयं हिंसास्वरूप हैं ही, कारण हिंसा उसे ही कहते हैं कि जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका अपहरण हो। जहां कषायभाव है या मिथ्यात्व है वहां आत्माके शुद्ध भावोंका नाश एवं प्रमाद परिणाम हैं इसलिये अंतरंगपरिग्रह तो स्वयं हिंसास्वरूप हैं। बहिरंगपरिग्रह स्वयं हिंसारूप नहीं हैं किंतु उनमें ममत्वपरिणाम होता है इसलिये वे हिंसाजनक हैं, यह भावहिंसाका निरूपण है। बहिरंगपरिग्रहोंमे होनेवाली द्रव्यहिंसाको दृष्टिमें लेनेसे द्रव्यहिंसा भी उनसे नियमित है। इसलिए वास्तवमें हिंसास्वरूप हिंसाका उत्पादक हिंसाका फल हिंसाका कारण परिग्रह ही है। यदि उसका संबंध छोड दिया जाय तो फिर न कभी किसी निमित्तसे ममत्वपरिणाम उत्पन्न हों, न किसी प्रकारका आरंभ हो और न आत्मीयपरिणाम ही विकाररूप धारण करें। श्रीमुनिमहाराज दोनों प्रकारके परिग्रह त्यागी होते हैं इसलिए वे त्रस और स्थावर हिंसासे विरक्त रहते हैं तथा अप्रमत्तपरिणामी रहते हैं। जहां परिग्रह और आरंभका एकदेश भी त्याग है वहां शास्त्रकारोंने मनुष्यायुके बंधयोग्य परिणाम बतलाये हैं और जहां बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह है वहां नरक आयुके बंध योग्य परिणाम बतलाये हैं।

मूर्छा विशेषसे हिंसाविशेष।

एवं न विशेषः स्यादुंदररिपुहरिणशावकादीनां।
नैव भवति विशेषस्तेषां मूर्छाविशेषेण ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ—[एवं] इसप्रकार अर्थात् यदि बहिरंग परिग्रहोंमें मूर्छाका उत्पन्न होना ही हिंसा है तो [उंदररिपुहरिणशावकादीनां] बिल्ली और हरिणके बच्चे आदिके विषयमें [न विशेषः स्यात्] कुछ विशेष नहीं होगा ? [एवं न] उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा नहीं है [तेषां मूर्छाविशेषेण] उनके मूर्छाविशेषसे [विशेषः भवति] विशेष है।

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई गई है कि यदि यही माना जाय कि बाह्यपरिग्रहोंमें ममत्व परिणामोंका होना ही हिंसा है तो फिर ज्यादा हिंसा करनेवाले और कम हिंसा करनेवाले समान पापके भागीदार बन जांयगे क्योंकि एक बिल्ली जो चूहोंका ध्वंस करती है वह भी चूहेमें ममत्वपरिणाम रखती है और एक हरिणका बच्चा जो कि बिना किसीका बध किए केवल घासके तृण खा रहा है वह भी उस घाससे ममत्वपरिणाम रखता है। ममत्वपरिणाम बाह्यपदार्थमें दोनोंके हैं इसलिए दोनों ही समान हिंसाके भागी ठहरेंगे ? इस शंकाका उत्तर यह है कि जब ममत्वपरिणाम ही हिंसारूप हैं तो जहां जैसे ममत्व-परिणाम होंगे वहां वैसी ही हिंसा होगी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि चूहेको ग्रहण करते समय बिल्लीके परिणाम और घासको ग्रहण करते समय हरिणके परिणाम समान हैं, दोनोंके ममत्वमें जब अधिकता और हीनता है तो उनकी हिंसामें भी अधिकता और न्यूनता स्वभावसिद्ध है। जहां ममत्व-परिणाम कमती है वहां कमती हिंसा है, जहां ममत्वपरिणाम अधिक है वहां अधिक हिंसा है।

इसीका स्पष्टीकरण।

हरिततृणांकुरचारिणि मंदा मृगशावके भवति मूर्छा।
उंदरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—(हरिततृणांकुरचारिणि) हरे तृणोंके अंकुरोंको चरनेवाले (मृगशावके) मृगके बच्चेमें (मंदा मूर्छा भवति) मंद मूर्छा होती है (उंदरनिकरोन्माथिनि) मूषा (चूहों) के समूहोंको नष्ट करनेवाली (मार्जारे) बिल्लीमें (सा एव तीव्रा जायते) वही मूर्छा तीव्र होती है।

विशेषार्थ—जहांपर विशेष गृद्धता वा विशेष लालसा होती है वहींपर विशेष मूर्छा मानी जाती है।

जहां गृद्धता या लालसा कम है वहां मूर्छा भी कम मानी जाती है। एक हरिणका बच्चा शांतिसे जब इच्छा हुई तभी घासके अंकुरे खा लेता है, जब इच्छा नहीं रही उन्हें छोडकर चुपचाप बैठ जाता है या खडा रहता है। उस घासके लेनेमें उसके ममत्वभाव मंद रहते हैं, कारण वह घासका ही ग्राहक है घास सदा इधर उधर रहता ही है इसलिए उसके परिणामोंमें उसके ग्रहण करनेकी तीव्र लालसा नहीं होती तथा उसके लेनेमें उसकी आत्मामें संक्लेशभाव भी नहीं होता, परंतु बिल्ली जब कभी भी चूहोंको पकडती है बडी लालसाके साथ पकडती है, कषायकी तीव्रतासे उसके ऊपर बडे जोरसे झपटती है तथा परोक्षमें भी जबतक चूहा नहीं दीखे तबतक भी उसीकी तीव्र वासना लिए हुए रहती है इसलिए उस कार्यमें उसकी तीव्र तो गृद्धता है और संक्लेशपरिणामोंका भी आधिक्य है। क्योंकि बिल्लीके परिणामोंमें तीव्र आकुलता है। इसका कारण भी यह है कि चूहा जंगम जीव है, वह भी अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहता है इसलिये वह बिल्लीके देखनेपर इधर उधर छिपनेकी चेष्टाके साथ महान् भयभीत हो जाता है, उसकी मरणसन्मुख अवस्था उसके लिये अति कष्ट देती है जैसे वह छिपनेकी चेष्टा करता है वैसेही दुष्ट जीवभक्षणी बिल्ली उसपर क्रोधपूर्ण दृष्टिसे दौडती है, इसलिये यह बात एक स्थूलबुद्धि भी समझ सकता है कि बिल्लीके परिणामोंमें अतितीव्र मूर्छा एवं हिंसा है और हरिणके परिणामोंमें उसकी अपेक्षा नितांत कम है। मूर्छाके आधारपर ही हिंसा भी बिल्लीको तीव्र लगती है, हरिणको उसकी अपेक्षा बहुत ही कम लगती है।

दृष्टांतमें दृष्टांत।

निर्बाधं संसिद्ध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखंडयोरिव माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ—(कारणविशेषात)कारण विशेषसे (कार्यविशेषः) कार्यविशेष (हि) निश्चयसे (निर्बाधं संसिद्ध्येत) निर्बाधरीतिसे सिद्ध होता है (इव) जैसे (औधस्यखंडयोः माधुर्यप्रीतिभेद इव) [ओधस् नाम दूधवाले पशुओंके थनोंके ऊपर दूधसे भरे हुए भाग (ऐनरी)का है उस भागमें दूध पैदा होता है इसलिये औधस्य नाम दूधका है] दूध और खांड दोनोंकी मधुरतामें प्रीतिका जिसप्रकार भेद देखा जाता है।

विशेषार्थ—जैसा कारण होता है उसीप्रकारका उससे कार्य सिद्ध होता है यह बात घट पट आदि सभी पदार्थोंके देखनेसे सप्रमाण प्रसिद्ध है। मिट्टीसे घडा बनता है, सूतसे वस्त्र बनता है इसलिये जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। इसलिये जहांपर मूर्छाकी तीव्रता है वहांपर तीव्र हिंसा होती है और जहांपर मूर्छाकी मंदता है वहांपर मंद हिंसा होती है। जिसप्रकार दूधमें भी मधुरता है और खांडमें भी मधुरता है परंतु मधुरताके कारणोंमें भेद होनेसे उनके कार्योंमें भी भेद हो जाता है, दूधकी मधुरताका कारण दूध है, खांडकी मधुरताका कारण खांड है, इसलिये दोनोंकी मधुरताके आस्वादन करनेवालेकी रुचिमें भेद हो जाता है। वह दोनोंकी मधुरताका आस्वादन भिन्न भिन्न रूपसे करता एवं समझता है उसीप्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

श्रीआचार्यमहाराज इसी दृष्टांतका स्पष्टीकरण करते हैं।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मंदैव मंदमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चय करके (माधुर्यप्रीतिः) मधुरतामें प्रीति (मंदमाधुर्ये दुग्धे) मंद मधुरता रखनेवाले दूधमें (मंदा एव) मंद ही है। (सा एव) वही मधुरतामें प्रीति (उत्कटमाधुर्ये खंडे) अधिक मधुरता रखनेवाली खांडमें (तीव्रा व्यपदिश्यते) तीव्र कही जाती है।

विशेषार्थ—दूधमें कमती मिठास है इसलिये उसके पीनेसे पीनेवालेको कमती मीठापन मालूम होता है और खांडमें अधिक मिठास है इसलिये उसके खानेवालेको अधिक मीठापन मालूम होता है। यह दोनोंके मीठेपनका भेद दोनोंके कारणोंकी भिन्नतासे ही होता है। इसलिये जहां जैसा कारण होता है वहां वैसा कार्य होता है। इसी भेदसे जीवोंके परिणामोंमें मूर्छाधिक्य एवं मूर्छामांद्य होनेसे क्रमसे हिंसाधिक्य होनेसे परिग्रहाधिक्य एवं हिंसामांद्य होनेसे परिग्रहाल्पत्व होता है। अब इहांपर यह बतलाया जाता है कि चौदहप्रकारके अंतरंग परिग्रहसे आत्माकी क्या हानि होती है?

सम्यग्दर्शनके घातक चोर।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वं।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वार्थाश्रद्धाने) तत्त्वार्थके अश्रद्धान करनेमें (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन (प्रथमं एव) पहले ही (निर्युक्तं) नियत है (चत्वारः) चार (प्रथमकषायाश्च) प्रथम कषाय भी (सम्यग्दर्शनचौराः) सम्यग्दर्शनके चुरानेवाले हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान बतलाया गया है उस तत्त्वार्थश्रद्धानको नष्ट करनेवाला कर्म दर्शनमोहनीय है। दर्शनमोहनीय कर्मके यद्यपि तीन भेद हो जाते हैं। एक सम्यक्त्वप्रकृति, दूसरी सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरी मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीनोंमें मिथ्यात्व ही मूलकर्म है, उसीके दोनों उत्तर भेद हैं इसलिए वही प्रधान सम्यग्दर्शनगुणका घात करनेवाला कार्य है। जिससमय आत्मामें मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है उसी समय आत्माका सम्यग्दर्शनगुण सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय

आत्मा विना किसीके उपदेश आदि निमित्तके स्वयंमेव विपरीत बुद्धिवाला बनकर पदार्थोंका उलटा अथवा मिथ्याश्रद्धान करने लग जाता है। यह उसी मिथ्यात्वकर्मके उदयका माहात्म्य है। इस कर्मका उदय प्रथम गुणस्थान अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। जीवका सबसे बडा अनिष्ट करनेवाला एवं उसकी सबसे प्रियतम निधि स्वानुभूतिको चुरानेवाला मिथ्यात्व है। उसीप्रकार अनंतानुबंधि क्रोध, अनंतानुबंधि मान, अनंतानुबंधि माया और अनंतानुबंधि लोभ, ये प्रथम चार कषाय भी सम्यग्दर्शन-गुणके चुरानेवाले—चोर हैं, अर्थात जिससमय जीवका सम्यग्दर्शन गुण चतुर्थ गुणस्थानमें प्रगट रहता है, वहांपर यदि अनंतानुबंधिकषायमेंसे किसी एकका उदय हो जाता है तो आत्माका सम्यग्दर्शनगुण तुरंत नष्ट हो जाता है और वह आत्मा वहांसे गिरकर द्वितीय गुणस्थान—सासादनमें पहुंच जाता है। अनंतानुबंधि कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीय कर्मके भेदोंमें गिनाया गया है परंतु उसमें चारित्रके साथ सम्यग्दर्शनगुणके घात करनेकी भी सामर्थ्य है इसलिए उसे सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें भी सामिल किया गया है इसीलिये सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियां समझी गई हैं। अनंतानुबंधिकषायका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है आगे नहीं। द्वितीयगुणस्थानमें जीवके मिथ्यात्वोन्मुख (मिथ्यात्वके सन्मुख) वैभाविक परिणाम रहते हैं। इस विषयका विशेष विवेचन सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते समय विस्तृत किया जा चुका है इसलिये यहांपर विशेष नहीं लिखा।

देशचारित्रका घात करनेवाले कषाय।

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सम्मुखायाताः
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुद्धयंति ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ—[द्वितीयान् च] द्वितीय कषाय-अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायोंको भी [प्रविहाय] छोड देनेसे [देशचरित्रस्य] एकदेशचारित्रके [सम्मुखायाताः 'भवंति'] सम्मुख होते हैं अर्थात् एकदेशचारित्रको धारण करते हैं [हि] क्योंकि [ते कषायाः] वे चारों कषाय [नियतं] नियम-रूपसे [देशचरित्रं] एकदेशचारित्रको [निरुन्धंति] रोकते हैं।

विशेषार्थ—प्रत्याख्यान नाम चारित्रका है 'अ' नाम ईषत्का है, आवरण नाम रोकनेका है अर्थात् जो ईषत् (थोडे-एकदेश) चारित्रको रोक दे वह अप्रत्याख्यानावरणकर्म कहा जाता है। यह कर्म चारित्रमोहनीयका दूसरा भेद है, चौथे गुणस्थानतक इस कर्मका उदय रहता है। इसलिए वहांतक जीव चारित्रके धारण करनेमें असमर्थ है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीकषाय एकदेश चारित्रका घात करने-वाला है उसकी जहांतक उदयावलिमें स्थिति रहेगी वहांतक देशचारित्र नहीं धारण किया जा सकता। इसीलिये जीव चतुर्थ गुणस्थानतक अव्रती रहते हैं, वहांतक व्रत धारण करनेकी इच्छा ही जीवोंमें नहीं उत्पन्न होती, यह कुछ कर्मकी अद्वितीय विचित्रता एवं सामर्थ्य है कि जीवोंके परिणामोंमें इसप्रकारकी मलिनता समा जाती है जिससे कि व्रत धारण करनेकी बुद्धि जागृत ही नहीं होती और यदि सम्यग्ज्ञा-नियोंकी इच्छा सम्यक्त्वके प्रभावसे होती भी है तो चारित्रमोहनीय यह द्वितीय कषाय उन्हें नियमित-रूपसे-प्रतिज्ञारूपसे व्रत पालने नहीं देता, मोहितबुद्धि उन्हें विमोहित बनाकर व्रतभ्रष्ट बना देता है। इसलिए चौथे गुणस्थानतक नियमितरूपसे जीव व्रतोंके धारण करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। यदि यहां यह कोई शंका करे कि तब तो चतुर्थगुणस्थानतक सभी भ्रष्टाचारी ही रहते हैं, सो ठीक नहीं है। चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके प्रभावसे आत्मा धर्मकी दृढप्रतीतिवश व्रतोंको स्वीकारकर उन्हें पालता है,

विषयोंसे प्रवृत्तिको हटाता है, जीवोंकी रक्षामें सावधान भी होता है। इच्छाओंका निरोध भी करता है परंतु यह सब कार्य उसका स्थायी नहीं रह सकता, वह चारित्रमोहनीयके तीव्र झकोरेसे विशृंखल एवं निर्मर्याद हो जाता है। उस अवस्थामें आत्मा इंद्रियोंको वशंगत करनेमें असमर्थ बन बैठता है, विषयोंकी ओर अनिच्छा होनेपर भी झुक पडता है। जीवहिंसासे भी विरत नहीं हो पाता ऐसी दशामें वह नियमितरूपसे व्रतोंको नहीं पाल सकता अतएव वह व्रतोंका अभ्यासी समझा गया है, वह उन्हें नियमितरूपसे नहीं किंतु अभ्यासरूपसे पालता है। इसीलिये पाक्षिक श्रावकको व्रताभ्यासी कहा गया है न कि व्रतधारी—नैष्ठिक। पाक्षिक श्रावक अभ्यासरूपसे किन्हीं व्रतोंको पालनेपर भी प्रतिमारूपसे—नियमित क्रमवृत्तिसे व्रती नहीं कहा जा सकता। यही बात पंचम और चतुर्थगुणस्थानमें अंतर डालती है। जहां द्वितीय कषायका अनुदय हुआ वहीं झट आत्माके परिणाम उस जातिकी निर्मलता धारण कर लेते हैं कि झट व्रतोंके पालन करनेमें आत्माकी निर्बाध प्रवृत्ति बनी रहती है। इसलिए सिद्ध होता है कि कर्मोंका उदय आत्माके गुणोंको प्रगट होने नहीं देता।

शेष परिग्रहोंके परित्यागका उपदेश।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामंतरंगसंगानां।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ—[शेषाणां सर्वेषां] बाकीके समस्त [अंतरंगसंगानां] अंतरंगपरिग्रहोंका [निजशक्त्या] अपनी शक्तिके अनुसार [मार्दवशौचादिभावनया] मार्दव शौच आदि भावनाओंके द्वारा [परिहारः कर्तव्यः] त्याग कर देना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रथम तो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायोंको छोडना परम आवश्यक है, दूसरे द्वितीयकषायको छोडना चाहिये। इतना कर्मोदय हट जानेपर जीव सम्यग्ज्ञानी एवं एकदेश व्रती बनकर सन्मार्गावलंबी हो जाता है। यद्यपि केवल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर भी सन्मार्गावलंबी जीव बन जाता है परंतु वहांपर वह उस मार्गपर पहुंचकर भी परमध्येयकी प्राप्तिमें प्रवृत्त नहीं हो पाता। परमध्येयकी प्राप्तिमें प्रवृत्ति किये विना मनुष्य पर्यायकी सार्थकता नहीं हो पाती, कारण सम्यक्त्वप्राप्ति तो जीवको चारों ही गतियोंमें हो जाती है परंतु मनुष्यपर्यायकी सार्थकता विना चारित्रके नहीं होती इसलिये कमसे कम एकदेश चारित्र धारण करके मनुष्य पर्यायको सफल बनाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, उसी पर्यायको लक्ष्य करके आचार्यका उपदेश है। इसलिये मिथ्यात्व और द्वितीयकषायके त्यागका आवश्यक उपदेश देकर बाकी कषायोंके त्यागके लिये 'निजशक्त्या' पद उन्होंने दिया है। अर्थात् देशचारित्रको भी प्राप्त करना प्रत्येक गृहस्थका परमकर्तव्य है इसके पश्चात् बाकीके जो अंतरंग परिग्रह हैं-प्रत्याख्यानावरणकषाय, संज्वलनकषाय तथा नवनोकषाय, इनको भी अपनी शक्तिके अनुसार छोडना चाहिये। इनके छोडनेके लिये उपाय भी ग्रन्थकारने साथ ही बतला दिया है कि मार्दव शौच आदि भावनाओंको भानेसे वह परिग्रह छोडे जा सकते हैं। भावनाओंके भानेसे परिणामोंमें दृढता एवं विशेष निर्मलताकी वृद्धि होती है इसलिये भावनाएं उन कषायवासनाओंके छुडानेमें पूर्ण समर्थ हैं।

बाह्यपरिग्रहके त्यागका उपदेश।

बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥ १२७॥

अन्वयार्थ—[यस्मात्] जिस [बहिरंगात् अपि संगात्] बाह्य परिग्रहसे भी [अनुचितः असंयमः] अनुचित असंयम [प्रभवति] उत्पन्न होता है [तं अचित्तं वा सचित्तं वा] उस अचित्त अथवा सचित्त [अशेषं] समस्त परिग्रहको [परिवर्जयेत्] छोड देना चाहिये।

धन धान्यादि भी कम करने उचित हैं।

योपि न शक्तस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोपि तनूकरणीयः निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं॥ १२८॥

अन्वयार्थ—[यः अपि] जो कोई भी [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि] धन, धान्य, मनुष्य, घर, द्रव्य आदि [त्यक्तुं] छोडनेकेलिये [न शक्तः] नहीं समर्थ है [सोपि] वह परिग्रह भी (?) [तनूकरणीयः] कम करना चाहिये [यतः] क्योंकि [तत्त्वं निवृत्तिरूपं] तत्त्वस्वरूप निवृत्तिस्वरूप है।

विशेषार्थ—जिन पदार्थोंसे अधिक ममत्व है, जिन्हें छोडनेमें यह मनुष्य असमर्थ है, उन्हें भी कम करना चाहिये कारण आत्माका निज स्वरूप अन्य सब पदार्थोंसे भिन्न है इसलिये वह तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि आत्मा जहांतक हो परपदार्थोंका त्याग करता चला जाय। जितने अंशमें पर-पदार्थ घटाया जा सके उतना घटाना चाहिये। जिस अवस्थामें पर पदार्थोंका संबंध आत्मासे नहीं रहता वही आत्मतत्त्वका निज रूप है।

रात्रिभोजनका त्याग।

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥ १२९॥

अन्वयार्थ---[यस्मात्] जिस कारण [रात्रौ भुंजानानां] रात्रिमें भोजन करनेवालोंके [अनिवारिता हिंसा भवति] अनिवार्य हिंसा होती है [तस्मात्] इसलिये [हिंसाविरतैः] हिंसासे विरक्त होनेवाले पुरुषोंको [रात्रिभुक्तिः अपि] रात्रि भोजन भी [त्यक्तव्या] छोंड देना चाहिये ।

विशेषार्थ---भोजन शरीर रक्षाके लिये आवश्यक है, वह करना ही होगा, परंतु दिनमें भोजन करनेसे मनुष्य जीवहिंसासे बच सकता है क्योंकि दिनमें यत्नाचारसे निरीक्षणपूर्वक भोजनका ग्रहण होता है। रात्रिमें नेत्रेंद्रियका तेज कम हो जानेसे यत्नाचारका पलना सुतरां अशक्य है इसलिये रात्रिमें भोजन करनेवाला जीववधसे कदापि नहीं बच सकता। भोजनके चार भेद हैं—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय । खाद्यमें रोटी भात पुडी कचोडी आदि खाने योग्य पदार्थ समझे जाते हैं । स्वाद्यमें स्वाद लेने योग्य पदार्थ—जैसे चूर्ण ताम्बूल सुपारी आदि समझे जाते हैं। लेह्यमें रबडी मलाई आदि चाटने योग्य पदार्थ लिये जाते हैं और पेयमें दूध सरबत पानी आदि पीने योग्य पदार्थोंका ग्रहण है । लड्डू बरफी पेडा आदि मिठाई भी खाद्यमें गर्भित है। इन चारों प्रकारके भोजनोंको रात्रिमें नहीं ग्रहण करना चाहिये । अनेक पुरुष रात्रिमें अन्न तो नहीं खाते किंतु रबडी दूध पेडा बरफी आदि विना अन्नके बने हुए पदार्थ खाते रहते हैं। परंतु वास्तवमें शास्त्रकारोंने सभीप्रकारके भोजनका निषेध किया है। क्योंकि किसी भी प्रकारके भोजनके भक्षण करनेमें मनुष्य हिंसासे नहीं बच सकता। जो लोग रात्रिमें पेडा बरफी रबडी दूध आदि खाते हैं उनका खाना शास्त्रदृष्टिसे सर्वथा निषिद्ध है । वास्तवमें विचार किया जाय तो इन बरफी पेडा रबडी आदि पदार्थोंमें तरलताके कारण अधिक जीवोंका समावेश हो जाता है और वे जीव उन तरल पदार्थोंमें यहांतक मिल जाते हैं कि फिर उनका दीखना रात्रिमें नेत्रेंद्रियसे नहीं होता।

रात्रिमें विचरनेवाले मच्छर आदि जीव प्रायः उन पदार्थोंकी सुगंधि पाकर उनके पास जाते हैं और उनपर बैठते ही उन रबडी मलाई दूध आदि तरल पदार्थोंमें सन जाते हैं तथा मरकर वहीं रह जाते हैं। इसलिये ऐसे पदार्थोंका भक्षण कदापि नहीं करना चाहिये। इन पदार्थोंमें रात्रिमें ही मच्छरादिक जीव गिरते हैं दिनमें सूर्यका प्रकाश होनेसे वे जीव कोनोंमें एवं अंधकारपूर्ण स्थानोंमें छिपकर बैठ जाते हैं। इन मिष्ट-पदार्थोंके पास दिनमें वह आते ही नहीं। यदि कदाचित् कोई जीव उडता हुआ आता भी है तो वह सूर्य और नेत्रेंद्रियके प्रकाशवश होनेवाले विशेष अवलोकनसे हटाया जा सकता है। परंतु रात्रिमें उलटे जीवोंका अधिक आगमन होता है इसलिये रात्रिमें पेडा बरफी रबडी मलाई दूध आदि पदार्थोंका खाना भी निषिद्ध है। हिंसासे डरनेवालोंको ऐसे पदार्थ कभी रात्रिमें नहीं भक्षण करना चाहिये। अन्नकी बाढ रोककर मीठा खानेवाले यद्यपि शास्त्रके विरुद्ध गमन करते हैं परंतु वे अन्नके त्यागकी मर्यादा रखकर बहुभाग अन्नके निमित्तसे होनेवाली आरंभजनित हिंसासे तो बच जाते हैं परंतु उनसे बढकर वे हिंसा करनेवाले पुरुष हैं जो यह कहते हुए कि पेडा बरफी रबडी आदिकी अपेक्षा रोटी चना आदि जो तरल पदार्थ नहीं हैं उनका खाना ठीक है, रात्रिमें रोटी पूडी कचौडी आदि सभी पदार्थ खाते हैं। रात्रिमें अन्नका पदार्थ खानेवाले क्यों अधिक हिंसक हैं? इसका उत्तर यह है कि जिसने रात्रिमें निर्मर्याद प्रवृत्ति रखकर अन्नतक खाना स्वीकार करलिया वह चारों प्रकारके भोजनोंमेंसे किसीप्रकारके भोजनका रात्रिमें त्याग नहीं कर सकता क्योंकि भोजनोंमें, पेट भरनेवाला सबसे पुष्ट एवं रुचिर अन्न ही है। यदि वही ग्रहण कर लिया तो उसके संसर्गसे दाल साग दूध आदिका भी ग्रहण बचाया नहीं जा सकता। दूसरे जब रात्रिमें रोटी वगैरहका ग्रहण ही करलिया तब धीरे धीरे ठंडी रोटीसे अरुचि होकर

गरम गरम बनवानेकी इच्छाका उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात है। ऐसी अवस्थामें रात्रिमें रोटी वगैरह भोजन करनेवाले रात्रिमें ताजा भोजन अवश्य बनायेंगे, उस समय चूला आदिका पूरा आरंभ त्रस स्थावर हिंसाका पूर्ण विधायक होगा। कारण रात्रिमें इधर उधर बैठे हुये जीव हटाये नहीं जा सकते वे सब मारे जाते हैं। चूलामें बैठी हुई चिउंटी कीडा मकोडा आदि जीव रात्रिके आरंभसे बचाये नहीं जा सकते इसलिये अपने कुतर्कबलसे रात्रिमें भोजन करनेवाले त्रस स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाके भाजन हैं। जो अन्नका बचाव रखते हैं वे कुछ तो मर्यादा रखते हैं, एक बडे आरंभसे तो बचे रहते हैं परंतु शास्त्रदृष्टिसे वे भी रात्रिभोजी होनेसे मर्यादोलंघी हैं परंतु उस विरुद्धगमनसे लाभ उठाकर अपने कुतर्कबलसे अपेक्षाकृतलाघवका स्वार्थपूर्ण कथन करते हुए जो अन्नादि समस्त पदार्थोंका सेवन करते हैं, वे नितांत उच्छृंखल हैं ऐसे पुरुष शास्त्रवचनोंके परिपालक कभी नहीं कहे जा सकते।

पाक्षिक श्रावकके लिये जो औषधि और साथ ही मुखशुद्धिके लिये तांबूल इलायची आदिका कथन है उसके प्रमाणमें ग्रंथांतरका यह श्लोक है—"तांबूलमौषधं तोयं मुक्त्वाहारादिकां क्रियां। प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत्" अर्थात् जबतक रात्रिके आरंभसे प्रातःकाल न हो जाय तब-तक तांबूल औषध जल इनको छोडकर अन्य समस्त आहारका परित्याग करदेना चाहिये। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जो लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि रात्रिभोजनका त्याग छठी प्रतिमामें होता है, उससे पहले रात्रिभोजनका त्याग नहीं है, वे स्वार्थसिद्धिवश मिथ्या बोलनेके लिये या तो अति साहस करते हैं अथवा वे बिचारे प्रतिमाओंके स्वरूपसे एवं शास्त्राधारसे नितांत अनभिज्ञ हैं। वास्तवमें रात्रिभोजनका त्याग तो पहलीप्रतिमामें ही हो जाता है, पाक्षिकश्रावक भी रात्रिभोजनका

त्यागी है केवल औषधि जल एवं मुख सुगंधित करनेके लिये तांबूल सुपारी वह ले सकता है, इतर खाद्य लेह्य पेय स्वाद्य पदार्थोंका रात्रिमें उसके भी त्याग बतलाया गया है, फिर दर्शनप्रतिमामें सभी वस्तुओंका त्याग हो जाता है। व्रतप्रतिमामें तो सम्पूर्ण व्रतोंका निरतिचार पालन है ऐसी अवस्थामें पांचवीं प्रतिमा तक रात्रिभोजनका विधान बतलाना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। रात्रिभोजनत्याग जो छठी प्रतिमाका नाम रक्खा गया है उसका प्रयोजन नव भंगोंके त्यागकी पूर्णतासे है अर्थात् वहांपर वह रात्रिभोजन करनेवालेकी अनुमोदना भी नहीं कर सकता, एवं रात्रिभोजन अच्छा है अथवा करलेना चाहिए इस बातको वह मनमें भी नहीं ला सकता। क्योंकि छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका त्याग मन वचन काय नव कृत कारित अनुमोदना इन नव भंगोंसे किया जाता है।

रात्रिभोजीको हिंसा क्यों लगती है ?

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसां।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥ १३० ॥

अन्वयार्थ—(अनिवृत्तिः) भोजनका त्याग नहीं करना (रागाद्युदयपरत्वात्) रागादिके उदयके परतंत्र होनेसे अर्थात् रागाधिक्य होनेसे (हिंसां न अतिवर्तते) हिंसाको नहीं बचा सकता है। (हि) तब (रात्रिंदिवं आहरतः) रात्रिदिन खानेवालेको (हिंसा कथं न संभवति) हिंसा क्यों नहीं लगेगी ? अर्थात् उसे अवश्य हिंसा लगती है।

विशेषार्थ—हिंसा नाम आत्मपरिणामोंके विघातका है। आत्मपरिणामोंका विघात रागद्वेषरूप कषायप्रवृत्तिसे होता है इसलिये जिन प्रवृत्तियोंके करनेसे रागकी वृद्धि हो वे सब हिंसाजनक हैं। जब

कि विवेकपूर्वक किये गये दिवा भोजनमें भी रागाधीन प्रवृत्ति होनेसे हिंसा होती है तब रात्रिभोजनमें तो जीवरक्षणका विवेक बन ही नहीं सकता। वहां तो तीव्ररागके उदयसे ही प्रवृत्ति होना संभव है इसलिये तीव्र हिंसा अवश्यंभाविनी है और फिर जो रातदिनका विवेक न कर चाहे जब खानेवाला है उसकी वैसी प्रवृत्ति तो सिवा तीव्ररागके नहीं हो सकती। इसलिये तीव्ररागके उदयमें तीव्र हिंसाका होना अनिवार्य है।

शंका।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ—(यदि एवं) यदि ऐसा है कि दिनरात भोजन करनेमें हिंसा होती है (तर्हि) तो (दिवा भोजनस्य परिहारः कर्तव्यः) दिनमें भोजनका परिहार करना योग्य है (तु) और (निशायां भोक्तव्यं) रात्रिमें भोजन करना चाहिये (इत्थं) ऐसा करनेसे अर्थात् दिनमें भोजनका त्याग और रात्रिमें भोजन करनेसे (हिंसा नित्यं न भवति) हिंसा सदैव नहीं होती है।

विशेषार्थ—शंकाकारका कहना है कि जब रात्रिदिन खानेवालेको तीव्ररागी कहकर रात्रिभोजनका त्याग बतलाया गया है तब दिनमें ही भोजन करनेका त्याग क्यों न किया जाय? कारण दिनरातमेंसे एक समयमें भोजन छोडना पडता है, एक समयमें उसका ग्रहण करना भी अनिवार्य है। जब उसका ग्रहण होगा तभी राग होगा जब उसका त्याग होगा तभी रागकी कमी होगी इसलिये रात्रिके चारपहरमें तो भोजन ग्रहण किया जाय और दिनके चारपहरमें उसका त्याग कर दिया जाय क्योंकि चारपहर कहीं

भी छोड देना चाहिये। ऐसा करनेसे जो रातदिन भोजन करनेसे सदैव हिंसा हुआ करती है वह नहीं हो सकेगी?

उत्तर।

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ—(नैव) इसप्रकार कुतर्क नहीं करना चाहिये (हि) क्योंकि (वासरभुक्तेः) दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रिमें भोजन करनेपर (रागः अधिकः भवति) राग अधिक होता है (अन्नकवलस्य भुक्तेः) अन्नके ग्रासके खानेकी अपेक्षा (मांसकवलस्य भुक्तौ इव) मांसके ग्रासके खानेमें जैसे अधिक राग होता है।

विशेषार्थ—शंकाकारने जो ऊपर रात दिन भोजनमें समान दोष बतलाकर रात्रिभोजनका विधान और दिवा भोजनका निषेध बतलाया था उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार विपरीतमार्गका अनुसरण करना ठीक नहीं है, यह बात हेतुपूर्वक सिद्ध है कि दिनकी अपेक्षा रात्रिभोजनमें अधिक राग है। जिसप्रकार अन्नकी अपेक्षा मांसके खानेमें अधिक राग है। यह बात हम पहले कह चुके हैं कि जो विशेष पापरूप कार्य हैं उनके सेवन करनेमें तीव्र राग होता है कारण जो पदार्थ निषिद्ध है फिर उसमें प्रवृत्तिका होना विना किसी विशेष बलवती प्रेरणाके नहीं हो सकता। इसलिए पापिष्ठ एवं निषिद्ध पदार्थोंमें प्रवृत्ति देखकर यह अनुमान सहज हो जाता है कि वैसी घृणित प्रवृत्तिमें तीव्ररागकी प्रेरणा है। विना तीव्ररागके उदय हुए निषिद्ध पदार्थमें समझदार पुरुष प्रवृत्ति करेगा ही क्यों? तथा जो पदार्थ विशेष

हिंसाका उत्पादक है एवं हिंसामय ही जिसका स्वरूप है उसका सेवन महान् पापवर्धक है, ऐसे पदार्थोंके सेवनका ही दयालु महर्षियोंने निषेध किया है। मांस साक्षात् जीवका कलेवर है और निरंतर अनंत जीवोंकी उत्पत्ति उसमें सदैव होती रहती है, ऐसे महा घृणित जीवपिंडका भक्षण करना महा पापवर्धक हिंसाका कारण है इसीलिये उसका सबसे प्रथम सर्वथा त्याग बतलाया गया है। जैनशास्त्रकारोंने विना मांसका त्याग किए जैनधर्म धारणकी ही अशक्यता बतला दी है। इसीलिये अष्ट मूलगुणधारी जैन-मात्रके लिये उसका परित्याग आवश्यक है। फिर भी जो सर्वथा निषिद्ध—मांसके सेवन करनेमें तत्पर हो जाते हैं उन्हें सिवा तीव्ररागीके और क्या कहा जा सकता है। निषिद्ध पदार्थोंमें तीव्रमोही आत्मा ही प्रवृत्त होता है अन्न सात्विक पदार्थ है, मांस महा विकृत है उसके स्पर्शमात्रसे मनुष्य हिंसाका भाजन बन जाता है। इसलिए जिसप्रकार अन्नके भोजनमें विशेष राग नहीं है किंतु मांसके खानेमें तीव्रराग है इसलिए अन्नभोजीको हिंसा नहीं लगती और मांसभोजीको तीव्र हिंसा लगती है उसीप्रकार दिवाभोजी और रात्रिभोजी दोनोंमें रात्रिभोजीको अधिक रागी होनेसे तीव्र हिंसा लगती है। कारण कि भोजनका ग्रहण करना अनिवार्य होनेपर भी दिवाभोजी निरीक्षणादि प्रयत्नसे जीवरक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ है प्रकाश अवलोकन आदि उसे साधन मिले हुए हैं परंतु रात्रिभोजी प्रयत्न करनेपर भी जीवरक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ है। रात्रिमें उसे प्रकाश अवलोकन आदिका मिलना भी कार्यकारी नहीं है। रात्रिके प्रकाशमें जीवसंचारका ही आधिक्य है इसलिए रात्रिभोजी किसीप्रकार हिंसासे मुक्त नहीं हो सकता। तथा जो रात्रिभोजी हैं उनके जीवरक्षाके भाव भी नहीं उत्पन्न होते, यदि वास्तवमें उनके जीवरक्षाके भाव होते तो क्यों नहीं वे रात्रिभोजन छोडते? हर समय तो कोई खाता नहीं रहता और न हर समय

कोई खा ही सकता है ऐसी अवस्थामें जीवरक्षाका भाव रखनेवालोंको भोजन करनेके लिये दिन तो मिला हुआ है। फिर भी जो दिनका भोजन छोडकर रात्रिमें ही भोजन करनेमें सुख समझते हैं वे जीवरक्षाके भावसे सर्वथा दूर हैं और तीव्ररागी होनेसे पूर्ण हिंसक हैं।

रात्रिभोजनमें अनिवार्य जीवहिंसा।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां।
अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनां ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ—(अर्कालोकेन विना) सूर्यके प्रकाशके विना रात्रिके अंधकारमें (भुंजानः) भोजन करनेवाला (प्रदीपे बोधिते अपि) दीपकके जला लेनेपर भी (भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनां) भोजनमें प्रीतिवश गिरनेवाले सूक्ष्म जंतुओंकी (हिंसां) हिंसाको (कथं) कैसे (परिहरेत्) बचा सकता है ? अर्थात् नहीं बचा सकता।

विशेषार्थ—रात्रिमें भोजन करनेवाले लोग जीवहिंसासे किसीप्रकार बच नहीं सकते, कारण कि रात्रिमें सूर्यका प्रकाश तो रहता ही नहीं है। विना सूर्यके प्रकाशके नेत्रइंद्रिय पदार्थोंको ठीक ठीक देखनेमें असमर्थ है। इसलिए अंधकारमें बैठकर भोजन करनेवाले पुरुष भोजनकी थालीमें आए हुए प्राणियोंको कैसे देख सकते हैं ? सूक्ष्म जंतु तो दूर रहे, बडे बडे जीव भी अंधेरेमें नहीं दीख सकते और रात्रिमें बहुतसे छोटे छोटे मच्छर सरीखे जीव जो दिनमें—सूर्यके प्रकाशमें चलते फिरते नहीं किंतु कूडे कचरेवाले स्थानोंमें कोनोंमें छिपे बैठे रहते हैं वे रात्रिमें निकलते हैं और भोजनकी सुगंधि पाकर वहां उड उड कर पहुंचते हैं तथा भोजनको स्पर्श करते ही द्रवीभूत वस्तुओंपर—दाल, घी, दूध, छाछ, रबडी साग आदिपर गिरकर मरजाते हैं ऐसे सूक्ष्म जंतुओंको अंधेरेमें भोजन करनेवाला पुरुष क्या कभी देख

सकता है ? कभी नहीं देख सकता। यदि वह दीपक सामने रखकर उसके प्रकाशमें भोजन करने बैठता है तो भी उसके प्रकाशमें नेत्रइंद्रियके विषयी पतंगे आदि आ आकर भोजनपर पडते हैं। यदि दीपक दूर रक्खा जाता है तो फिर थालीपर पूर्ण प्रकाश नहीं पडता वैसी अवस्थामें अंधेरा हो जाता है फिर भी दीखना कठिन है। प्रकाश पासमें रक्खा जाता है तो दीपकके प्रकाशमें और बडे बडे जीव आ आकर गिरते हैं उनसे सर्वथा बचना नहीं हो सकता इसलिये रात्रिमें भोजन करनेवाला जीवहिंसा ही केवल नहीं करता है किंतु अनेक त्रसजीवोंको साक्षात् भक्षण कर जाता है। जो चिउंटी कीडा वगैरह थालीमें रेंगती हुई चढजाती हैं वह भी दृष्टिगत नहीं पडतीं। रात्रिका प्रकाश कितना ही तेजस्वी क्यों न हो उसमें नेत्रेंद्रिय उतना स्पष्ट और यथाभावको नहीं देख सकती जितना कि सूर्यके प्रकाशमें देख सकती है। ऐसी दशामें रात्रिभोजीके पेटमें यदि मकरी चली जाय तो भोजन करनेवालेको कुष्ठरोग हो जाता है। यदि दूध वगैरहमें पडी हुई मक्खी चली जाय तो वमन (उलटी) हो जाती है। यदि शिरका अथवा कपडेका जुआं थालीमें गिरकर पेटमें चला जाय तो जलोदर हो जाता है। मुद्रिका खा जानेसे मेदाको हानि पहुंचती है। बिच्छू खा जानेसे तालूमें रोग हो जाता है। कांटा वा लकडी खा जानेसे गलेमें रोग हो जाता है। भोजनमें बाल (केश) खा लिया जाय तो स्वरभंग एवं गलेमें पीडा हो जाती है। ये सम्पूर्णदोष रात्रिमें भोजन करनेवालोंको लगते हैं, कारण दिनमें इन सब जन्तुओंको नेत्र इंद्रियसे सूर्यप्रकाशमें अच्छी तरह देखा जाता है रात्रिमें उनका दीखना अशक्य है। लड्डू आदि पदार्थोंमें भी जो जीव कदाचित मिल जाते हैं तो उन्हें भी रात्रिमें नहीं देखा जा सकता। फिर रात्रिमें भोजन तयार करनेमें छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है। जहांपर गरम या ठंडा पानी फेंका जाता है

वहांके जीव रात्रिमें नहीं दीखते, वे सब मर जाते हैं। इसलिये रात्रिमें भोजन करनेवाले विवेकशून्य हैं, ऐसे पुरुष नियमसे मरकर दुर्गतिके पात्र बनते हैं। इसलिये प्रत्येक विचारशील दयालु पुरुषको रात्रि-भोजन त्यागदेना ही परम आवश्यक है।

रात्रिभोजनत्यागी ही अहिंसापालक है।

किंवा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ—(बहुप्रलपितैः) बहुतसा कहनेमें (किं वा) क्या फायदा है (इति) इसप्रकार ऊपरके समस्त विवेचनसे (सिद्धं) यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि (यः मनोवचनकायैः) जो मन वचन कायसे (रात्रिभुक्तिं परिहरति) रात्रिभोजनका त्याग करता है (सः) वह (सततं अहिंसां पालयति) वह निरंतर अहिंसाव्रतको पालता है।

विशेषार्थ—अधिक कहना व्यर्थ है जो मन वचन कायसे रात्रिभोजनका त्याग करदेता है वही अहिंसाव्रतका निरंतर पालनेवाला है। हरएक वस्तुका त्याग नवभंगोंसे होता है। जो जितने भंगोंसे वस्तुका त्याग करता है वह उतने ही अंशोंका त्यागी कहलाता है। कोई मन वचन काय तीनोंसे त्याग करता है, कोई मनसे त्याग नहीं कर सकता, वचनसे और कायसे करता है। कोई स्वयं करता है, कोई दूसरोंसे भी कराता है, और कोई त्याग नहीं करनेवालेकी प्रशंसा भी नहीं करता, इसप्रकार हरएक वस्तुके त्यागके नौ भंग हैं, उनमें पूर्णत्यागी वही कहा जाता है जो त्याज्य वस्तुका नव भंगोंसे ही त्याग करता है।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतंते प्रयांति ते मुक्तिमचिरेण ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—(ये स्वहितकामाः) जो अपने हितके चाहनेवाले पुरुष (इति अत्र त्रितयात्मनि मोक्षस्य मार्गे) इसप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्षके मार्गमें (अनुपरतं प्रयतंते) निरंतर प्रयत्न करते हैं (ते अचिरेण) वे शीघ्र ही (मुक्तिं प्रयांति) मोक्षको प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—अपने हितकी चाहना रखनेवाले जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस त्रितयस्वरूप मोक्षमार्गका निरंतर सेवन करते हैं वे बहुत जल्दी मोक्षको प्राप्त करते हैं। रत्नत्रय पालन करनेका फल मोक्षप्राप्ति ही है और वही संसारदुःखका विच्छेद है, संसारदुखोंका विच्छेद-नाश ही जीवोंका हित है। इसलिये मोक्षमार्गका सेवन करना ही प्रत्येक शरीरधारीका परम कर्तव्य है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके पश्चात् पंचअणुव्रतरूप देशचारित्रका वर्णन किया गया।

सप्त शील पालनेकी आवश्यकता।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयंति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—(इव नगराणि परिधयः) जिसप्रकार नगरोंकी रक्षा परकोट करते हैं उसीप्रकार (किल) निश्चयसे (व्रतानि शीलानि पालयंति) व्रतोंकी रक्षा शील करते हैं (तस्मात) इसलिये (व्रतपालनाय) अहिंसा आदि पंचव्रतोंके पालन करनेकेलिये अथात् उनकी रक्षा करनेकेलिये (शीलानि अपि पालनीयानि) शील भी पालन करने चाहिये।

विशेषार्थ---पहले समयमें जबकि अपने देशके ही राजा होते थे प्रत्येक नगरकी रक्षाके लिये परकोट बना दिये जाते थे, अर्थात् शहरके चारों ओर बहुत ऊंची मोटी दीवाल खडी कर दी जाती थी और चारों दिशाओंमें चार दरवाजे एवं छोटी खिडकियां रख दी जाती थीं जो कि रात्रिमें बंद कर दी जाती थीं, उनसे परराष्ट्र एवं चोर आदिसे प्रजाकी रक्षा सुगमतासे की जाती थी। शास्त्रोंमें इसप्रकारकी नगररचनाका वर्णन प्रायः सर्वत्र मिलता है। आजकल भी जैपुर, भरतपुर, कोटा, झालरापाटन, आदि पुरातन रजवाडोंमें परकोट देखे जाते हैं। तो जिसप्रकार नगरोंकी रक्षाके लिये परकोटका होना आवश्यक है, विना परकोटके परराष्ट्रसे नगरकी रक्षाका होना अशक्य है उसीप्रकार अहिंसादि अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये सप्तशीलोंके पालनेकी भी नितांत आवश्यकता है, विना शीलोंके पालन किये व्रतोंका पालन निर्विघ्न एवं निर्दोष रीतिसे नहीं बन सकता। सात शीलोंमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत लिये गये हैं। उनमें दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इन्हीं सातोंको शीलव्रत कहते हैं। अर्थात् पांचों अणुव्रतोंकी हरप्रकारसे रक्षा करना ही इनका स्वभाव है इसलिये इनका नाम शीलव्रत है। जिससमय आत्मा दिशा आदिकी मर्यादा करलेता है, विना प्रयोजनके हिंसाके कारणोंमें नहीं प्रवृत्त होता है, सामायिक आदि द्वारा मनको पवित्र बना लेता है, भोग उपभोगादिकोंका परिमाण कर तृष्णाको घटा डालता है उस समय उसकी प्रवृत्ति पुनरपि ऐसी बन जाती है कि हिंसा झूठ आदि पाप उस आत्मासे बनता ही नहीं। प्रत्युत अहिंसा सत्य आदि व्रतोंमें दृढता हो जाती है। इसलिये व्रतोंका पालन करनेवालोंको शीलोंका पालन करना परमावश्यक है। अब उन्हींका विवेचन किया जाता है।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥ १३७ ॥
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलाऽसंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णं ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ—(सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः) सुप्रसिद्ध संकेत स्थानों द्वारा (सर्वतः अपि) समस्त दिशाओंमें ही (मर्यादां प्रविधाय) मर्यादा करके (प्राच्यादिभ्यः) पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंसे (अविचलिता विरतिः कर्तव्या) दृढरूप कभी विचलित नहीं होनेवाली विरक्ति लेना चाहिये । (इति) इसप्रकार (यः) जो (नियमितदिग्भागे) नियत दिशाओंके विभागमें (प्रवर्तते) प्रवर्तन करता है (तस्य) उस पुरुषके (ततः बहिः) उस मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर (सकलासंयमविरहात) सम्पूर्ण असंयमका अभाव होनेसे (पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति) पूर्ण अहिंसाव्रत होता है ।

विशेषार्थ—दिग्व्रतमें दिशाओंका परिमाण कर लिया जाता है कि पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे आदि दशों दिशाओंमें अमुक क्षेत्र, अमुक नगर, अमुक ग्राम, अमुक नदी, अमुक पर्वत, अमुक जंगल तक हम जा सकते हैं इस नियत क्षेत्रसे आगे अपने किसी भी स्वार्थसाधनके लिये आगे नहीं जांयगे । कोई भी निजी प्रयोजन कभी क्यों न हो, दिग्व्रती नियतक्षेत्रसे आगे नहीं जायगा और न पत्रव्यवहारादि कारणकलापोंद्वारा बाह्यक्षेत्रसे संबंध ही रक्खेगा । इसलिए मर्यादितक्षेत्रसे बाहर उस

१—किन्हीं २ प्रतियोंमें 'तस्याः' यह भी पाठ है परंतु उसके माननेपर 'ततः' पद व्यर्थ पड़ता है इसलिये 'तस्य' यही पाठ शुद्ध है ।

दिग्व्रतीके न कभी त्रसहिंसा ही हो सकती है और न स्थावरहिंसा ही हो सकती है, ऐसी अवस्थामें उसके मर्यादितक्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें महाव्रत पल जाते हैं। इसलिए दिग्व्रतीको एक अंशमें उपचारसे महाव्रती कहा जाता है। यहांपर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब मर्यादाके बाहर त्रसहिंसा स्थावरहिंसा दोनों प्रकारकी हिंसाका दिग्व्रतीके सर्वथा परित्याग है तो फिर वह उपचारसे महाव्रती क्यों मुख्यरूपसे महाव्रती क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि उसे मुख्य महाव्रती इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह अभी वास्तवमें तो देशव्रती है, महाव्रतका विरोधी प्रत्याख्यानावरण कषाय अभी उसके उदयमें आ रहा है जो कि सकलसंयमका विघातक है। इसलिए मर्यादितक्षेत्रके बाहरकी अपेक्षा भी उसे मुख्यतासे महाव्रती नहीं कहा जा सकता। तीसरे महाव्रत नग्न दिगम्बर अवस्थामें होता है। दिग्व्रती गृहस्थके वह बाह्य-निमित्त भी अभी नहीं है। मर्यादाके भीतर तो वह हिंसासे बच ही नहीं सकता, कारण आरंभ आदि कारणोंसे स्थावरहिंसा व विरोधिनी त्रसहिंसा भी उससे हो जाती है। इसलिये उसे मुख्यतासे महाव्रती किसी अवस्थामें नहीं कहा जा सकता। परंतु मर्यादाके बाहर वह सब प्रकारका सर्वथा संबंध छोड देता है इसलिए उस क्षेत्रमें उससे त्रस स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाका परित्याग हो जाता है ऐसी अवस्थामें उसे उपचारसे महाव्रती कहना असंगत नहीं है। क्योंकि महाव्रतमें भी त्रस स्थावर दोनों हिंसाओंका परित्याग है, वह दिग्व्रतीके कुछ अंशोंमें हो जाता है इसलिए उपचरित महाव्रती उसे कह दिया जाता है। जो स्थान सदा रहनेवाले होते हैं और प्रसिद्ध होते हैं उन्हीं स्थानोंको वह अपनी मर्यादाका चिह्न बना लेता है। ऐसे चिह्न हरएक दिशामें प्रसिद्ध प्रसिद्ध चीजोंके बना लिए जाते हैं, जैसे दक्षिणमें जानेवाला यह चिह्न बना सकता है कि मैं दक्षिण दिशामें बम्बई नगरसे आगे कभी नहीं जाऊंगा और न उससे

आगेके स्थानादि किसी वस्तुसे किसी प्रकारका संबंध ही रक्खूंगा । इसीप्रकार किसी दिशामें प्रसिद्ध पर्वत, किसीमें नदी, किसीमें जंगल, किसीमें योजनों (कोशों) का परिमाण आदिसे प्रत्येक दिशामें नियमितरूप दृढ प्रतिज्ञा कर ली जाती है और वह सदाके लिये की जाती है।

देशव्रतका स्वरूप ।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनां ।
प्रावधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥ १३९ ॥
इति विरतौ बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विपुलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ—[च तत्रापि] और उस दिग्व्रतमें भी [ग्रामापणभवनपाटकादीनां] ग्राम बाजार भवन—घर पाटक—ग्रामका कुछ हिस्सा आदि स्थानोंकी [परिमाणं] मर्यादाको [नियतकालं प्रावधाय] किसी समयविशेष पर्यंत धारण करके [देशात् विरमणं करणीयं] देशसे विरक्ति कर लेना चाहिये । [इति बहुदेशात् विरतौ] इस प्रकार बहुदेशसे विरक्ति हो जानेपर [तदुत्थं हिंसाविशेषपरिहारात्] उस बहुदेशमें होनेवाली हिंसाविशेषका परित्याग हो जानेसे [तत्कालं विमलमतिः] उस समयतक वह निर्मलबुद्धिका धारी—देशव्रती [विशेषेण] विशेषरूपसे [अहिंसां श्रयति] अहिंसाको पालता है ।

विशेषार्थ—जो मर्यादा दिग्व्रतमें ली जाती है, देशव्रतमें उसके भीतर ली जाती है, जैसे दिग्व्रतमें दक्षिणमें जानेकी मर्यादा किसीने बंबई तक ली थी अब देशव्रतमें वह उस बंबईमें भी कुछ कालके

१—किसी किसी प्रतिमें 'वाटिकादीनां' यह भी पाठ है, वहां उसका अर्थ 'बगीचा आदि' करना चाहिये ।

लिये कमक्षेत्र रखलेता है, जैसे दो महीना या एक महीनाके लिये मैं मनवाड या भुसावलसे आगे नहीं जाऊंगा और न कोई संबंध उससे आगे उतने काल तक रक्खूंगा। इसीप्रकार जो जो मर्यादाएं दिग्व्रतमें ली जाती हैं, देशव्रतमें उनसे भी अधिक घटाई जाती हैं, इतना विशेष है कि यह घटना किसी समय विशेषके लिये ही होता है, जिसप्रकार कि मैं एक घंटा अपने बगीचेसे बाहर नहीं निकलूंगा, एक दिन अमुक गलीसे बाहर नहीं बढूंगा, एक सप्ताह आधे गांवतक ही अपना प्रयोजन रक्खूंगा, एक महीना या एक वर्षमें बारह कोशसे (तीन योजन) आगे किसी दिशामें नहीं जाऊंगा। इसप्रकार जो थोडे थोडे समयके लिये प्रतिदिन या महीना या वर्ष दिनमें जो मर्यादा किसी किसी क्षेत्र विशेष तकके लिये कर ली जाती है उसे देशव्रत कहते हैं। दिग्व्रतमें और देशव्रतमें इतना भेद है कि दिग्व्रत एक बार किया जाता है और वह सदाके लिये-जीवनपर्यंत नियत हो जाता है, उसमें काल बढ नहीं सकता है और न क्षेत्र ही बढ सकता है परंतु देशव्रत प्रतिदिन किया जाता है, उसकी मर्यादा दिग्व्रतमें नियत क्षेत्रकालके भीतर ही की जाती है और एक दिन कम तो दूसरे दिन अधिक भी की जा सकती है भावार्थ-दिग्व्रत व्यापक होता है देशव्रत व्याप्य होता है, अर्थात् दिग्व्रतकी मर्यादाका क्षेत्र विशाल होता है, देशव्रतकी मर्यादाका क्षेत्र उसके भीतर ही होता है बाहर नहीं।

इस देशव्रतके पालनसे अहिंसाव्रतका पालन अच्छी तरह विशेषतासे होता है कारण दिग्व्रतमें जितनी मर्यादा की जाती है उसके भीतर तो दिग्व्रती त्रसस्थावर हिंसाका आरंभादिक करता ही रहता है परंतु देशव्रतमें उस दिग्व्रतके भीतर भी नियतकाल तक मर्यादा लेकर देशव्रती हिंसासे बचजाता है। इसलिये वह उस कालमें निर्मलबुद्धिका धारी अर्थात् विशुद्धपरिणामवाला बनजाता है, तथा विशेषतासे

अहिंसाव्रतका पालन करता है क्योंकि मर्यादित क्षेत्रके बाहर कषाय उत्पन्न होनेका भी निमित्त नहीं रहता। इसलिये प्रत्येक गृहस्थको इसप्रकारके व्रत धारण करके रात दिनके हिंसाजनित पापोंसे बचना चाहिये।

अपध्यान—अनर्थदण्ड व्रतका स्वरूप।

पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥ १४१॥

अन्वयार्थ—[पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः] पापोंकी ऋद्धिस्वरूप अर्थात् अधिक पाप फलको देनेवाले अपना जय दूसरोंका पराजय संग्राम परदारगमन और चोरी आदि ये सभी [कदाचन अपि] कभी भी [न चिन्त्याः] नहीं चितवन करने चाहिये [यस्मात्] क्योंकि [केवलं पापफलं भवति] इनके चितवन करनेसे केवल पाप ही फल मिलता है।

विशेषार्थ—विना प्रयोजन जो हिंसा तथा कषायवर्धक कार्य किया जाता है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं अर्थात् जिस कार्यसे अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न होता हो ऐसा राग द्वेष एवं हिंसा करानेवाला कार्य जो किया जाता है वह अनर्थदण्ड कहा जाता है। उस कार्यसे जो पापका संचय होता है वह विना प्रयोजन जीवके लिये दण्ड है इसप्रकार अनर्थ—विना प्रयोजन दण्ड मूर्ख ही भोगता है, बुद्धिमान नहीं। वह ऐसे अनर्थदण्डका त्याग कर देता है। जो ऐसे विना प्रयोजन राग द्वेष एवं हिंसाके करनेवाले कार्योंका त्याग कर देना है वही अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है। पापोत्पादक क्रियाओंका त्याग करदेना ही व्रत है। जो विना प्रयोजन खोटा चितवन किया जाता है वह अपध्यान कहलाता है, अर्थात् अशुभा-

सबको पैदा करनेवाले बुरे चिंतवनको अपध्यान कहते हैं। यह अनर्थदण्ड इसलिये है कि दूसरेका भला बुरा तो उसके शुभ अशुभ कर्मोदयके अधीन है, किसीके चिंतवनसे कुछ आता जाता नहीं। जैसे किसीकी जय और किसीकी पराजय—हारकी चिंता करना, दृष्टांतकलिये दो पहलवानोंको ले लेना चाहिये, उन्हें लडते हुए देखकर अपना उनसे कोई संबंध न होने पर भी यह चिंतवन करना कि इनमें अमुककी विजय हो और अमुककी हार हो तो ठीक है। अरे ! जिसका जो होगा सो होगा, तुम विना मतलब क्यों रागद्वेष बढाकर कर्मबंध बांध रहे हो। इसीप्रकार युद्धकी चिंता करना, अमुक राष्ट्रोंमें अथवा अमुक दोनों भाइयोंमें युद्ध छिड जाय तो अच्छा हो यह चिंता करना भी अनर्थदण्ड है। किसीकी स्त्रीको देखकर यह चिंतवन करना कि मैं इसके पास जाता तो अच्छा होता, यह विचार भी विना प्रयोजन राग बढानेवाला है। किसीकी कोई वस्तु देखकर यह विचार करना कि इसकी वह चीज चोरी चली जाय तो ठीक हो। क्यों भाई ! किसीकी चीज चोरी चली जायगी तो तेरे घरमें क्या आवेगा या उसकी वस्तु चोरीमें चली जानेसे तुझे क्या इष्टकी प्राप्ति होगी। इसके सिवा किसीके लिये मारेजानेकी बात चिंतवन करना, किसीके बांधे जानेकी चिंता करना, किसीके सर्वस्वहरणकी चिंता करना कि उसका सब धन कैसे नष्ट हो इत्यादि अनेक बुरे विचार मनमें लाना अपध्यान—खोटाध्यान कहलाता है इसप्रकारके दुर्विचारोंको छोडदेना ही उचित है क्योंकि इनके चिंतवनसे केवल पापरूप ही फल मिलता है और यही अपध्यान—अनर्थदंडत्याग व्रत कहलाता है।

पापोपदेश- अनर्थदंडत्याग।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसां।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यं ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ—(विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसां) विद्या—ज्ञान, वाणिज्य—व्यापार, मषी स्याही, कृषि खेती, सेवा—चाकरी, शिल्प—कलाकौशल इन छह प्रकारके उद्योगों द्वारा आजीविका करनेवाले पुरुषोंकेलिये (पापोपदेशदानं) पापरूप उपदेशका दान (कदाचित् अपि) कभी भी (नैव वक्तव्यं) नहीं कहना चाहिये।

विशेषार्थ—जो पुरुष विद्याद्वारा आजीविका करते हैं, मंत्र, तंत्र, यंत्रद्वारा आजीविका करते हैं, ज्ञानको बेचकर द्रव्य पैदा करते हैं, विद्या पढाते समय उपकारबुद्धि न रखकर जो उससे द्रव्य कमाना ही लक्ष्य रखते हैं वे सब विद्याव्यवसायी हैं, इसप्रकारका विद्याव्यवसाय कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। शंका की जा सकती है कि जो आजकल पाठशालाओंमें अध्यापक छात्रोंको पढाते हैं वे सब क्या विद्याव्यवसायी हैं? उत्तर—वे द्रव्य ठहराकर उसीको आजीविकाका साधन समझकर पढाते हैं इस दृष्टिसे कोई उन्हें भले ही उस कोटिमें सम्हाल कर लेवे परंतु वास्तवमें जो उपकारबुद्धिसे छात्रोंको उनके कल्याणके लिये एवं समाज एवं धर्मकी रक्षाकी दृष्टिसे धर्मपूर्ण ज्ञानका उपदेश देते हैं, उसीका अध्ययन कराते हैं, उस कार्यसे अवकाश न पाकर निर्वाहार्थ द्रव्यका ग्रहण करते हैं इसलिए वे अध्यापक विद्याव्यवसायी नहीं हैं, यदि उन्हें विद्याव्यवसायी समझ लिया जाय तो फिर गुरुशिष्यसंबंध उनका नहीं रह सकता है, कारण विद्याको यदि बेचना ही लक्ष्य हो तो वहां देनेवाला भी अपने लिये गुरुत्वबुद्धिका अनुभव नहीं कर सकता और लेनेवाला छात्र भी उस देनेवालेकी शिष्यता स्वीकार नहीं कर सकता, परंतु ऐसा देखा नहीं जाता है, बडे बडे राजपुत्र भी गुरुओंके निर्वाहार्थ उन्हें द्रव्य देकर भी उनके चरणोंमें शिर धरते हैं, उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं तथा मनमें भी उनका परम उपकार समझते हुए उनकी शिष्यता स्वीकार करते हैं, इसलिए कहना चाहिये कि आजकल पाठशाला आदिका अध्या-

पन भी निरपेक्षदृष्टिसे धर्मलाभार्थ छात्रोंको पढा देना और उनकी दी हुई भेटको सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेना उसी प्राच्यमार्गका कुछ परिवर्तित रूप है, देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोंके परिणामोंमें पूर्ण संतोषकी मात्रा न रहनेसे केवल सुविधा रखनेके लिये द्रव्य निर्वाहार्थ मिलते हुए भी उसे ठहरा लिया जाता है। वास्तवमें तो पाठक दिनभर छात्रोंको पढाता है, इसलिए अन्य किसी व्यापारद्वारा द्रव्य कमानेका उसे अवकाश ही नहीं मिल पाता, ऐसी अवस्थामें पढनेवाले उसकी गृहकार्य चलानेकी चिंताको नियतरूपसे कुछ द्रव्य देकर दूर करते रहते हैं, वैसी अवस्थामें उनका पठन पाठन सदा निर्विघ्नरूपसे चला जाता है।

विद्यासे आजीविका वहां कही जाती है जहां कि उसका खर्च करना माप तौलमें ग्रहण किया जाता है, जैसे कोई हारमोनियम सिखलानेका व्यवसाय करता है, उसने नियत कर दिया है कि इतना ज्ञान करानेपर इतने रुपये लूंगा और इतना ज्ञान करानेपर इतने रुपये लूंगा, सामान्यरूपसे स्वरोंका ज्ञान करानेपर १०) रुपये, एक चौतालाका स्वर सिखानेपर २०) और हरएक स्वर निकालना सीख जानेपर १००) रुपये लूंगा उसमें भी ५) पेशगी लूंगा। इसप्रकारकी जहां ज्ञान करानेकी माप तौल ठहरा दी जाती है, जिसकी इच्छा आती है वह उतना सीख जाता है और उतने ही ज्ञानके नियत रुपये देकर चला जाता है, साथ ही सिखानेवाला ही सीखनेवालेको उच्चासन देता है गुरु शिष्य भाव नहीं रहता प्रत्युत सिखाने-वाला अपने गुणकी प्रशंसा करता है कि मैं अच्छी तरह सिखा दूंगा इसलिए मेरे ही पास सीखो, बस ऐसे ही उदाहरण विद्याव्यवसायके हैं, परंतु पाठशालाओंमें ज्ञान बढानेका कोई नियमित मूल्य नहीं है और न पढानेवालेकी आत्मामें द्रव्य ग्रहण करनेपर भी कुछ अवनति है, प्रत्युतः वह छात्रोंको दंड भी देता है फिर भी उसकी गुरुताका महत्त्व उन (छात्रों) की दृष्टिमें भरा रहता है। हां! आजकल जो एक

दो घंटेकी समयनियति और पुस्तकोंकी नियतिसे प्रत्येक बुलानेवालेके घरपर जाकर जो अंग्रेजी आदि लौकिक विद्यायें ट्यूशनके नामसे पढा दी जाती हैं, यह मार्ग उत्तम मार्ग नहीं कहा जा सकता, कारण पाठशालायें तो गुरु आश्रमके स्थानापन्न हैं इसलिए वहां पढनेकी इच्छा रखनेवाले स्वयं आते हैं परंतु ट्यूशनोंमें स्वयं अध्यापक छात्रोंके घरोंपर जाता है, ऐसी अवस्थामें पाठकोंका न तो उन बालकोंके हृदयमें महत्त्व ही रहता है और न गुरुओंकी आत्मामें ही निजका समुन्नत महत्त्व रह सकता है। यहां पर अन्य आजीविकाका समय और व्यवसाय रहते हुए भी घंटे दो घंटे पढाकर उस मार्गसे भी आजी-विका करनेका लक्ष्य है परंतु पाठशालाओं एवं विद्यालयोंमें पठनपाठनरूप उपकारवृत्तिके सिवा अन्य आजीविका करनेका समय ही नहीं है, दिनभर पढाना ही मुख्य है ऐसी अवस्थामें निर्वाहार्थ द्रव्य ग्रहण करना दूषितकोटि नहीं है। जिसप्रकार कि छात्रवृत्ति पाकर विद्या पढनेवाला छात्र पढना ही मुख्य लक्ष्य रखकर निर्वाहार्थ द्रव्य लेकर भी विद्याव्यवसायी नहीं कहा जाता उसी प्रकार पढाना ही मुख्य लक्ष्य रखनेवाला पाठक भी विद्याव्यवसायी नहीं कहा जा सकता। हां! यदि कोई दूसरा आजीविकाका मार्ग हो तो फिर जिन्हें घंटा दो घंटा छात्रोंको पढाकर इनका उपकार करना है उन्हें तो विना कुछ लिये केवल उपकारदृष्टिसे ही पढाना योग्य है, और वही प्रशंसनीय मार्ग है।

जो लोग मंत्र तंत्र यंत्रोंद्वारा व्यवसाय करते फिरते हैं वे भी विद्याव्यवसायी हैं।

वाणिज्य व्यवसाय वहां कहा जाता है जहांपर कि वस्तुओंका खरीदना और बेचना होता है अर्थात् स्वल्पमूल्यमें कोई वस्तु खरीदी जाय अधिक मूल्यमें बेच दी जाय अथवा बाजारभाव गिरनेपर अधिक मूल्यमें खरीदी हुई वस्तु भी स्वल्पमूल्यमें बेचकर उसके बदलेमें दूसरी वस्तु खरीदकर लाभ

उठाया जाय इसप्रकारका क्रयविक्रय—खरीदना बेचना जो करते हैं वे वाणिज्य व्यवसायी हैं, उन्हींको वणिक्वृत्ति करनेवाले—वैश्य कहते हैं। वैश्योंका प्रधान कार्य इसीप्रकार लेन देन रूप व्यापार करनेका है। इस वाणिज्यके भी उत्तम मध्यम जघन्य एवं अधम आदि भेद हैं। जो स्याहीके द्वारा आजीविका की जाती है वह मषीवृत्ति है—जैसे मुनीमी करना, दफ्तरोंमें क्लर्की करना आदि। कृषि नाम खेतीका है जहांपर खेतीके द्वारा आजीविका की जाती है वह कृषिवृत्ति है। सेवा करना—किसीका वेतन लेकर टहल चाकरी करना सेवावृत्ति कही जाती है। मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, अविरतसम्यग्दृष्टि आदि धार्मिक पुरुषोंकी धर्मभक्ति वश विना कुछ निजी प्रयोजन रखते हुए जो सेवा की जाती है वह सेवावृत्ति नहीं कही जाती, उसे वैयावृत्य कहते हैं। इस वैयावृत्तिकी अपार महिमा है, इसप्रकारकी सेवा करनेवालोंकी आत्मा तो अत्यंत गौरवशाली एवं समुन्नत होती है। सेवावृत्ति आजीविकासे संबंध रखती है। जैसे—कि नाई धोबी आदि करते हैं। नानातरहकी कारीगरीसे आजीविका चलाना शिल्प-वृत्ति है जैसे सुनार लुहार आदि करते हैं।

इसप्रकार विद्या, वाणिज्य, मषी, कृषि, सेवा और शिल्प, इन मार्गोंके द्वारा जो आजीविका करनेवाले पुरुष हैं उन्हें कभी भी पापबंधका उपदेश नहीं देना चाहिये। क्योंकि ये समस्त बातें सुतरां आरंभजनित हिंसाके करानेवाली हैं, फिर उनके विषयमें अधिक आरंभ एवं अधिक हिंसाका बढाने-वाला निकृष्ट उपदेश देना जैसे कि—इस मंत्रसे अमुक व्यक्तिको दुःख पहुंच सकता है और तुम्हें अर्थ-लाभ हो सकता है, इस मंत्रसे अमुकको रोगग्रसित बना दो फिर तुम्हीं उसका इलाज करके अर्थलाभ कर सकते हो, इस देशमें पशु कमती हैं दूसरे देशोंसे लाकर यहां बिक्री करो अधिक लाभ होगा,

वधिक लोगोंको यह उपदेश देना कि तुम अमुक देशसे पशु ले आओ, वहां थोडे मूल्यमें मिलेंगे। किसीसे कहना कि यहां नौकर नौकरानी अधिक पाये जाते हैं इन्हें यहांसे थोडा द्रव्य देकर ले लो और परदेशमें जहां जरूरत है–दक्षिण अफ्रीका आदि कुलीप्रथा रखनेवाले स्थानोंमें बहुत द्रव्य लेकर पहुंचा दो। किसानोंसे कहना कि तुम पृथ्वीको खूब खोदो, वहांकी पृथ्वी उपजाऊ है, आसपासके वृक्ष उखाड दो, घास आदि व्यर्थकी वनस्पतिओंको जला डालो इत्यादि प्रकारसे हिंसाको बढानेवाले आरंभका उपदेश पापोपदेश नामा अनर्थदंड है। उसका त्याग कर देना पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत।

भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनांबुसेचनादीनि।
निःकारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥ १४३॥

अन्वयार्थ––(भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनांबुसेचनादीनि) पृथ्वीको खोदना, वृक्षोंको उखाडना, घास आदिको खूंदना या नष्ट भ्रष्ट करना, जलको फेंकना, इन कार्योंको (च) और (दलफलकुसुमोच्चयान् अपि) पत्ते, फल, फूल इनके ढेरोंको भी (निःकारणं न कुर्यात्) विना कारण नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—बहुतसे पुरुष प्रमादमें बैठे बैठे सुस्तीमें आकर वृक्षोंको उनकी डालियोंको उखाड देते हैं, पृथ्वीको खोदते रहते हैं, बगीचामें बैठे हैं वहांकी घासको ही तोड रहे हैं, किसी नदी या तालके किनारे बैठकर विना कारण पानीको ही इधर उधर फेंक रहे हैं, कहीं रास्तेमें चलते हुए वृक्षोंके पत्ते, फल फूलोंको तोड तोडकर इकट्ठे ढेर लगा रहे हैं, ये समस्त कार्य विना प्रयोजन किये जांय तो सिवा जीव-वध होनेके क्या लाभ हो सकता है? वृक्षादि–पुष्पादिके उखाडनेसे, पृथ्वीके खोदनेसे, पानीके फैलानेसे

स्थावरहिंसा होनेके सिवा उनके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंका भी घात होता है, इसलिये ऐसे प्रमादाचरणरूप अनर्थदंडको कभी नहीं करना चाहिये। अर्थ ही वनस्पति आदिके आरंभ नहीं करनेका नाम ही प्रमादचर्या–अनर्थदंडत्यागव्रत है।

हिंसादान-अनर्थदंडव्रत।

असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनां।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥ १४४॥

अन्वयार्थ—(असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनां) असि–तलवार, धेनु–छुरी, विष–जहर, हुताशन–अग्नि, लांगल–हल, करवाल–खड्ग, कार्मुक–धनुष, आदि शब्दसे कुंत क्रकच मुद्गर पाश–जंजीर कांटा कुश डंडा रस्सी पींजरा कठेरा आदि वस्तुयें (हिंसाया उपकरणानां) हिंसाके उपकरण–सामग्री हैं इनका (वितरणं) दूसरोंको देना (यत्नात् परिहरेत्) प्रयत्नपूर्वक बंद कर देना चाहिये।

विशेषार्थ—बहुतसे पुरुष तलवार आदि वस्तुओंको दूसरोंको देते फिरते हैं, बहुतसे पशुओंको मारने बांधनेवाली चीजें–पींजरा कठेरा आदि बांटते हैं अथवा मंगनू दे देते हैं ये सब चीजें सिवा दूसरे जीवोंको कष्ट पहुंचानेके और किसी काममें नहीं आ सकतीं, इसलिए इन मारने बांधनेवाले हिंसाके उपकरण–हिंसाकी सामग्रीको दूसरोंको दे देनेसे व्यर्थ ही उनसे की जानेवाली हिंसाका भागीदार बनना पडता है। बहुतसे लोग ऐसे देखे जाते हैं जो चूहोंको पकडनेवाले पींजरोंको घर घर पहुंचाते हैं, बहुतसे मक्खियां मच्छर जूआं बिच्छू बर्र आदि विषैले जीवोंके मारनेवाले विषैले पदार्थोंका प्रयोग बतलानेके साथ स्वयं अपने पाससे वे चीजें दे देते हैं। बहुतसे किन्हीं जीवोंका ध्वंस करनेके लिये अपने यहांसे

अग्नि दे देते हैं। इत्यादिरूपसे जो प्रवर्तन करते हैं वह सब हिंसादाननामा अनर्थदंड है इसलिए ऐसे विना प्रयोजनके हिंसादानका त्याग करना हिंसादान-अनर्थदंडत्यागव्रत है। साक्षात् जीवोंकी जान लेनेवाले इन प्रयोगोंसे जहांतक हो प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिये।

दुःश्रुति- अनर्थदंडव्रत।

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानां।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थ—(रागादिवर्धनानां) रागादिको बढानेवाली (अबोधबहुलानां) अज्ञानसे भरी हुई (दुष्ट कथानां) दुष्ट कथाओंका (श्रवणार्जनशिक्षणादीनि) सुनना सुनाना पढना पढाना आदि (कदाचन) कभी भी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—दुःश्रुति नाम खोटी खोटी बातोंके सुनने सुनानेका नाम है अर्थात् जिन बातोंके सुननेसे रागद्वेषकी वृद्धि होती हो जैसे शृंगाररसके बढानेवाली कथाएं, युद्धकी बातें, भोजनकी कथाएं, राजाओंकी बातें, देशकी बातें, जिन बातोंके सुनने सुनानेसे विना प्रयोजन रागद्वेष बढता हो, उपन्यासादि झूठे किस्से कहानियोंका पढना पढाना, झूठे शास्त्रोंका सुनना सुनाना दूसरोंको उनकी शिक्षा देना आदि सब दुष्टकथाएं कहलाती हैं, इन कथाओंसे पुण्यास्रव नहीं होता किंतु पापास्रवकी वृद्धि होती है। कथाएं और जीवनचारित्र वे ही सुनने चाहिये जिनसे अपने जीवनमें कुछ शांति मिलती हो एवं कल्याण हो, यदि कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे इन कथाओंसे किसीको कोई शिक्षा भी मिल जाय तो भी ये दुष्टकथाएं बहुलतासे संसारमें अज्ञानको ही बढानेवाली हैं—जैसे नाटक देखनेवालोंमें किसी किसी

पुरुषको शिक्षा भी मिल जाती है अर्थात् उसके फलाफलपर वह अपनी प्रवृत्तिको तदनुरूप बना डालता है परंतु बहुलतासे उन नाटकोंसे कुशिक्षा—कामादि विकारी भावोंकी ही उत्पत्ति होती है। इसलिये नाटकादिका देखना बहुभागमें अज्ञानका ही वर्धक है। इसीप्रकार दुष्टकथाओंका सुनना सुनाना भी अज्ञानका ही वर्धक है इसलिए उनका छोडना ही हितकारी है। उनके छोडनेको ही दुःश्रुति-अनर्थदंड त्यागव्रत कहा जाता है।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात् परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतं ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वानर्थप्रथमं) संपूर्ण अनर्थोंमें पहला (शौचस्य मथनं) संतोषवृत्तिका नष्ट करनेवाला (मायायाः सद्नं) मायाका घर (चौर्यासत्यास्पदं) चोरी और झूठका स्थान ऐसा (द्यूतं) जूआ खेलना (दूरात् परिहरणीयं) दूरसे ही छोड देना चाहिये।

विशेषार्थ—जुआ खेलना भी अनर्थदंड है, कारण इसके खेलनेसे भी बिना प्रयोजन पापबंध होता है जिसप्रकार गाडीमें जुआ (जो बैलोंके कंधेपर रक्खा जाता है) सबसे आगे रहता है उसीप्रकार यह जुआ खेल भी समस्त अनर्थोंमें पहला अनर्थ समझा जाता है। जुआ खेलनेवाला किसी अनर्थसे बच नहीं सकता क्योंकि जो अन्यायका पैसा आता है उससे अन्यायके कार्य ही किये जाते हैं। पहले तो जुआरियोंकी संगति महा नीच होती है, वह मनुष्यसे चाहे जैसा अनर्थ करानेपर उतारू रहती है, जुआ खेलनेमें यदि हार होती है तो जुआरी अपने घरकी सब चीजोंको स्त्रीके गहने आदि भी यहांतक

कि घरको भी बेच देता है, फिर भी पूर्ति नहीं होती है तो चोरी करता है, पकडा जानेपर अनेक झूठसे काम लेता है, यदि जुआमें द्रव्य अधिक कमा लेता है तो दुःसंगतिके प्रभाव और अन्यायी बुद्धि हो जानेके कारण वह वेश्या आदिके यहां जाता है, वहां शराब आदि अभक्ष्यवस्तुको भी पीताखाता है। इत्यादि जितने भी संसारमें अनर्थ हैं जुआरीसे कुछ भी नहीं बचते, इसलिये जुयेको सब अनर्थोंका सरदार बताया गया है। जूआ खेलना महा असंतोष पैदा करना है, इसकार्यसे इतनी लोभवृत्ति हो जाती है कि वह उसे किसी हालतमें छोड नहीं सकता, चाहे हार हो, चाहे जीत हो, उसमें तृष्णावश फंसा ही रहता है इसलिये जूएसे संतोषभाव तो आत्मासे सर्वथा विदा हो जाता है। वैसी अवस्थामें आत्मा मलिनताका घर बन जाता है। संसारमें मायाचार बहुत बुरा है परंतु जुआ खेलनेवाला पक्का मायाचारी होता है, उसके विना उसका काम ही नहीं चलता, इसप्रकार समस्त पापकर्मोंका मूलभूत जो जूआ है इसे दूरसे ही छोडना चाहिये, जुएवालोंके कभी पास भी नहीं जाना चाहिये, इस जुएको सर्वथा छोडना—द्यूत—अनर्थदंडत्याग व्रत है।

अनर्थदंडत्यागी अहिंसाव्रती है।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदंडं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो पुरुष (एवं विधं) इसप्रकार (अपरमपि) दूसरे भी (अनर्थदंडं ज्ञात्वा) अनर्थदंडोंको जानकर उन्हें (मुंचति) छोड देता है (तस्य) उस पुरुषका (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (आनिशं) निरंतर (अनवद्यं) निर्दोष (विजयं) विजयको (लभते) प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष ऊपर कहेहुए अनर्थदंडोंको छोड देता है तथा दूसरे दूसरे और भी जो अनर्थदंड समझे जाते हैं उन्हें समझकर छोड देता है उसीका अहिंसाव्रत निरंतर निर्दोष पलता है। जो अनर्थदंडका त्यागी नहीं है उस पुरुषसे कभी भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता। अहिंसाव्रतका नहीं पलना हिंसामें प्रवृत्ति रखना है उससे आत्माको पापोंका घर बनाना है, उसका परिणाम दुर्गतिका प्राप्त होना है इसलिए सुगति एवं आत्मीय पवित्रता चाहनेवालोंको अनर्थदंडत्यागी बनना परमावश्यक है।

इसप्रकार ऊपर तीन गुणव्रतोंका निरूपण किया गया, अब चार शिक्षाव्रतोंका निरूपण किया जाता है।

सामायिकका स्वरूप।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यं ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ—(निखिलद्रव्येषु) समस्त सोना चांदी और तृणादिक तथा शत्रु मित्र महल श्मशान आदि द्रव्योंमें (रागद्वेषत्यागात) रागद्वेषका त्याग कर देनेसे (साम्यं अवलंब्य) समताभाव धारण करके (तत्त्वोपलब्धिमूल) तत्त्वप्राप्तिका मूलकारणभूत (सामायिकं बहुशः कार्यं) सामायिक अधिकरूपमें करना चाहिये।

विशेषार्थ—सम् उपसर्ग पूर्वक गति (जाना) अर्थवाली इण् धातुसे समय बनता है, सम्का अर्थ एकीभाव है, अयका अर्थ गमन है, जो एकीभावरूपसे गमन किया जाय उसे समय कहते हैं, उसका जो भाव है उसे सामायिक कहते हैं। अर्थात् जो आत्माको समस्त मनवचनकायकी इतर वृत्तियोंमें रोक कर निश्चित एक ध्येयकी ओर लगा दिया जाना है वही सामायिक कहलाता है। सामायिक करनेवाला पुरुष हरप्रकारसे मनको वशमें कर लेता है, वचनको वशमें कर लेता है, कायको वशमें कर लेता है और

कषायोंको सर्वथा दूर कर देता है, उसके रागद्वेषरूप परिणामोंका अभाव होकर शांति एवं समताभावकी जागृति हो जाती है इसीलिये सामायिकमें बैठा हुआ ध्यानी आत्मा शत्रु मित्रको समानदृष्टिसे समझता है। न तो शत्रुपर क्रोध करता है और न मित्रपर प्रेम करता है। महल और मसान तथा तृण और कांचन इन सबोंके विषयमें भी उसका यही भाव है। सामायिकमें परिणामोंकी वीतरागभावोंकी वृत्ति–विशुद्धवृत्ति यहांतक बढ जाती है कि सामायिक करनेवाला पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंको क्रमसे अथवा एकएकरूपसे जुदा जुदा त्याग नहीं करता है किंतु समस्त पापोंको सर्वथा एकरूपमें ही छोड देता है इसलिए उसके समस्त व्रत सुतरां पल जाते हैं। सामायिकमें बैठा हुआ पुरुष त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा दोनोंका त्यागी है, कारण कि एक स्थानपर बैठकर ध्यानमें निमग्न रहनेवाले सामायिकस्थित पुरुषके द्वारा सर्वथा निष्कषाय परिणाम होनेसे एवं सब प्रकारका आरंभ छूट जानेसे किसीप्रकार किसी जीवको बाधा नहीं पहुंच सकती है। इसप्रकार सामायिक समस्त द्रव्योंमें समताभाव कराता है इसका फल तत्त्वज्ञान है, सामायिक करनेसे आत्मा विशुद्ध होता है, वही विशुद्धता ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयमें प्रधान हेतु है, ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षय होनेपर विना उपदेशादि सामग्री मिले भी आत्मामें तत्त्वज्ञानकी सुतरां जागृति हो जाती है। बढते बढते सामायिकद्वारा ही आत्मा केवलज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है जिसमें कि अनंत लोक एवं अलोकका ज्ञान समुद्रमें जलवुद्‌वुदके समान होता है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका मूलकारण सामायिक है। इसप्रकार सर्वोपरि उपादेय–सामायिक प्रत्येक आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। कर्मोंकी निर्जराके लिये सामायिक ही एक सर्वप्रधान कार्य है।

सामायिककी दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि जो समयकी मर्यादा लिये हुए हो उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक विना परिणामोंको एकाग्र बनाये नहीं हो सकता। और एकाग्रता प्रतिसमय साध्य नहीं है इसलिये सामायिकका काल नियत है, उस नियत कालमें परिणामोंको एकाग्रवृत्ति बनाकर सामायिक करना चाहिये। उस कालका विभाग इसप्रकार है—

सामायिकका समय।

रजनीदिनयोरंते तदवश्यं भावनीयमविचलितं।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद् गुणाय कृतं ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह सामायिक (रजनीदिनयोः अंते) रात और दिनके अंत समयमें—संध्या समयमें (अविचलितं) निश्चितरूपसे (अवश्यं भावनीयं) अवश्य ही करना चाहिये। (पुनः इतरत्र समये कृतं) फिर दूसरे समयमें किया हुआ (तत्) वह सामायिक (न दोषाय) दोष पैदा करनेवाला नहीं होता है किंतु (गुणाय कृतं) गुण पैदा करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—सामायिक विना निर्विकल्पक परिणामोंके नहीं हो सकता, जिस समय किसी बातकी भी चिंता रहती है उस समय सामायिक अच्छी तरह नहीं होता है इसलिये उसकेलिये रात दिनके अंतका समय निराकुलताका समय है। रातदिनका अंत एक तो प्रातःकाल होता है और एक सूर्यास्त होनेके पश्चात् सायंकाल होता है, दोनों समयोंको संध्या समय कहते हैं, संध्या नाम मिले हुए समयका है, प्रातःकाल रात्रि और दिनका मिला हुआ समय है, सायंकाल भी दोनोंका मिला हुआ समय है। इसीलिये दोनों समयोंका नाम संध्या समय है। इन संध्या समयोंमें सामायिकका निश्चित समय है, इनमें

तो अवश्य ही करना चाहिये, कारण इन समयोंमें परिणामोंमें अन्यान्य कार्योंके करनेकी आकुलना नहीं होती है। प्रातःकाल व्यापार आदि कार्योंका समय नहीं है, दूसरे उस समय आत्माके परिणाम स्वयं निर्मल होते हैं इसलिये उस समय चित्तपूर्वक सामायिक करनेका समय है। सायंकाल भी ऐसा ही समय है, वहां भी व्यापारादि कार्य किये जा चुकते हैं। यदि इन समयोंके अतिरिक्त दूसरे समयोंमें भी सामायिक किया जाय तो भी वह दोषोत्पादक न होकर गुणकारी ही होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि सामायिक करनेवाले पुरुषके स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारकी हिंसाका त्याग हो जाता है, ऐसी अवस्थामें वह जिस समय भी किया जायगा निर्मलता ही करेगा, उससे हानि तो कभी हो ही नहीं सकती है परंतु यदि दूसरे समयमें सामायिक करनेका अवकाश नहीं मिल सके तो सुबह साम इन दो संध्या समयोंमें तो अवश्य निश्चित रूपसे करना चाहिये। सामायिकप्रतिमामें तो नियमसे तीनवार सामायिक करनेका विधान है। दिनका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध इन दोनोंके मिलनेसे दोपहर भी संध्यासमय कहा जाता है। इसलिये सामायिक प्रतिमावालेको प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायंकाल इन तीनों समयोंमें सामायिक करना अनिवार्य नियत है।

सामायिकमें महाव्रत।

सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेपि चारित्रमोहस्य ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ—(एषां) इन (सामायिकं श्रितानां) सामायिक करनेवाले पुरुषोंके (समस्तसावद्ययोगपरिहारात्) सम्पूर्ण पापयोगोंका त्याग हो जाता है इसलिये (चारित्रमोहस्य उदयेपि) चारित्रमोहनीयकर्मके उदय होनेपर भी (महाव्रतं भवति) महाव्रत हो जाता है।

विशेषार्थ—यह बात निश्चित है कि विना नग्न दिगम्बर-मुनिलिंगधारण किये प्रत्याख्यानावरणी कषायका अभाव नहीं हो सकता है इसलिये गृहस्थके उसका सदा उदय ही रहता है और यह भी नियम है कि प्रत्याख्यानावरणी कषाय महाव्रतका घात करता है, उसके उदयमें महाव्रत हो नहीं सक्ता इसलिये गृहस्थपर्यायमें महाव्रत पाले नहीं जा सकते हैं परंतु कोई गृहस्थ जिस समय सामायिक कररहा है उससमय उसके त्रस स्थावर दोनोंप्रकारकी हिंसाका सर्वथा त्याग हो जाता है तथा मन वचन काय-रूप योगोंकी प्रवृत्ति अशुभ एवं शुभ दोनोंसे निवृत्त होकर आत्माकी वीतराग परिणतिकी ओर हो जाती है। ऐसी अवस्थामें सामायिक करते हुए गृहस्थके भी उस समय महाव्रत हो जाता है। क्योंकि मुनियोंके जो महाव्रत होता है उसका कारण भी यही है कि उनके त्रस स्थावर हिंसाका त्याग एवं सावद्ययोगकी निवृत्ति हो जाती है और सामायिकमें बैठे हुए गृहस्थके भी दोनों बातें हैं इसलिये सामा-यिक करते समय वह भी महाव्रती है परंतु गृहस्थके जो सामायिकदशामें महाव्रत है वह मुख्यतासे नहीं कहा जा सकता किंतु उपचारसे है, कारण कि अंतरंगमें महाव्रतको रोकनेवाली कषायका उसके उदय हो रहा है। मुनियोंके उसका अभाव है इसलिये एवंभूतनयसे—सामायिक करता हुआ गृहस्थ महाव्रत-तुल्य व्रतवाला होनेसे उपचरित महाव्रती है।

प्रोषधोपवासका वर्णन।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुं।
पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः॥ १५१॥

अन्वयार्थ—[प्रतिदिनं आरोपितं] प्रतिदिन किये जानेवाले [सामायिकसंस्कारं] सामायिकरूप

संस्कारको [स्थिरीकर्तुं] स्थिर रखनेके लिये [द्वयोः अपि पक्षार्धयोः] दोनों ही पक्षोंके आधे आधे समयमें अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीमें [उपवासः अवश्यं कर्तव्यः] उपवास अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास एक मासमें चार वार किया जाता है, एक महीनेमें दो पक्ष होते हैं, प्रत्येक पक्षके अर्ध अर्ध भागमें अष्टमी चतुर्दशी तिथियां आती हैं, इसलिये एक महीनेमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी आती हैं, इन चारों दिनोंमें प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये। इसके करनेसे आरंभजनित हिंसाका त्याग एवं परिणामोंमें निराकुलता तथा विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है, उससे प्रतिदिन किये जानेवाले सामायिकके संस्कार दृढ हो जाते हैं। इसलिये जो सामायिक शिक्षाव्रत धारण करनेवाले गृहस्थ हैं उन्हें उसकी दृढताके लिये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

प्रोषधोपवास करनेकी विधि।

मुक्तसमस्तारंभः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ—[प्रोषधदिनपूर्ववासरस्य अर्धे] जो उपवास करनेका दिन है उसके पहले दिनके उत्तरार्धमें [मुक्तसमस्तारंभः] समस्त आरंभोंका त्याग करते हुए [देहादौ ममत्वं अपहाय] अपने शरीर आदि बाह्यपदार्थोंमें ममत्वभाव छोडकर [उपवासं गृह्णीयात्] उपवास धारण करे।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास उसे कहते हैं कि जो पर्वके दिनोंमें धारण किया जाता है। प्रोषध नाम पर्वका है उसमें जो उपवास धारण किया जाय वह प्रोषधोपवास कहा जाता है। अथवा दूसरी तरहसे यह भी व्युत्पत्तिसिद्ध-शब्दार्थ है कि चारों प्रकारके आहारका त्याग करनेका नाम उपवास है। प्रोषध

नाम एकबार भोजन करनेका है और जो एकबार भोजन करके उपवास धारण करे वह प्रोषधोपवास कहलाता है, यहांपर यह अर्थ होता है कि जो प्रोषधपूर्वक उपवास है वह प्रोषधोपवास है। जब अष्टमी चतुर्दशीको उपवास धारण किया जाता है तो सप्तमी एवं त्रयोदशीको एकबार भोजन किया जाता है। इसलिए प्रोषधपूर्वक उपवास होनेसे प्रोषधोपवास कहा जाता है। अथवा प्रोषधोपवास धारण करके दूसरे दिन दोपहर पश्चात् आरंभ किया जाता है अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करके नवमी और पंद्रसके दिन दोपहर पीछे आरंभ किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। किसी प्रकारसे विवेचन क्यों न किया जाय फलितार्थ सबोंका एक ही है। उसी विधानक्रमको ग्रंथकार बतलाते हैं कि उपवास करनेके प्रथम दिन अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके पहले दिन—सप्तमी और त्रयोदशीको एकबार भोजन करके सबप्रकार सांसारिक आरंभ छोड देना चाहिये, साथ ही शरीर, कुटुंबीजन और भोगोपभोगयोग्य समस्त पदार्थोंमे ममत्व छोडकर उसी समयसे उपवास धारण कर लेना चाहिये। उपवासका अर्थ यही है कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकारके आहारका परित्याग कर देना, अर्थात् जल औषधि आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। उपवासमें कर्तव्यविधि।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेंद्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ—(विविक्तवसतिं) एकांत स्थानका (श्रित्वा) आश्रय करके (समस्तसावद्ययोगं अपनीय) समस्त पाप-पंच हिंसादि पापयोगोंको दूर करके (सर्वेंद्रियार्थविरतः) सर्व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ (कायमनोवचनगुप्तिभिः) कायगुप्ति मनोगुप्ति और वचन गुप्तियोंको धारण करके (तिष्ठेत) ठहरे।

विशेषार्थ—सप्तमी और त्रयोदशीके दोपहर पीछे ही किसी एकांत स्थानमें या चैत्यालयमें प्रोषधोपवास करनेवाला बैठ जाय और सम्पूर्ण पापोंका त्याग कर दे, तथा समस्त इंद्रियोंके विषयोंको छोड दे और मनको, वचनको, कायको वशमें कर ले, तीनों योगोंको किसीप्रकार चलायमान नहीं होने दे।

और क्या करे?

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसांध्यविधः।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः॥ १५४॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानाशक्तः) धर्मध्यानमें तल्लीन हो (वासरं अतिवाह्य) उस दिनको बितावे (विहितसांध्यविधिः) पीछे सायंकालमें संध्याकी जो कुछ विधि है उसे पूरा करे, पश्चात (स्वाध्यायजितनिद्रः) स्वाध्यायसे निद्रापर विजय पाकर (शुचिसंस्तरे) पवित्र आसन पर (त्रियामां गमयेत्) रात्रि बितावे।

विशेषार्थ—सप्तमी और त्रयोदशीका आधा दिन धर्मध्यानमें ही बितावे और किसी सांसारिक बातका प्रसंग भी नहीं आने दे क्योंकि उसप्रकारके प्रसंगसे अशुभास्रव होगा, परिणामोंमें मलिनता एवं कषायभावोंकी उत्पत्ति होगी इसलिए केवल धर्मध्यान ही करता रहे, धर्मका स्वरूप विचार करे, आत्मा अथवा अर्हंतका स्वरूप विचार करे, कर्मोंके विपाकका विचार करे कि ये कर्म किसप्रकार आत्माको दुःखी एवं भ्रमणशील बना रहे हैं इनका छुटकारा किसप्रकार जल्दी होगा इन कर्मोंसे जीवोंका किस प्रकार अपाय–अनर्थ हो रहा है, लोककी रचना किसप्रकार है, जीव कहां कहां रहते हैं इस संसारमें जीवके उद्धारका कारण एक जिनेंद्रकी आज्ञा ही है। यदि जिनेंद्रकी आज्ञापर जीव चलने लग जांय तो फिर उनके कल्याणमें कोई बाधा कभी नहीं आ सकती, इत्यादिरूपसे धर्मस्वरूप वस्तुस्वरूप आदि

धर्मध्यान करनेमें ही दिन बिताना चाहिये, पश्चात सायंकाल होनेपर संध्याकी विधि करना चाहिये उस समय सामायिक प्रतिक्रमण वंदना आदि कार्य करना चाहिये, किए हुए दुष्कर्मोंकी आलोचना करना चाहिये। पश्चात् रात्रिको कुशासन चटाई आदि पवित्र आसनपर बैठकर स्वाध्यायसे निद्राको वश करते हुए बिताना चाहिये। भूमिको अच्छी तरह देखकर जीव हों तो उन्हें कोमल वस्तुसे हटाकर निर्जीव-स्थानपर शीतलपट्टी चटाई कुशासन आदि तृणका बना हुआ आसन बिछाना चाहिये। उस रात्रिको सोनेमें बिताना ठीक नहीं है, कारण सोनेसे प्रमादकी वृद्धि होती है, स्वप्नादि विकारोंसे चित्तमें मलि-नता आती है इसलिए चित्तको शुद्ध एवं निःप्रमाद परिणाम रखनेकेलिये उस रात्रिको स्वाध्याय एवं धर्मचिंतना आदि सम्यग्ज्ञानवर्धक कार्योंमें बिताकर निद्राको जीतना चाहिये।

पश्चात् कर्तव्यविधि।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पं।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) रात्रि बितानेके पश्चात् (प्रातः प्रोत्थाय) प्रातःकाल उठकरके (तात्कालिकं क्रिया-कल्पं कृत्वा) उस कालसंबंधी समस्त क्रियाकांडको करके (यथोक्तं) शास्त्रोक्त विधिके अनुसार (प्रासुकैः द्रव्यैः) प्रासुक द्रव्योंसे (जिनपूजां निर्वर्तयेत्) जिनेंद्रभगवानकी पूजा करे।

विशेषार्थ—इसप्रकार रात्रि बिताकर प्रातःकाल सामायिक प्रतिक्रमण वंदना आदि उस समयकी संध्याविधि—क्रियाकांड करे, पीछे शास्त्रविहित मार्गके अनुसार प्रासुक-द्रव्योंसे जिनपूजन करे।

इसप्रकार उपर्युक्त रीतिके अनुसार प्रोषधोपवास करनेवाला पर्वके दिन—अष्टमी और चतुर्दशीके दिन जिनेंद्रपूजन करे।

फिर दिनमें क्या करे ?

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—[ततः] दो पहर तक अर्थात् सामायिकसे पहले पहले तक जिनपूजन करनेके पश्चात् [उक्तेन विधिना] ऊपर कही हुई विधिके अनुसार [दिवसं नीत्वा] दिनको बिताकर [च द्वितीयरात्रिं] और द्वितीयरात्रिको बिताकर [प्रयत्नात्] प्रयत्नपूर्वक-सावधानीसे [तृतीयदिवसस्य अर्धं च] तीसरे दिनके पूर्वार्ध भागको भी [अतिवाहयेत्] बितावै ।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास करनेवाला अष्टमी चतुर्दशीके दिन प्रातःकालसे सामायिकके पीछेसे लेकर मध्यान्हके सामायिकसे पहले पहले पूजन करे, पूजन जल्दी समाप्त करले तो स्वाध्याय करे । पश्चात् मध्यान्हका सामायिक करे, पीछे स्वाध्याय अथवा धर्मचर्चाके सुनने सुनानेमें समय बितावे सायंकाल होनेपर फिर सामायिक प्रतिक्रमण आदि संध्याविधि करे, पश्चात् देख भालकर जीवोंकी बाधा बचाकर पवित्र आसनपर बैठकर रात्रिको शास्त्रपठन जिनेंद्रगुणचिंतवन आदि द्वारा निद्रापर विजय करे, उसके बाद नवमी या पंद्रमके प्रातःकाल उठकर वही संध्याविधि—सामायिक प्रतिक्रमण वंदना आदि नित्य कर्तव्य करे, पश्चात् जिनेंद्रपूजन एवं स्वाध्याय करके उस दिनका पूर्वार्द्ध बितावे पश्चात् भोजनादि आरंभ करे ।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाव्रती है ।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थ—[इति] इसप्रकार—ऊपर कही हुई विधिके अनुसार [यः परिमुक्तसकलसावद्यः] जो संपूर्ण पापारंभोंको छोडकर प्रोषधोपवास करनेवाला गृहस्थ [षोडश यामान् गमयति] सोलह पहर बिताता है [तस्य] उस श्रावकके [तदानीं] उससमय [पूर्णं अहिंसाव्रतं नियतं भवति] पूर्ण अहिंसाव्रत निश्चयसे होता है।

विशेषार्थ—जैसी विधि ऊपर कही गई है उसीके अनुसार जो समस्त पंच पापोंको छोडकर तीनों योगोंको वशमें रखकर ध्यान, पूजन, स्वाध्याय, धर्मचर्चा आदि धर्मक्रियाओंमें सोलह पहर किसी-प्रकारके सांसारिक आरंभके किये बिना देता है वही प्रोषधोपवास करनेवाला पूर्ण अहिंसाव्रती कहलाता है। सोलहपहर इसप्रकार हो जाते हैं कि—सप्तमीको एकाशन (एकवार भोजन) करके दोपहरके पश्चात् प्रोषधोपवास आरंभ किया जाता है, इसलिये सप्तमीके आधे दिनके दो पहर, सप्तमीकी पूरी रात्रिके चार पहर, अष्टमीके पूरे दिनके चारपहर, अष्टमीकी पूरी रात्रिके चार पहर और नवमीके पहले आधेदिन (पूर्वार्ध) के दोपहरतक प्रोषधोपवासकी विधि पूर्ण होती है इसलिये सोलह पहर समय धर्मध्यानमें बिताया जाता है। सोलहपहरका ही उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहा जाता है। मध्यम बारह पहरका होता है तथा आठपहरका जघन्य प्रोषधोपवास होता है। अष्टमीके पूरे दिनके चारपहर और अष्टमीकी रात्रिके चारपहर इसप्रकार आठपहर जघन्यप्रोषधोपवास पाला जाता है। पर्वके दिन जो प्रोषधोपवास करनेमें असमर्थ है उसे अनुपवास धारण करना चाहिये। जल ग्रहण करनेके सिवा बाकी सबप्रकारके भोजनका त्याग करदेनेका नाम ही अनुपवास है। अर्थात् पर्वके दिन केवल जल लेना बाकी कुछ नहीं लेना इसीका नाम अनुपवास है। जो अनुपवास करनेमें भी असमर्थ है उसे विकाररहित सात्विक रूखा हलका भोजन करलेना चाहिये। विकारी भोजन चार प्रकार है, गोरस—दूध दही घी, इक्षुरस—खांड गुड आदि

मिष्टपदार्थ, फलरस— दाख आम्र आदिसे निकाला हुआ रस, और धान्यरस—तेल मांढ आदि पदार्थ, ये चार प्रकारके विकारी कहलाते हैं, अर्थात् इनका भोजन इंद्रिय और मनमें स्वाद तृष्णा पैदा करता है इसलिये इनको छोडकर हलका रूखा भात वगैरहका भोजन करलेना चाहिये। इसप्रकार उपवास, अनुपवास, एकाशन निर्विकारभोजन आदि शक्तिके अनुसार जितना भी व्रतरूपसे ग्रहण किया जायगा उतना ही वह पुण्यबंध एवं आत्मविशुद्धिका कारण होगा।

परंतु जितना कुछ भी व्रत विधान किया जाता है वह केवल धर्मबुद्धिसे ही किया जाता है तभी व्रत कहलाता है। जहां धर्मबुद्धि नहीं है वहां उसे व्रत नहीं कहते, जैसे बहुतसे पुरुष आजकल पेटमें गडबड होनेसे दो चार दिनके लिये भोजन छोड देते हैं, जो उपवासचिकित्सा-विधिसे अपने शरीरको निरोग रखना चाहते हैं वे कई उपवास कर डालते हैं, परंतु वे सब उपवास कहने योग्य नहीं हैं किंतु उन्हें लंघन कहना चाहिये। उपवास धर्मबुद्धिसे किया जाता है, लंघनमें धर्मबुद्धि नहीं है किंतु शरीररक्षा एवं शरीरशुद्धि ही प्रधान है। इसलिये ऐसे भोजन छोडनेवाले व्रती नहीं हैं किंतु अव्रती एवं आरंभी हैं। क्योंकि जहांपर शास्त्रोक्त रीतिसे, धर्मबुद्धिसे भोजनादि आरंभोंका त्याग किया जाता है वहींपर धर्म—व्रत है, अन्यथा नहीं।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाव्रती क्यों है?

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषां।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोपि हिंसायाः ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ—[अमीषां] त्रसहिंसाके त्यागी पुरुषोंके [भोगोपभोगहेतोः] भोग उपभोगके कारणसे ही

स्थावरहिंसा भवेत् किल] स्थावर हिंसा होती है ऐसा निश्चय है [भोगोपभोगविरहात्] भोग उपभोगके त्याग कर देनेसे [हिंसायाः लेशः अपि न भवति] हिंसाका लेश भी नहीं होता है।

विशेषार्थ—अहिंसादि अणुव्रत पालनेवाले संकल्पी त्रसहिंसाके तो त्यागी होते ही हैं, स्थावर हिंसाका उनके त्याग नहीं होता, इसका कारण यह है कि वे भोग उपभोग सामग्रीका सेवन करते हैं उसीसे अनिवार स्थावर हिंसा उनसे होती है, हिंसाका कारण आरंभ है। भोगोपभोग पदार्थोंके सेवनमें नियमसे आरंभ है इसलिये हिंसा है। परंतु भोग उपभोग वस्तुओंका परिमाण करनेसे स्थावर हिंसा भी छूट जाती है वैसी अवस्थामें त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा दोनोंप्रकारकी हिंसाका त्याग होनेसे हिंसाका लेशमात्र भी नहीं होता, प्रोषधोपवास धारण करनेवाला पुरुष भोग उपभोग आदि सबप्रकारका आरंभ-सेवन छोड देता है। केवल धर्मारंभ ही करता है, वैसी अवस्थामें भोग उपभोगसेवनमूलक स्थावरहिंसा भी उसके नहीं होती, त्रसहिंसाका तो वह अणुव्रती होनेसे स्वयं त्यागी होता ही है।

प्रोषधोपवास करनेवालेके और पाप भी नहीं है।

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयं।
नाब्रह्म मैथुनमुचः संगो नांगेप्यमूर्च्छस्य ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थ—[वाग्गुप्तेः] वचनगुप्ति पालनेके कारण [अनृतं नास्ति] झूठ वचन नहीं है [समस्तादानविरहतः] समस्त द्रव्य लेनेका त्याग करनेसे [न स्तेयं] चोरी नहीं है [मैथुनमुचः] मैथुन छोड देनेके कारण [न अब्रह्म] ब्रह्मचर्य भंग नहीं है [अंगे अपि अमूर्च्छस्य] शरीरमें भी ममत्वभाव छोड देनेसे [संगो न] परिग्रह नहीं है।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास पालनेवाले पुरुषके शास्त्रस्वाध्याय आदिमें वचनोंकी प्रवृत्ति होनेसे मिथ्या वचन नहीं निकलते। सब प्रकारके आदान (परपदार्थग्रहण) का त्याग होनेसे चोरी तो संभव ही नहीं है। वह स्वस्त्रीसंगका भी त्याग कर देता है इसलिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पल जाता है और अपने शरीरमें भी ममता नहीं रखता इसलिए उसके परपदार्थोंमें ममत्वपरिणाम न होनेसे परिग्रह भी नहीं रहता इसप्रकार यथाविधि प्रोषधोपवास पालनेवालेके पांच पापोंमेंसे एक भी पाप नहीं लगता।

प्रोषधोपवासी उपचरित महाव्रती है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानं ॥ १६० ॥

अन्वयार्थ—[इत्थं] इसप्रकार [अशेषितहिंसः] समस्त हिंसाको छोडनेवाला [सः] वह प्रोषधोपवास करनेवाला [उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति] उपचारसे महाव्रतीपनेको प्राप्त होता है। [तु] परंतु [चारित्रमोहे उदयति] चारित्रमोहनीयकर्मके उदय होनेसे [संयमस्थानं न लभते] संयमस्थानको नहीं पाता है।

विशेषार्थ—जब प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष भोगोपभोगका त्याग करनेसे स्थावर हिंसासे बच जाता है, त्रसहिंसाका वह त्यागी होता ही है, वचनगुप्ति आदि पालनेसे अन्य चार पापोंका त्यागी भी है इसप्रकार समस्त प्रकारकी हिंसाका त्यागी होनेसे वह महाव्रती तुल्य है अर्थात् वास्तवमें तो महाव्रती नहीं कहा जा सकता किंतु उपचारसे वह महाव्रती कहा जाता है। मुख्यतासे महाव्रती क्यों नहीं कहा जाता इसका उत्तर यह है कि उसके अभी प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय हो रहा है वह सकलसंयम—महाव्रतका घातक है इसलिए वह मुख्यतासे सकलसंयमी नहीं कहा जा सकता परंतु त्रसस्थावर हिंसाका त्यागी होनेसे उपचरित महाव्रती कहा जाता है।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमभि तावपि त्याज्यौ ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ—(विरताविरतस्य) कुछ अंशोंमें विरत कुछ अंशोंमें अविरत अर्थात् देशव्रती—पंचमगुणस्थानवर्ती पुरुषके (भोगोपभोगमूला) भोग और उपभोगोंके कारणसे होनेवाली (हिंसा 'भवति') हिंसा होती है (अन्यतः न) और किसी निमित्तसे नहीं होती (वस्तुतत्त्वं अधिगम्य) वस्तुस्वरूपको जान करके (स्वशक्तिं अभि) अपनी शक्तिके अनुसार (तौ अपि) वे दोनों भोगउपभोग भी (त्याज्यौ) छोड देने चाहिये ।

विशेषार्थ—देशव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग होता ही है क्योंकि परिग्रह परिमाणव्रतमें वह परिग्रहका परिमाण कर लेता है इसलिए उससे होनेवाली हिंसा फिर नहीं होती, परंतु भोग उपभोगकी जो सामग्री रक्खी है उसमें तो हिंसा उसके होती है इसलिए उसे भी हिंसाका मूलकारण समझ कर यथाशक्ति छोड देना चाहिये क्योंकि परिग्रहपरिमाणव्रतवाले देशव्रतीके हिंसाके कारण भोग उपभोगमें आनेवाले पदार्थ ही बाकी रहते हैं और कारणोंको तो वह पहलेसे ही छोड देता है इसलिए जो भोग्य और उपभोग्य पदार्थ परिग्रहपरिमाणव्रतमें वह रख चुका है उनका भी यथाशक्ति त्याग कर देना उचित है अर्थात् अत्यावश्यक ही रखना चाहिये जो कुछ भी अधिक प्रतीत होते हैं उन सबको छोड देना ठीक है क्योंकि आत्माका स्वरूप निवृत्तिस्वरूप है और उस मार्गकी सिद्धि संयमसे हो सकती है बिना भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंके छोडे संयमका पलना अशक्य है इसलिए जहांतक अपनी सामर्थ्य हो वहांतक उन्हें छोड देना ही ठीक है ।

भोग पदार्थोंमें वे पदार्थ समझे जाते हैं जो एकबार भोग लेनेपर फिर भोग करनेमें नहीं आते ।

जैसे—रोटी दाल भात दूध घी चूर्ण पुष्प तेल आदि जितनी खानेकी और सूंघने एवं शरीरमें लेप करनेकी चीजें हैं वे सब भोग्य वस्तुयें हैं। तथा जो एकबार भोगमें आनेके पश्चात् फिर भी वे ही भोगनेमें आवें ऐसी वस्तुयें उपभोग्य वस्तुयें कही जाती हैं। जैसे—वस्त्र, वर्तन, मकान, हाथी, घोडा, स्त्री, दास, दासी, सोना, चांदी, खेत, सवारी आदि। ये समस्त वस्तुयें एकबार काममें आनेपर छोड नहीं दी जातीं किंतु बार बार काममें आती हैं, इन समस्त वस्तुओंका भोगोपभोगका परिमाण करनेवाला बहुत कुछ घटा देता है। केवल अनिवार काममें आने लायक ही रखता है।

अनन्तकायत्यागका उपदेश।

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनंतान्यतस्ततोऽवश्यं।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनंतकायानां॥ १६२॥

अन्वयार्थ—(यतः एकं अपि प्रजिघांसुः) क्योंकि एक भी अनंतकायसे भरे हुए पिंडको जो नष्ट करनेकी इच्छा करता है वह (अनंतान् निहंति) अनंत जीवोंको मार डालता है (ततः) इसलिये (अशेषाणां अनंतकायानां) समस्त अनंतकायवाले पदार्थोंका (अवश्यं परिहरणं करणीयं) अवश्य त्याग करना चाहिये।

विशेषार्थ—वनस्पतिके दो भेद हैं—एक साधारणवनस्पति, दूसरी प्रत्येकवनस्पति। प्रत्येकवनस्पतिके भी दो भेद हैं—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक, दूसरी अप्रतिष्ठित प्रत्येक। साधारणवनस्पति उसे कहते हैं जिसके समानभंग हो जांय अर्थात् जबतक वनस्पति बिलकुल कोमल रहती है उसे तोडनेपर जहांसे तोडा जाय वहींपर समान दो टुकडे हो जांय तो समझना चाहिये कि वह साधारण है। यदि वह प्रत्येक होगी तो समान टुकडे नहीं होंगे किंतु जहां तोडी जायगी वहींपरसे आगे तक फट जायगी अर्थात् उतनी

कोमलता उसमें नहीं होगी। दूसरे जिन पत्तोंमें जबतक रेखायें—नशाजाल नहीं निकला है तबतक साधारण हैं जैसे पानके पत्तेमें जबतक रेखायें प्रगट नहीं होती हैं तबतक वह साधारण है और जब रेखायें प्रगट हो जाती हैं तब वह प्रत्येक हो जाता है। जितना कंदमूल है वह भी सब साधारण है, जिस वृक्षकी त्वचामें—छालमें बहुत मोटापन एवं पूरा हरापन जबतक है तबतक वह त्वचा—छाल साधारण है, पीछे कुछ पतली होनेपर प्रत्येक हो जाती है। यही बात श्रीगोम्मटसारमें कही गई है—

मूले कंदे छल्ली, पवालसालकुसुमफलबीजे। समभंगे सदि णंता विसमे सदि होंति पत्तेया॥

अर्थात् मूलकंद, कंदमूल, छाल, पत्ता, छोटी छोटी टहनी, पुष्प, फल, बीज इन सबमें समान भंग होनेपर—अनंतनिगोदराशि—साधारण वनस्पति समझी जाती है और विषमता होनेपर—तोडनेपर कुछ तिडकनेपर प्रत्येकवनस्पति समझी जाती है।

साधारण वनस्पतिका लक्षण यही है कि जिस एक शरीरके समान रूपसे अनंत जीव स्वामी हों, एकके मरनेपर सभी अनंते मर जांय और एक श्वासोच्छ्वास लेनेपर अनंतोंका श्वासोच्छ्वास हो जाय। जैसा कि श्रीगोम्मटसारमें सिद्धांतचक्रवर्ती श्रीनेमिचंद्राचार्यने बतलाया है—

जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं। चंकमइ जत्थ एक्कं चंकमणं तत्थ णंताणं॥

अर्थात् जहांपर एक जीवका मरण होता है, वहां अनंत जीवोंका मरण हो जाता है और जहां एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनंतजीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये—

साहारणमाहारो साहारणमाणगहणं च। साहारणं सरीरं साहारणलक्खणं भणियं॥

अर्थात् जिनका एक ही तो आहार हो, एकसाथ ही श्वासोच्छ्वास होता हो, एक ही सबोंका शरीर

हो, वे सब साधारण वनस्पतिकायके जीव कहलाते हैं । एक साधारण वनस्पतिके (निगोदियाके) शरीरमें अनंतानंत जीवराशिका प्रमाण बतलाते हैं कि—

एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो सिद्धा ।
सिद्धेण अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

एक निगोदियाके शरीरमें जितनी जीवद्रव्य राशि है वह आजतक अनादि संसारसे अनंतानंत सिद्ध (मुक्त) हुए हैं उन सबोंसे अनंतगुणी है अथवा आजतक जितना काल बीत चुका है उसके जितने समय हैं उनके बराबर है ।

प्रत्येक उसे कहते हैं कि जिस एक शरीरका एक जीव मूल स्वामी हो । उसके दो भेद है—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक दूसरा अप्रतिष्ठितप्रत्येक । सप्रतिष्ठितप्रत्येक उसे कहते हैं कि जिस शरीरका एक स्वामी हो परंतु उसके आश्रित अनंत निगोद रहते हों । उन अनंत जीवोंके जीने मरनेसे उस शरीरके प्रधानस्वामीसे—जिसका कि वह शरीर कहलाता है, कोई संबंध नहीं है । तथा जिस शरीरका एक मूलस्वामी हो बाकी उसके आश्रित अनंत निगोदराशि नहीं रहती हो वह अप्रतिष्ठितप्रत्येक कहलाता है । यह अवस्था वनस्पतिकी तब होती है जब कि वह परिपक्व दशामें परिणत होने लगती है ।

इसप्रकार जीवराशिका स्वरूप समझ करके भोग उपभोग परिमाणव्रतवाले पुरुषको अनंतजीवोंकी रक्षाके लिये ऐसी वनस्पति नहीं खानी चाहिये जिसमें अनंत जीवोंका ध्वंस होता हो । जिन पदार्थोंके सेवन करनेसे थोडा तो जीभका स्वाद होता हो और अनंत जीवराशिका नाश होता हो ऐसे पदार्थ कदापि सेवन नहीं करने चाहिये । उनका त्याग कर देना ही उचित है ।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानां।
यद्वापि पिंडशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ—(प्रभूतजीवानां योनिस्थानं) अनेक जीवोंकी उत्पत्ति होनेका योनिस्थान ऐसा (नवनीतं च त्याज्यं) लोनी—मक्खन भी छोड देना चाहिये। (यद्वा पिंडशुद्धौ अपि) अथवा कुछ काल तक पिंडशुद्धि रहने पर भी अर्थात उस पदार्थमें जीवराशिके नहीं उत्पन्न होनेपर भी (किंचित् विरुद्धं अभिधीयते) कुछ विरुद्धता प्रगट की जाती है तो भी वह त्याज्य है।

विशेषार्थ—जो दही विलोनेपर लोनी निकलती है, उसीका नाम मक्खन है। वह मक्खन अभक्ष्य कहा गया है, कारण दो मुहूर्तके पश्चात तो उसमें अनेक संमूर्छन जीवराशि पड जाती है इसलिये दो मुहूर्त—चार घडीके पीछे तो वह अनेक जीवराशिका पिण्ड हो जानेसे भक्ष्य ही नहीं रहता है, परंतु जब तक वह शुद्ध भी है अर्थात् दो मुहूर्तके भीतर भी वह भक्षण करने योग्य नहीं है, कारण उसकी आकृति अच्छी नहीं है, उसे देखनेसे अन्य घृणितपदार्थकी स्मृति हो जाती है इसलिये निर्जीव अवस्थामें भी वह अभक्ष्य है। अनेक ऐसे पदार्थ हैं कि जिनमें दोष भी नहीं है अर्थात् जिनमें जीवराशि नहीं भी है तो भी जो आकृतिसे खराब हैं जिन्हें देखनेसे परिणामोंमें कुछ विकारभाव हो जाता है वैसे पदार्थ भी अभक्ष्य त्याज्य हैं। मक्खनमें दो मुहूर्त पीछे अनेक जीवराशि पडजाती है इसके लिये सागारधर्मामृतमें यह प्रमाण है—

मधुवन्नवनीतं च मुंचेत्तत्रापि भूरिशः । द्विमुहूर्तात्परं शश्वत् संसजंत्यंगिराशयः ॥

अर्थात् शहद (मधु) के समान नवनीत–मक्खन भी छोड देना चाहिये, क्योंकि उसमें भी दो मुहूर्तके पीछे निरंतर अनेक जीवराशि उत्पन्न होती रहती है।

इससे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वही घी शुद्ध एवं खानेयोग्य है जो दो मुहूर्तके भीतरकी लोनीका तपाया हुआ है। आजकल यह बहुत बुरी पृथा चल पडी है कि बहुत दिनोंतक लोनीका संग्रह करते जाते हैं और फिर इकट्ठा उसे तपाकर घी बनाते हैं परंतु उतने समयमें उस लोनीमें अनंत निगोदराशि तो पड ही जाती है किंतु त्रसजीवोंका संचार भी हो जाता है। इसलिये प्रतिदिन दो मुहूर्तके भीतर ही घी बना लेना चाहिये अन्यथा वह घी भी अभक्ष्य हो जाता है। इसलिये श्रावकोंको मर्यादाके भीतर ही लोनीका घी बनाकर खाना चाहिये।

इसके सिवा जो पदार्थ पिंडरूपसे शुद्ध भी है परंतु उनके भक्षणमें अनिष्ट होता है तो ऐसे शरीरको रुग्ण बनानेवाले पदार्थ भी नहीं भक्षण करने चाहिये। जैसे दही शुद्ध है परंतु ज्वराक्रांतको देनेसे ज्वरकी वृद्धि एवं सन्निपातकी उत्पत्ति हो जानेकी पूरी संभावना है इसलिये ज्वरमें दहीका देना या खाना निषिद्ध है। इसीप्रकार जो जो पदार्थ अनिष्ट हों उन सबोंको छोड देना चाहिये। जो अनुपसेव्य हैं–सेवन करने योग्य नहीं हैं उन्हें भी अभक्ष्यकोटिमें लिया गया है, वे भी नहीं खाने योग्य हैं। इस-प्रकार भोगोपभोगपरिमाणव्रतवाले पुरुषको सभी भोग्य उपभोग्य पदार्थोंकी शुद्धि एवं इष्टानिष्टता आदिका विचार करके उन्हें ग्रहण करना चाहिये। अशुद्ध, अनिष्ट, अनुपसेव्य, तथा आवश्यकतासे बाहर शुद्ध भी छोड देना चाहिये।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ—(निजशक्तिं अवेक्ष्य) अपनी शक्तिका विचार करके (अविरुद्धा अपि भोगाः) अविरुद्ध भोग भी (धीमता) बुद्धिमान पुरुषके द्वारा (त्याज्याः) छोड देने चाहिये । (अत्याज्येषु अपि) उनके नहीं छोडने पर भी (एकदिवानिशोपभोग्यतया) एक दिन या एक रात्रिकी उपभोगताका नियम करके (सीमा कार्या) सीमा बांध लेनी चाहिये ।

विशेषार्थ—जो पदार्थ किसीप्रकार दूषित नहीं हैं एवं जो अपने अनुकूल भी पडते हैं, वे भी शक्तिके अनुसार जितने भी छोडे जा सकें छोड देने चाहिये । बुद्धिमान पुरुषका यही कर्तव्य है कि जितना आरंभ घटाया जा सके उतना ही घटा दे और जितने पदार्थ छोडे नहीं जा सकते, जिनके छोडनेमें असमर्थ है उनके विषयमें भी उसे मर्यादा कर लेना चाहिये, जैसे अमुक वस्तु मैं आज नहीं सेवन करूंगा, अमुक ८ दिन नहीं ग्रहण करूंगा, आज रात्रिको अमुक वस्तुका उपभोग नहीं करूंगा इत्यादि रीतिसे उनकी मर्यादा बांधकर समय समयपर उनसे होनेवाले आरंभसे बचनेका यत्न करते रहना चाहिये ।

सीमाके भीतर सीमा ।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिं ।
सीमन्यंतरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थ—(पुनरपि) फिर भी (पूर्वकृतायां) पहले की हुई (सीमनि) सीमाके भीतर (निजां तात्का-

लिकी शक्तिं समीक्ष्य) अपनी उस कालकी शक्तिको भलेप्रकार विचार करके (अंतरसीमा) दूसरी सीमा (प्रतिदिवसं) प्रतिदिन (कर्तव्या भवति) कर लेना चाहिये ।

विशेषार्थ—जो अवधि-सीमा भोग्य उपभोग्य पदार्थोंके ग्रहण करनेकी पहले की जा चुकी है, फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार उस सीमाके भीतर दूसरी सीमा करनी चाहिये। जैसे कोई पदार्थ ८ दिनके लिये हालमें सेवनके लिये रक्खा है तो फिर भी उसमे तृष्णा घटानेके लिये अपनी शक्ति देखकर यह नियम करे कि मैं उसे दो दिन ही ग्रहण करूंगा इत्यादिरूपसे प्रतिदिन सीमाके भीतर सीमा करते रहना चाहिये, वैसा करनेसे भोगोपभोगपरिमाणव्रत उत्तमरीतिसे फलप्रद होता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतका फल।

इति यः परिमितभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (यः) जो पुरुष (परिमितभोगैः संतुष्टः) नियमित किये गये भोगोंसे संतुष्ट होता हुआ (बहुतरान् भोगान्) अधिक भोगोंको (त्यजति) छोड देता है (तस्य) उस पुरुषके (बहुतरहिंसाविरहात) बहुत अधिक हिंसाके छूट जानेसे (विशिष्टा अहिंसा) विशेष अहिंसा (स्यात) होती है।

विशेषार्थ—जो पुरुष थोडे भोगोंसे ही संतुष्ट होता हुआ बहुभाग भोग तथा उपभोगको छोड देता है वह उनसे होनेवाली समस्त हिंसासे बच जाता है, इस रीतिसे उसके समधिक अहिंसाव्रत होता है। कारण कि जितना आरंभ घटाया जाता है उतनी ही हिंसासे मुक्ति होती जाती है।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥ १६७॥

अन्वयार्थ—[दातृगुणवता] दाताके गुण धारण करनेवाले पुरुषको [विधिना] विधिपूर्वक [जातरूपाय अतिथये] जन्मकालके रूपको–नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले अतिथि–साधुके लिये [स्वपरानुग्रहहेतोः] अपने और परके उपकारके निमित्त [द्रव्यविशेषस्य] विशेष शुद्ध एवं विशेष योग्य द्रव्यका [भागः] विभाग–हिस्सा [अवश्यं कर्तव्यः] अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—दान देनेवाले दाताके सात गुण शास्त्रकारोंने बतलाए हैं जिन्हें कि स्वयं आचार्य आगे बतलायेंगे वे सातों गुण जिस दातामें होते हैं वही दाता प्रशंसनीय एवं विशेष पुण्यका भाजन होता है। दान विधिपूर्वक ही देना चाहिये. विधि किसप्रकार है यह आगेके श्लोकमें स्वयं ग्रंथकार कहेंगे। दान पात्रको ही देना चाहिये. अपात्र या कुपात्रको दिया हुआ दान उलटा विपरीतफल–पापफल देता है। दान योग्य शुद्ध उत्तम द्रव्यका देना चाहिये। जो साधारणरूपसे साधारण द्रव्योंका दान दिया जाता है उसमें दान देनेवालेकी उपेक्षा पायी जाती है, जहां विशेष भाव एवं विशेष भक्ति होती है वहां विशेष पदार्थोंकी योजना अवश्य की जाती है। दान देते समय किस प्रकारकी भावना रखनी चाहिये, इसके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि दान देते समय दाताको केवल अपने और गृहीताके कल्याणकी भावना रखनी चाहिये। दान देनेसे मुझे परम पुण्यबंध होगा. दान देनेका अवसर बडे ही भाग्यसे मिलता है, इसप्रकार अपने कल्याणकी भावना दाताको रखनी चाहिये और गृहीताका इस द्रव्यसे उपकार हो ऐसी बुद्धि भी

उसे रखना चाहिये । इस स्व-पर अनुग्रहके सिवा उसे और किसी सांसारिक वासनाकी चाहना नहीं रखना चाहिये । जो दाता अपने दानका फल स्वर्गादिगति चाहता है, जो संसारमें प्रतिष्ठा लेना चाहता है, जो गृहीतासे कुछ प्रत्युपकार—बदला लेनेकी वांछा रखता है, जो गृहीता या उसके किसी पूर्वसंबंधीको प्रसन्न रखनेकी इच्छा करता है, वह दाता उत्तम दाता कहलानेयोग्य नहीं है और न ऐसा दाता दानके विशेष फलको—विशेष पुण्यको पाता है । इसलिये दान देनेवालेको किसी प्रकारकी स्वार्थवासना नहीं रखकर केवल अपने और परके कल्याणकी ही भावना रखना चाहिये । जिनके कोई तिथि नियत नहीं है वे अतिथि कहे जाते हैं, अर्थात् जो किसी तिथिके निश्चय किये जब कभी शरीररक्षणार्थ भोजनके लिये श्रावकके घरपर आ जांय वे अतिथि कहलाते हैं ऐसे अतिथि सर्वोत्तम कोटिमें नग्न दिगम्बर मुनि महाराज कहलाते हैं, दूसरी कोटिमें अर्जिका, तीसरी कोटिमें ऐलक, चौथीमें क्षुल्लक कहलाते हैं । ये सभी उद्दिष्ट भोजनके त्यागी हैं, बुलानेसे भी श्रावकके यहां भोजनार्थ नहीं आते हैं किंतु २-४-८ दिन पीछे या कभी कभी प्रतिदिन बिना बुलाये स्वयं श्रावकके दरवाजेपर जाते हैं । ऐसे अतिथियोंको दान देनेका अवसर किसी विशेष पुण्यके उदयसे ही श्रावकोंको मिलता है ।

दान देनेकी विधि ।

> संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
> वाक्कायमनःशुद्धिरेषणाशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ—[संग्रह] उत्तम पात्रोंका भलेप्रकार समीचीनरीतिसे ग्रहण करना, इसीका नाम प्रतिग्रहण—पडगाहन भी है [उच्चस्थानं] उन्हें ऊंचा आसन देना (पादोदकं) उनके पाद प्रक्षालन करना [अर्चनं]

उनकी पूजा करना [च प्रणामं] और प्रणाम करना [वाक्कायमनःशुद्धिः] वचनशुद्धि रखना, कायशुद्धि रखना, मनःशुद्धि रखना [च एषणशुद्धिः] और एषणाशुद्धि रखना अर्थात भोजनकी शुद्धि रखना [विधिं आहुः] इनको दान देनेकी विधि कहते हैं।

विशेषार्थ—जिस समय अतिथि भोजनके लिये दरवाजेपर आवें उस समय भक्तिवश दान देनेकी इच्छा रखनेवाला श्रावक उनका प्रतिग्रहण करे अर्थात् उनके सन्मुख खडा होकर बडे विनयके साथ यह उच्चारण करे कि 'यहां पधारिये पधारिये स्वामिन्! अन्नजल शुद्ध है' इसप्रकार पडगाहन करे। जब वे आने लगें तब उनके आगे आगे होकर उन्हें घरके भीतर ले आवें, वहांपर उन्हें ऊंचा काष्ठका आसन देवे अर्थात काठका सिंहासन, कुर्सी चौकी आदि पवित्र आसनपर उन्हें बिठा देवे। पश्चात् उनके चरणोंका प्रासुक जलसे प्रक्षाल करे, इसीका नाम पादोदक है। पाद-चरणोंके लिये जो जल उसे पादोदक कहते हैं अथवा पादोंमें लिया हुआ जो जल वह पादोदक कहा जाता है, उनके चरणोंका जल-प्रक्षाल पवित्र जल है उसे शरीरमें लगाना चाहिये। प्रक्षाल करनेके पीछे उनकी अष्टद्रव्यसे पूजन करे, पश्चात उनकी प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करे और मनको शुद्ध रक्खे, वचनको शुद्ध रक्खे, शरीरको शुद्ध रक्खे, अर्थात् मनमें किसीप्रकार मायाचार अथवा आर्तध्यान आदि नहीं रक्खे, वचनमें किसीप्रकारकी कठोरता एवं असत्यता नहीं रक्खे, शरीरमें किसी प्रकारकी बाह्य मलिनता नहीं रक्खे, तथा भोजन शुद्ध तयार करावे, अर्थात् भोजनमें कोई पदार्थ अभक्ष्य एवं विकारयुक्त न हो। इसीका नाम आहारदान देनेकी विधि है, दूसरा इसीका नाम नवधाभक्ति है, अर्थात् नौप्रकार भक्तिविधिपूर्वक संपादित करे। विना नवधाभक्तिके उत्तम पात्रको आहार अशक्य है। इसलिये विधिपूर्वक ही आहारदान करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षांतिर्निष्कपटतानसूयत्वं ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ—[ऐहिकफलानपेक्षा] इस लोकसंबंधी एवं परलोकसंबंधी फलकी अपेक्षा नहीं करना [क्षांतिः] क्षमाभाव धारण करना [निष्कपटता] मायाचार नहीं रखना [अनसूयत्वं] ईर्ष्याभाव नहीं रखना [अविषादित्वमुदित्वे] किसी भी कारणसे विषाद-खेद नहीं करना और हो जानेपर इस बातका हर्ष मनाना कि मुझे आज बहुत फायदा हो गया । [निरहंकारित्वं] अहंकार-मान नहीं करना [इति] इसप्रकार [हि] निश्चयसे [दातृगुणाः] दातामें गुण होना आवश्यक है ।

विशेषार्थ—दान देनेवाले [illegible] गुण अवश्य होने चाहिये इन गुणोंके होनेसे दाता विशेषाधिक पुण्यका लाभ करता है, विना इन गुणोंके दाता निकृष्ट परिणामवाला समझा जाता है । वे सात गुण इसप्रकार हैं—

मुझे लोकमें प्रतिष्ठा मिले, मेरा यश फैल जाय, किसीप्रकारका मेरा कार्य सिद्ध हो जाय, मेरा अहसान हो, इत्यादि इस पर्यायसंबंधी फलकी चाहना न करना चाहिये और परलोकमें मुझे देवोंके सुख मिलें, भोगभूमिमें मैं उत्पन्न हो जाऊं इत्यादि परलोकसंबंधी वांछा नहीं करना चाहिये किंतु विना किसीप्रकारकी आकांक्षाके केवल अपने और गृहीताके कल्याणकी सद्बुद्धि रखकर ही दान देना चाहिये ।

पूर्ण क्षमाभाव होना चाहिये, किसी निमित्तसे भी मुनियोंका अंतराय हो जानेसे किसी सामग्रीकी न्यूनता हो जानेसे अथवा बहुत लेनेवाले हैं किसे किसको दूं इत्यादि प्रकारसे क्रोध नहीं उत्पन्न होना चाहिये ।

मायाचार नहीं होना चाहिये किसीप्रकारकी अशुद्धि रह जानेपर वचनसे यह कहना कि हां ! सब शुद्ध है वाक्कपटता है। मनमें कोई भाव हो उसे प्रकाशमें दूसरे रूपसे ही दिखा देना यह मनकी कपटता है। मुख्यतासे कपटवृत्ति मनमें ही होती है उसीका प्रयोग वचन व काय द्वारा किया जाता है। माया एक शल्य है, यह दाताके गुणोंका लोप करनेवाली कषाय है इसलिये सरल एवं शुद्ध-विकाररहित परिणाम रखना अत्यावश्यक है।

किसी दूसरेने मुनियोंको आहारदान दिया हो तो उसे देखकर उस देनेवालेसे ईर्षा करना कि इसके यहां क्यों आहार हो गया, अथवा इसने केवल मांढका आहार दिया है मैं कल दूध आदि बहुमूल्य पदार्थोंका दान दूंगा फिर इसकी अपेक्षा मुझे अधिक यश मिलेगा इसप्रकार दूसरे दातासे ईर्ष्याभाव धारण करना असूया कहलाती है। वैसा भाव नहीं धारण करना अनुसूया कहलाती है। जब कि निरपेक्ष शुद्धभावसे स्वपरकल्याणके लिये ही दान देनेका उद्देश्य है तो दूसरेको देते हुए भी हर्षभाव ही धारण करना चाहिये, उसकी प्रशंसा करनी चाहिये कि तू धन्य है और तेरे आज उत्तमपात्र पधारे और तूने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान कराकर अपनेको कृतार्थ करलिया, इसप्रकार अनुसूया ईर्षारहित भाव धारण करना चाहिये।

किसी अंतरायके हो जानेसे मुनियोंका यदि आहार न हो सके अथवा अपने यहां उनका आना ही न हो सके तो विषाद-खेद नहीं करना चाहिये। विना कारण खेद करके पापबंध बांधना मूर्खता है, इसलिये किसी कारणके उपस्थित होनेपर खेद नहीं करना चाहिये।

इस बातका हर्ष भी करना चाहिये कि आज मेरे उत्तमपात्रका आहार हो गया है मुझे अनेक

गुणोंका लाभ होगया, मेरे यहां आज उत्तमपात्रके चरण पधारे हैं मेरा घर आज पवित्र हो चुका और मैं अपने धन्यभाग समझता हूं। इस रीतिसे हर्ष मनाना धर्मका दृढता एवं साधुओंमें भक्तिका परिणाम है। विना धर्ममें दृढता एवं साधुओंमें भक्तिवश विशेष अनुराग हुए आहारदान देनेपर भी अधिक हर्ष नहीं होता।

दान देनेपर मान नहीं करना चाहिये, यह भाव हृदयमें कभी नहीं लाना चाहिये कि मेरे यहां मुनिमहाराजका अथवा ऐलक महाराजका आहारदान हो गया है दूसरे पडोसीके यहां नहीं हुआ है, इसलिये मैं ऊंचा हूं, यह नीचा है। सरल एवं विनयभावोंमें रहना ही दाताका सद्गुण है। ये सात गुण दातामें रहने चाहिये, विना इन गुणोंके दानका महत्व नहीं है और न वह विशेष पुण्यका लाभ करता है।

दानमें कौनसा द्रव्य देने योग्य है।

रागद्वेषासंयममदुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ—[यत्] जो [रागद्वेषासंयममदुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिको [न कुरुते] नहीं करता है [सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं] सुतप करनेमें, स्वाध्याय करनेमें जो वृद्धि करनेवाला हो [तत एव द्रव्यं देयं] वही द्रव्य देनेयोग्य है।

विशेषार्थ—दानमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं देना चाहिये जिससे कि दान ग्रहण करनेवाले तपस्वीके परिणामोंमें किसी प्रकारका रागद्वेष उत्पन्न हो जाय, अथवा संयम पलनेमें कठिनता आ जाय अथवा

संयमका घात ही होता हो, जैसे उष्णकाल होनेपर भी आहारमें मिरच आदि उष्ण पदार्थ ही साधुओंको दे दिया तो उससे उनके कंठमें अग्नि जलने लगेगी, अथवा ऐसा पदार्थ दे दिया जिससे उन्हें शौच जानेकी बाधा हो जाय इसलिए आहारदान देते समय उन साधुओंकी शरीररक्षाकी हरप्रकारसे सुविधा देखना चाहिये। ऋतुका विचार भी रखना चाहिये, उष्णकालमें शीतलपदार्थ देना चाहिये, शीतकालमें उष्ण देना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि ये साधु महाराज कितने दिनसे उपवास धारण करनेवाले हैं, यदि उन्हें अधिक दिन निराहारसे बीत गए हैं तो उन्हें कोई तरल पदार्थ देना चाहिये जिससे उनके गलेमें कवलके निगलनेमें दर्द न हो, जिस पदार्थसे बाधा पहुंचनेका भय न हो, जिससे शरीरमें कोई पीडा न खडी हो जाय ऐसा ही पदार्थ देना चाहिये। जो पदार्थ तप करनेमें एवं स्वाध्याय करनेमें सहायता देनेवाला हो वही देना चाहिये जैसे चावल, मक्खन, दूध, घी, छाछ, इक्षुरस, भात, इलायची आदि पदार्थ देने चाहिए, जो सात्विक हों, मादक न हों, शिरमें ठंडक रखनेवाले हों, शरीरमें शांति पहुंचानेवाले हों, किसीप्रकारका विकार नहीं लानेवाले हों तथा जिनके सेवनसे उनका चित्त तप और स्वाध्यायमें विशेष पालनक उपयुक्त बना रहे अर्थात् बिना किसी विघ्न बाधाके उन कार्योंमें प्रवृत्ति बनी रहे, उन्हीं वस्तुओंका दान देना विवेकशील श्रावकका परम कर्तव्य है। कारण आहारदान शरीररक्षाके लिये है और शरीरका ठीक रहना धर्मसाधनकी सहायता है। शरीरमें बाधा पहुंचनेसे—किसीप्रकारका कष्ट होनेसे धर्मध्यानमें भी बाधा पहुंचती है इसलिये शरीरमें कोई कष्ट या बाधा न हो इस बातका ध्यान श्रावकको रखना चाहिये। इसके सिवा सम्यग्ज्ञानवर्धक शास्त्र उन्हें देना चाहिये, संयमकी रक्षा करनेवाले—पीछी कमंडलु भी आवश्यकतानुसार उन्हें दे देना चाहिये। पीछी कमंडलु संयमकी रक्षाके अंग

हैं बिना पीछीके जीवरक्षा नहीं की जा सकती, उठने बैठने लेटने ग्रन्थ रखने उठाने आदि क्रियाओंमें जीवोंको देखकर उन्हें उस स्थानसे हटाना चाहिये, वह कार्य अति कोमल पीछीसे ही साध्य है—अन्य किसी उपकरणसे नहीं हो सकता। इसलिये पीछी जीवरक्षाका उपकरण है, कमंडलु शुद्धिका उपकरण है, लघुशंका, दीर्घशंका—मूत्रबाधा मलबाधा दूर करनेपर कमंडलुके जलसे शरीर शुद्धि की जाती है, बिना कमंडलुके शरीरशुद्धि नहीं की जा सकती, इसलिये कमंडलु भी संयमका उपकरण है। शास्त्र ज्ञानोपकरण है, बस ये तीन ही वस्तुऐं मुनियोंके पास रहती हैं वे परिग्रहमें सामिल नहींकी जा सकतीं, कारण कि परिग्रह वही समझा जाता है जिसमें कुछ ममत्वबुद्धि हो, एवं जिससे इंद्रियों व शरीरको सुख मिलता हो, परंतु पीछी कमंडलु दोनोंसे शारीरिक व ऐंद्रियिक सुख नहीं मिलता और न सुख प्राप्त करना उनसे उद्देश्य ही है किंतु संयमकी रक्षा होना इसी मात्रकी सिद्धिके लिये उन दोनोंका रखना मुनि व ऐलक पदके लिये अत्यावश्यक है। संयमरक्षार्थ एवं विशेष संयमकी सिद्धि व सूचनाके लिये पीछी कमंडलु चिन्ह हैं।

पात्रके भेद।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानां।
अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ—[मोक्षकारणगुणानां संयोगः] मोक्षके कारणरूप गुण—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका जिनमें संयोग हो ऐसे, [अविरतसम्यग्दृष्टिः] अविरतसम्यग्दृष्टि—चतुर्थगुणस्थानवर्ती [विरताविरतश्च] विरताविरत—देशविरत पंचमगुणस्थानवर्ती और [सकलविरतश्च] सकलविरत—छठे गुणस्थानवर्ती मुनिमहाराज ['इति' पात्रं] इसप्रकार पात्र [त्रिभेदं] तीन प्रकारके [उक्तं] कहे गये हैं।

विशेषार्थ—पात्रका सामान्यलक्षण यह है कि जिस आत्मामें मोक्षकी कारणता उपस्थित हो—अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी प्रगटता जिस आत्मामें हो चुकी हो, अथवा केवल सम्यग्दर्शन ही प्रगट हो चुका हो वही आत्मा पात्र कहा जाता है। पात्रके तीन भेद हैं—उत्तमपात्र मध्यमपात्र और जघन्यपात्र। जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही गुण प्रगट हो चुके हों ऐसे सकलसंयमी आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधु उत्तमपात्र कहे जाते हैं, जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और एकदेशचारित्र हो ऐसे पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यमपात्र कहे जाते हैं। जिनकी आत्मामें देशचारित्र भी न हो किंतु सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हो चुका हो ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि—चतुर्थगुणस्थानवर्ती पाक्षिक श्रावक जघन्यपात्र हैं।

जिसप्रकार उत्तम मध्यम जघन्य गुणवाली पृथ्वीमें बोया हुआ बीज उसी उसी रीतिसे उत्तम मध्यम जघन्य फल देता है उसीप्रकार उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंमें दिया हुआ दान क्रमसे उत्तम मध्यम जघन्य फलको देता है।

यदि उत्तमपात्र मिलते हों तब तो अहोभाग्य ही समझना चाहिये यदि वे अपने दुर्दैवसे नहीं मिल सकें तो उत्कृष्ट मध्यमपात्र ऐलक क्षुल्लक परिग्रहत्यागी ब्रह्मचारी चतुर्थ प्रतिमाधारी दूसरी प्रतिमाधारी एवं पहली प्रतिमाधारी जो भी मिलसकें उन्हें आहार कराकर ही श्रावकको आहार करना चाहिये। विना आहारदान दिये आहार करना श्रावककी पद्धतिसे बाहर है। गृहस्थाश्रममें किये गये सांसारिक आरंभजनित पापोंका क्षय करनेके लिये श्रावकके पास पात्रदान देना ही सुगम उपाय है। यदि वह भी उपाय श्रावक काममें न लावे तो वह हीनकर्मा है। यदि मध्यम व्रती भी श्रावक आहार करनेकेलिये

नहीं मिलसकें तो जघन्यपात्र—अविरत सम्यग्दृष्टिको ही ले जाकर उसे भक्तिपूर्वक आहार कराना चाहिये। ऐसे जघन्य पात्रोंकी सर्वत्र सत्ता देखनेमें आती है, जो देवगुरुशास्त्रमें दृढश्रद्धा रखते हैं, जिन-मार्गसे विपरीत एक अक्षर भी जो बोलनेकेलिये तयार नहीं है जो अष्टमूल गुणके धारी हैं ऐसे पुरुष अविरत सम्यग्दृष्टियोंकी कोटिमें सामिल करनेयोग्य हैं, इसके सिवा जिनकी आत्मामें संसारसे भय पैदा हो चुका हो, दयालु परिणाम हो, शांति हो, इन सब सद्गुणोंके साथ परम आस्तिक्यभाव—धर्ममें दृढता गाढ श्रद्धा हो वे सम्यग्दृष्टि समझने चाहिये, अन्यथा व्यवहारसम्यक्त्वको छोडकर निश्चयसम्यक्त्वके जाननेके लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है, केवल बाह्य लक्षणोंसे अंतरंग गुणके सद्भावका अनुमान किया जा सकता है। जघन्य पात्रके यद्यपि सम्यक्चारित्र नहीं है, क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्म उसकी आत्मामें चारित्रको रोक रहा है तो भी सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे वह प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है, इसलिये वह भी अविरत सम्यग्दृष्टि भी जघन्यपात्र है। इसप्रकार जघन्यपात्र भी भक्तिपूर्वक आहारदान देने योग्य है। जहां पात्रको धर्मबुद्धिसे दान दिया जाता है वहां भक्तिपूर्वक ही दिया जाता है। इसीलिये तीनोंप्रकारके पात्रोंको यथायोग्य भक्तिपूर्वक प्रतिदिन दान देकर ही भोजन करना चाहिये। यह गृहस्थका प्रधान कर्तव्य है।

जो विद्यार्थी—देवशास्त्रगुरुमें अटल भक्ति रखते हुए यथार्थ ज्ञान—सम्यग्ज्ञान बढानेवाली विद्याका अध्ययन करते हैं उन्हें भोजन करा देना भी पात्रदान है। उनके लिये पुस्तकादिकी सहायता कर देना ज्ञानदान है।

इसप्रकार पात्रोंको दान करना पात्रदान कहा जाता है। इन्हीं पात्रोंको धर्मपात्र भी कहते हैं,

धर्मपात्रोंके पांच भेद हैं, १–सामयिक, २–साधक, ३–समयद्योतक, ४–नैष्ठिक, ५–गणाधिप। उनमें सामयिक धर्मपात्र वे कहलाते हैं जो कि शास्त्रोंकी आज्ञानुसार चलनेवाले मुनि अथवा गृहस्थ हैं। साधक वे कहलाते हैं जो ज्योतिषमंत्र आदिसे संसारी जीवोंका उपकार करते हों एवं शास्त्रोंके जानकार हों। समयद्योतक वे कहलाते हैं जो वाद विवादकर जैनधर्मकी प्रभावना बढानेवाले हों। नैष्ठिक वे कहलाते हैं जो मूलगुण और उत्तरगुणोंमें प्रशंसनीय वृत्तिवाले तपस्वी हों। गणाधिप वे कहलाते हैं जो ज्ञानकांड और क्रियाकांडमें कुशल धर्माचार्य एवं उन्हींके समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्य हैं। इन पांचोंप्रकारके धर्मपात्रोंको उनके गुणोंकी वृद्धिके लिये दान देकर संतुष्ट करना चाहिये। इसके सिवा जो परस्पर गृहस्थ सधर्मी भाई आपसमें एक दूसरोंको भोजन कराते हैं वह समानदान कहलाता है उसे समदत्तिके नामसे कहा जाता है, दाता गृहीता दोनों ही की वहां समानकोटि है। ऐसा समानदान भी प्रेमका एवं वात्सल्य भावका वर्धक है। समय समयपर गृहस्थोंको यह दान भी करते रहना चाहिये।

अब कुपात्रका स्वरूप कहा जाता है, जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन तो न हो परंतु जो चारित्रका पालन करते हों वे कुपात्र कहलाते हैं, इस संज्ञामें द्रव्यलिंगी मुनि एवं मिथ्यादृष्टि व्रत पालनेवाले श्रावक ग्रहण किये जाते हैं। कुपात्रोंकी पहचान होना तो कठिन है, परंतु उनको दिया हुआ दान कुभोगभूमि आदि फलोंको देता है. यद्यपि दान देनेका फल तो सदैव अच्छा है, भोगभूमि आदि भोग भोगनेके स्थान मिलते हैं, परंतु कुपात्रदानसे कुभोगभूमि आदि स्थान मिलते हैं, जो श्रावक व्रतोंको तो पालते हैं परंतु देवगुरुशास्त्रमें अटलश्रद्धा नहीं रखते, वे सब कुपात्र कहे जाते हैं।

अपात्र वह कहलाते हैं जो सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनोंसे रहित हों। अर्थात् जैनोंसे भिन्न

जितने भी हैं वे सब अपात्र हैं, कारण न तो उनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन है और न जैन धर्मानुसार चारित्र है। इन अपात्र पुरुषोंको धर्मबुद्धिसे दिया हुआ दान व्यर्थ ही नहीं जाता किंतु कुफल—अशुभफलको भी देता है।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि जब जैनधर्मीके सिवा सभी अपात्र हैं तो उन्हें दान देना पापबंधका कारण है वैसी अवस्थामें अंधे, लूले, लंगडे, अनाथ, दुःखी, क्षुधातुर इन लोगोंको भी दान देनेका निषेध सिद्ध होता है, परंतु शास्त्रकारोंने ऐसोंको दान देनेका उपदेश दिया है? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है——ऊपर पात्रोंका वर्णन आ रहा है, पात्रोंको दान करुणाबुद्धिसे नहीं दिया जाता किंतु धर्मबुद्धिसे भक्तिपूर्वक दिया जाता है। धर्मायतनोंमें भक्तिबुद्धि ही रखनेका विधान है। परंतु जो पात्र नहीं हैं कुपात्र हैं वहां भी भक्तिभाव ही रक्खा जाता है। यद्यपि कुपात्रोंमें भक्तिबुद्धि नहीं रखना चाहिये कारण वे वास्तवमें धर्मसे रहित हैं, परंतु उनके सम्यग्दर्शन है या नहीं है इस बातकी पहचान छद्मस्थ पुरुष नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें पात्र ही समझते हैं, वैसी अवस्थामें उनका भक्ति करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि पात्रोंमें भक्ति—विनय नहीं रक्खी जायगी तब भी अधर्म होगा और कुपात्रोंका चारित्र—व्रताचार बाह्यमें पात्रोंके समान ही रहता है इसलिए वहां तो भक्तिबुद्धिसे श्रावक दान दे देता है परंतु जो प्रत्यक्षमें अपात्र दीख रहे हैं उनमें भक्तिबुद्धि तो हो नहीं सकती क्योंकि भक्ति वहीं होती है जहां धार्मिक भाव है, जिस गृहीतामें धार्मिकभाव नहीं है उसमें दाताका भक्तिरूप परिणाम कभी नहीं हो सकता और न होना ही चाहिये। इसलिए उसी भक्तिबुद्धिके वर्णनके कारणसे अपात्रोंको दान देनेका निषेध किया गया है। यदि भक्तिबुद्धिकी अपेक्षा नहीं रक्खी जाय केवल उनके कष्टनिवारणकी इच्छा

रखी जाय तब उन्हें—अपात्रोंको दान देना चाहिये, वह दान करुणाबुद्धिसे दिया कहा जायगा। अर्थात् दुःखी क्षुधातुर अनाथ आदि जितने भी अपात्र हैं उन्हें भी दया परिणामोंसे अवश्य दान देना चाहिये। वे धर्मसे शून्य होनेसे धर्मपात्र नहीं हैं किंतु विचारे दयाके पात्र हैं, जो पुरुष किसी प्रकार दुःखी नहीं हैं हरप्रकारसे समर्थ हैं, सुखी हैं, ऐसे अपात्रोंको दान देकर सुफल चाहना समुद्रमें बीज डालकर उससे फल लेनेकी इच्छा करनेके समान हास्यास्पद है। इसलिए पात्र अपात्रकी पहिचान कर ही दान देना चाहिये।

दानसे अहिंसाधर्म पलता है।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टं ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ—(यतः लोभः हिंसायाः पर्यायः) कारण कि लोभ हिंसाका ही पर्याय है अर्थात् हिंसारूप ही है ("सः" अत्र दाने निरस्यते) वह लोभ इस दान देनेमें दूर किया जाता है। (तस्मात्) इसलिये (अतिथिवितरणं) अतिथिको दान देना (हिंसाव्युपरमणं एव इष्टं) हिंसाका त्याग ही सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—दान देना अहिंसा है, अर्थात् हिंसाको दूर हटाना है कारण कि दान देनेसे लोभकषायका त्याग होता है, बिना लोभकषायका त्याग किए दान देनेके परिणाम ही नहीं होते, इसलिए दानीके लोभकषाय छूट जाता है। लोभकषाय हिंसाका ही दूसरा नाम है। कारण कि कषायमात्र ही आत्माके परिणामोंकी हिंसा करनेवाले हैं इसलिए लोभकषाय भी आत्माको मोहित एवं प्रमत्त बनाता है इसलिए वह भी हिंसास्वरूप है। दान देनेसे उस लोभकषायरूप हिंसाका नाश होता है इसलिए अतिथिको दान देनेसे अहिंसाधर्मकी सिद्धि होती है अथवा हिंसाभावका परित्याग होता है।

१८

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ—(गुणिने) रत्नत्रय गुणोंके धारण करनेवाले (मधुकरवृत्त्या परान् अपीडयते) भ्रमरकी वृत्तिके समान दूसरोंको नहीं पीडा पहुंचानेवाले (गृहं आगताय) अपने घर आये हुए (अतिथये) साधुकेलिये (यः न वितरति) जो दान नहीं देता है (सः कथं लोभवान् न हि भवति) वह क्यों निश्चयसे लोभी नहीं है ? अर्थात् अवश्य लोभी है।

विशेषार्थ—जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र गुण प्रगट हो रहे हैं, जो किसी जीवको पीडा पहुंचानेका भाव नहीं रखते हैं तथा शरीरसे भी अच्छी तरह निरीक्षण करनेके कारण जो दूसरोंको पीडा नहीं होने देते, जिसप्रकार भौंरा (भ्रमर) प्रत्येक पुष्पपर बैठता है परंतु उसे विनष्ट नहीं होने देता, बिना पुष्पको किसीप्रकार आघात पहुंचाये ही उसका रसास्वाद लेता है उसीप्रकार जो भ्रामरी वृत्तिसे कभी किसीके यहां और कभी किसीके यहां आहार लेने जाते हैं किसी एक स्थानमें ही मोहितवृत्ति नहीं रखते, और न किसीको किसीप्रकार कष्ट ही देते हैं जो सदा गृहवास छोडकर जंगलमें निवास करते हैं ऐसे साधुओंका घर आना बडे ही पुण्योदयसे होता है, सहसा नहीं होता फिर भी घर आये हुए साधुओंको जो गृहस्थ दान नहीं देता है वह कितना लोभी है यह बात छिपी नहीं रह सकती अर्थात् जिसके परिणाम घर पधारे हुए रत्नत्रयधारी परम शांतवृत्तिवाले—वीतरागी मुनियोंके लिये भी आहारदान करनेके नहीं होते वह महान् लोभी है ऐसा लोभी पुरुष कभी स्व—पर कल्याण नहीं कर सकता किंतु अपनी आत्माको ठगता है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददानि भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥ १७४॥

अन्वयार्थ—(आत्मार्थं कृतं भक्तं) अपने लिये किये हुए भोजनको (मुनये ददानि) मैं श्रीमुनि महाराजकेलिये दान दूं (इति भावितः त्यागः) इसप्रकार भावपूर्वक किया हुआ दान (अरतिविषादविमुक्तः) अप्रेम और खेदसे रहित होता है (शिथिलितलोभः) लोभकषायको शिथिल कर देता है इसलिये (अहिंसा एव भवति) वह अहिंसास्वरूप ही हो जाता है।

विशेषार्थ—जो पदार्थ अपने लिये तयार किया जाय और फिर उसको स्वयं देनेके परिणाम हो जांय तो उस समय निश्चयसे लोभ मंद हो जाता है कारण यदि लोभकी तीव्रता होगी तो देनेके परिणाम ही नहीं होंगे, उस समय गृहस्थके गुणोंमें प्रेम भी अवश्य ही हो जाता है क्योंकि अपना प्रयोजनीभूत पदार्थ दूसरोंको प्रेमके वश होकर ही दिया जा सकता है अन्यथा नहीं और विषाद भी उस समय नष्ट हो ही जाता है उस पदार्थके दानको जो अपने लिये खेदजनक समझेगा वह उसका दान ही क्यों करेगा इसप्रकार अपने लिये तयार किये हुए भोजनको जो गृहस्थ भावपूर्वक मुनिमहाराजको देता है उसके उस समय अरति, विषाद और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाते हैं और इन तीनोंके नष्ट हो जानेसे उससमय आत्माके हिंसामय भाव रहते हैं इसलिये दानको अहिंसा स्वरूप समझना चाहिये।

उपर्युक्त रीतिसे पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये श्रावकके बारह व्रत निरूपण किये गये। अब मरणके पूर्व सल्लेखना धारण करना आवश्यक है उसीका वर्णन किया जाता है।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुं।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(इयं एका एव) यह एक ही (मे धर्मस्वं) मेरे धर्मरूप द्रव्यको (मया समं नेतुं) मेरे साथ ले जानेकेलिये (समर्था) समर्थ है (इति सततं) इसप्रकार निरंतर (भक्त्या पश्चिमसल्लेखना भावनीया) भक्तिपूर्वक मरणकालमें सल्लेखनाका चिंतवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—सत्-लेखना-सल्लेखना, भलेप्रकार कायकषायके कारणोंको घिसना, कमकरना अर्थात् रागद्वेष विभावपरिणाम जो संसारके वर्धक हैं, उन्हें कम करना एवं शरीरसे, बंधुबांधवोंसे, तथा समस्त परिग्रहसे ममत्व भाव हटाना, कषायोंको मंद करना, इसीका नाम सल्लेखना है। मरणकालमें ऐसे वीत-राग-निर्मलपरिणामोंके हो जानेसे आत्मा कल्याणका भाजन होता है, कारण, दूसरे भवकी आयुका बंध वर्तमान उपस्थित पर्यायमें बंधता है, वह आयुके त्रिभागमें आठ अपकर्ष कालोंमें होता है। अर्थात् आत्मामें परभवकी आयुका बंध होनेकी योग्यता, आठ अपकर्ष कालोंमें होती है वे काल आयुके त्रिभागोंमें ही पडते हैं। इसलिए वर्तमान आयुके प्रत्येक त्रिभागमें भी परभवकी आयुका बंध हो सक्ता है अथवा कुछ त्रिभागोंमें हो जाय या किसी त्रिभागमें नहीं होकर केवल मरणकालमें ही हो जाय, परंतु इतना तो नियम है कि यदि किसी त्रिभागमें आयुका बंध नहीं होगा तो मरणकालके पूर्व-अन्त-लावलि समय पहले परभवकी आयुका बंध नियमसे हो जायगा। और आयुबंध समय जैसे जीवके भले या बुरे परिणाम होते हैं उन्हींके अनुसार आयुबंध और गतिबंध होते हैं, अशुभ परिणामोंके

होनेसे दुर्गति एवं शुभ परिणामोंके होनेसे सुगति होती है यह भी नियम है कि गतिबंध तो छूट भी जाता है परंतु आयुबंध कभी छूटता नहीं है, जिस आयुका बंध किया जाता है उस पर्यायमें जीवको नियमसे जाना ही होगा, इसलिए आयु तो नियमसे एक ही बंधती है परंतु गतिबंधका कोई नियम नहीं है, चारों गतियोंका भी बंध हो सकता है, दो या तीनका भी हो सकता है। परंतु जो आयुबंधकी अविनाभाविनी गति है वह तो आयुके साथ परभवमें उदय आती है बाकी गतियोंका बंध विना फल दिये निर्जरित हो जाता है। जैसे यदि देवायुका किसी मनुष्यके बंध हो चुका है तो देवगति उदयमें आवेगी बाकी मनुष्य तिर्यञ्च नरक गतियां यदि उसके बंध हो चुकी हों तो वे विना कुछ फल दिए वैसे ही खिर जायेंगी। इसलिये आयुबंध छूटता नहीं है यह नियम है। जब यह नियम है तभी आचार्योंका यह सदुपदेश है कि प्रतिसमय परिणामोंको सम्हाल कर रक्खो, नहीं मालूम किस समय आयुका त्रिभाग पड जाय जिसमें कि परभवकी आयुका बंध हो जायगा। यदि हर समय परिणामोंको रागद्वेषरहित नहीं बना सको तो मरणकालमें तो अवश्य ही बनाओ; कारण उस समय तो आयुबंधकी पूर्ण संभावना है। यदि उस समय भी परिणामोंको कषाय एवं सांसारिक वासनाओंसे नहीं मुक्त कर सके तो फिर दुर्गतिका दुःख भोगना होगा कदाचित् आयुका बंध मरणकालके पहले ही हो तो भी यह लाभ होगा कि आयुका बंध किया जा चुका है उसमें भी उत्तम स्थान मिलेगा। जैसे देवायुका बंध यदि हो चुका हो तो मरणकालमें परिणामोंके उज्वल रहनेसे कल्पवासी देवोंमें उत्पत्ति होगी, भवनवासी आदिमें नहीं होगी, मनुष्योंमें उत्तम कुलादि मिलेंगे, इत्यादि रूपसे सल्लेखना हरप्रकारसे जीवको सुख साता पहुंचानेवाली है। उसके विषयमें मनुष्यको सदैव यही चिंतवन करना चाहिये कि मरणकालमें मेरा

सल्लेखनापूर्वक ही मरण हो, क्योंकि मेरी निज निधि अथवा मेरे वास्तविक हितैषी धर्म मित्रको सल्ले-खना ही मेरे पास भेज सकती है. विना उसके धर्मकी रक्षा मैं कदापि नहीं कर सकता, और विना उसकी रक्षा किये धर्मशून्य होकर ही परभवमें मुझे जाना पडेगा, इस परमहितकारिणी सल्लेखनाको मरणकालमें मुझे अवश्य धारण करना चाहिये। यदि किसी कारणवश बीचमें ही आयुके घात होनेका अवसर आ जाय तो उस समय सल्लेखनाका मुझे निमित्त मिल जाना चाहिये, इसप्रकार सल्लेखनाकी भावना सदा बना रहनेसे फिर मरणकालमें आत्मा ममत्व छोडनेके लिए समर्थ हो जाता है। भावनासे आत्मा व्रताचरणके लिए दृढ बन जाता है। परंतु इतना विशेष है कि सल्लेखनासे किसी सांसारिक स्वार्थका लक्ष्य नहीं रखना चाहिये, क्योंकि वह स्वार्थ निदानबंध होगा, निदानबंधका फल बहुत छोटा एवं आत्माको ठगनेवाला है इसलिये विना किसी सांसारिक चाहनाके धर्मभक्तिपूर्वक शुद्धपरिणामोंसे उसका धारण करना ही उत्तम फलका देनेवाला है।

सल्लेखनाका पालन।

मरणांतेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (मरणांते) मरणकालमें (विधिना) विधिपूर्वक (सल्लेखनां अवश्यं करिष्यामि) सल्लेखनाको अवश्य धारण करूंगा (इति भावनापरिणतः) इसप्रकारकी भावना रखनेवाला पुरुष (अनागत-मपि इदं शीलं पालयेत) अनुपस्थित रहते हुए भी इस शीलको पालन कर लेता है।

विशेषार्थ—सल्लेखना धारण करनेकी विधि यह है कि किसी कारणविशेषसे या सुतरां आयुका

क्षय होता जानकर समस्त परिग्रह एवं कुटुम्बियोंसे ममत्व भाव छोड दे, शरीरसे वस्त्र भी दूर करा दे, अपने शरीरसे भी ममत्वभाव छोड दे, आहारका त्याग सर्वथा कर दे, यदि सर्वथा न कर सके तो खाद्य पदार्थोंको छोडकर पेय पदार्थ, मांढ रख लेय, उसे भी क्रमसे छोडकर छाछ रख लेय, उसे भी छोडकर गरम जल रख लेय, पश्चात उसे भी छोडकर निराहारवृत्ति धारण कर ले। साथ ही किसीसे प्रेमभाव भी न करे, और न किसीसे शत्रु समझकर द्वेषभाव करे, किंतु सबोंको पास बुलाकर उनसे क्षमा मांगे और आप भी स्वयं उन्हें क्षमा प्रदान करे इसप्रकार चित्तको कषायसे रहित—शुद्ध बना लेय, अंतमें पंच नमस्कारका ध्यान करते करते सबप्रकारसे सावधानी रखते हुए शरीर छोडे यही सल्लेखनाकी संक्षिप्त विधि है। इस विधिसे मैं मरणसमयमें अवश्य ही सल्लेखना धारण करूंगा, इसप्रकारकी निरंतर भावना रखनेवाला पुरुष सल्लेखनाका समय नहीं प्राप्त होनेपर भी सल्लेखना व्रतका पालक समझा जाता है।

सल्लेखना आत्मघात क्यों नहीं है ?

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥ १७७॥

अन्वयार्थ—(मरणे अवश्यं भाविनि) मरणके नियमसे उत्पन्न होने पर (कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे) कषाय सल्लेखनाके सूक्ष्म करने मात्रमें (रागादिमंतरेण) राग द्वेषके बिना (व्याप्रियमाणस्य) व्यापार करनेवाले सल्लेखना धारण करनेवाले पुरुषके (आत्मघातः न अस्ति) आत्मघात नहीं है।

विशेषार्थ—यहांपर यह शंका उठाई जा सकती है कि जो पुरुष सल्लेखना धारण करता है वह आत्मघाती क्यों नहीं कहा जाता, कारण वह मरण चाहता है और प्राणोंको शरीरसे हटानेके लिये

उद्योग करता है ? इसी शंकाका उत्तर इस श्लोक द्वारा दिया जाता है कि सल्लेखना धारण करनेवाला आत्मघातक किसीप्रकार नहीं कहा जा सकता, कारण वह मरण होनेकी इच्छा नहीं करता, किंतु मरण समय उपस्थित हो जाने पर वह कषायोंको कृषकर अपने परिणामोंकी विशुद्धि करता है । दूसरे सल्लेखनामें वह आत्मघातका कोई प्रयोग नहीं करता किंतु जिससमय समझ लेता है कि अब नियमसे मरण होनेवाला है उससमय सबोंसे क्षमा मांगता है सब परिग्रह व कुटुम्बियोंसे ममत्व छोड़कर शुद्धात्म-स्वरूपके चिंतवनमें मग्न हो जाता है, क्या आत्मघाती ऐसे विशुद्ध परिणाम बना सकते हैं ? वह तो विशेष रागद्वेषभावोंसे आत्मघातकी चेष्टा करता है मरणजन्य संक्लेशभावोंसे मरता है । किसी शल्य विशेषसे मरनेका उद्योग करता है परंतु सल्लेखनामें इन बातोंमेंसे एक भी बात नहीं है । न तो किसी-प्रकारका रागद्वेष होता है, न इष्टानिष्ट बुद्धि होती है और न कोई शल्य होता है । प्रत्युतः निरपेक्ष वीतराग-विशुद्ध परिणाम हैं । सल्लेखनावाला केवल इतना ही तो करता है कि मरण अवश्य निकट समझकर कषायोंको घटाता रहता है, ममत्व छोड़ता है, क्या इन भावोंके धारण करनेवाला कभी आत्मघातका दोषी कहलाने योग्य है ? कभी नहीं !

यो हि कषायाविष्टः कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (यः) जो पुरुष (कषायाविष्टः) कषायसे रंजित होता हुआ (कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः) कुंभक, श्वास रोकना, जल, अग्नि, विष और शस्त्रोंके द्वारा (प्राणान्) प्राणोंको (व्यपरोपयति) नष्ट करता है (तस्य) उसके (आत्मवधः सत्यं स्यात्) आत्मवध वास्तवमें होता है ।

विशेषार्थ—जो पुरुष रागद्वेष मोहके वशवर्ती होता हुआ, श्वास रोककर मरनेकी चेष्टा करता है, जो जलमें अग्निमें स्वयं पड़कर मरता है, विष खा लेता है, छुरी भोंककर या अपने आप बंदूक आदि शस्त्र चलाकर स्वयं मरता है वह नियमसे आत्मघाती है, कारण कि विना तीव्रकषायके अपने आप कोई मरनेके लिये अग्नि जल आदिमें नहीं पड़ना चाहता है इसलिये जिसके तीव्रकषाय—प्रमादयोग है वही आत्मघाती है, सल्लेखना मरण करनेवाला न तो मरण चाहता है और न कोई मरनेका प्रयोग या चेष्टा ही करता है और न उसके रागद्वेष ही है, वह तो केवल मरणसमय निश्चित समझकर परिणामोंको शांत एवं ममत्वहीन बनाता है इसलिये उसके प्रमादयोगका नाम भी नहीं है और जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका घात नहीं किया जाता है वहां आत्मघात भी नहीं हो सकता।

सल्लेखना अहिंसाभाव है।

नीयंतेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुतां।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस सल्लेखनामें (हिंसायाः हेतवः कषायाः) हिंसाके कारणभूत कषाय (यतः तनुतां नीयंते) जिस कारण सूक्ष्म किये जाते हैं (ततः सल्लेखनां अपि) इसलिये सल्लेखनाको भी (अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं प्राहुः) अहिंसाकी प्रसिद्धिकेलिये कहते हैं।

विशेषार्थ—इस सल्लेखनामें कषायभाव जितने घट सकें उतने घटाये जाते हैं और कषायभावोंका घटाना ही अहिंसाभावोंका प्रगट होना है क्योंकि कषाय ही तो हिंसाके कारण हैं, अथवा वे स्वयं हिंसास्वरूप हैं इसलिये कषायोंको दूर करना अहिंसाभावोंकी प्रगटता है अतः सल्लेखना अहिंसाभावके प्रगट करनेकेलिये ही धारण किया जाता है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥ १८० ॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (यः व्रतरक्षार्थं) जो पुरुष व्रतोंकी रक्षाकेलिये (सकलशीलानि) समस्त शीलोंको (सततं पालयति) निरंतर पालन करता है (तं) उस पुरुषको (शिवपदश्रीः) मोक्षलक्ष्मी (उत्सुका 'सती') उत्सुक होती हुई (पतिंवरा इव) पतिको स्वयं वरण करनेवाली कन्याके समान (स्वयमेव वरयति) अपने आप ही वर लेती है।

विशेषार्थ—अहिंसादिक पांच अणुव्रत कहलाते हैं और तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एवं सल्लेखनामरण, ये सब शील कहलाते हैं। शीलोंके पालनेसे व्रतोंकी रक्षा होती है, अर्थात् उनसे अहिंसादि भावोंकी दृढता एवं निर्विघ्न वृद्धि होती है, इसलिये जो पुरुष समस्त शीलोंको पालता है उसके व्रत भी सुतरां पलते जाते हैं ऐसी अवस्थामें श्रावक महाव्रतोंके धारण करनेमें समर्थ हो जाता है कालांतरमें महाव्रतोंको धारणकर वह मोक्ष लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है। इसलिये यहांपर उत्प्रेक्षालंकारसे बतलाया गया है कि जिसप्रकार स्वयंवरमें कन्या पतिको स्वयं वर लेती है उसीप्रकार समस्त शक्ति पालनेवाले पुरुषको मोक्षलक्ष्मी स्वयं वर लेती है अर्थात् व्रतका पालक नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। चाहे उसी भवसे करे या भवांतरसे करे।

अतीचारोंकी संख्या।

अतिचाराः सम्यक्त्वे, व्रतेषु शीलेषु पंच पंचेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबंधिनो हेयाः॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ—[सम्यक्त्वे] सम्यग्दर्शनमें [व्रतेषु] व्रतोंमें [शीलेषु] शीलोंमें [पंच पंच] पांच पांच [अतीचाराः] अतीचार होते हैं [इति अमी सप्ततिः] इसप्रकार ये सत्तर अतीचार [यथोदितशुद्धिप्रतिबंधिनः] जैसी इन व्रत शीलोंकी शास्त्रोंमें शुद्धि बतलाई गई है उसके प्रतिबंधी अर्थात् उनमें दूषण लाने वाले हैं इसलिये [हेयाः] छोडनेयोग्य हैं।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वमें या व्रतोंमें अंशरूपसे भंग होना हो उसीका नाम अतीचार है अर्थात् किसी व्रतमें थोडा दूषण लगनेका नाम ही अतीचार है। इसी बातका खुलासा पंडितप्रवर श्रीआशाधरने सागारधर्मामृतमें इसप्रकार किया है–"सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंशभंजनं" अर्थात् जो पुरुष किसी विषयकी मर्यादारूपसे प्रतिज्ञा ले चुका है उसके व्रतमें एक देशभंजन होना अर्थात् अंशरूपसे व्रतमें दूषण आना ही अतीचार कहलाता है। एकदेश व्रतका भंग क्या कहलाता है इसका खुलासा इसप्रकार है कि व्रतोंका पालन बहिरंग अंतरंग दोनों रूपसे होता है, यदि केवल अंतरंगमें व्रतभाव हो बहिरंगमें उसके अनुकूल आचरण न हो तो भी व्रतकी रक्षा नहीं हो सकती और न वह व्रतरूप प्रवृत्ति ही कहलायी जा सकती है। तथा यदि बाह्य व्रताचरण हो और अंतरंगमें मर्यादित प्रतिज्ञा न हो तो उसे व्रत नहीं कहा जा सकता, इसलिये दोनों–अंतरंग बहिरंग रूपसे जो पाला जाता है वही व्रत कहलाता है।

उस व्रतमें या तो अंतरंग भावोंमें कुछ दूषण आता है तो वह अतीचार कहलाता है, अथवा बहिरंग प्रवृत्तिमें कुछ दूषण आता है तो वह अतीचार कहलाता है और जहांपर अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारसे व्रतरक्षाका भाव नहीं रहता वहां उसे अनाचार कहा गया है। अर्थात् व्रत–मर्यादाका लक्ष्य ही भावोंसे उठादेना कि मैं व्रतमर्यादाकी कुछ परवा नहीं करता, तब तो निर्मर्यादप्रवृत्ति–अनाचार है अनाचारमें व्रतका सर्वथा भंग हो जाता है। परंतु अतीचारमें व्रत–मर्यादा तोडी नहीं जाती, किंतु

किसी कारणवश उसके एक देशमें थोड़ा दूषण लगता है। अतीचार प्रत्येक व्रतके पांच पांच बतलाये गये हैं सम्यक्त्वके पांच, पांचों अणुव्रतोंके पांच पांच, तीन गुणव्रतोंके पांच पांच, शिक्षाव्रतोंके पांच पांच और सल्लेखनाके पांच। इस रीतिसे सब अतीचार श्रावक व्रतोंके ७० होते हैं, ये सत्तर अतीचार उपलक्षण रूपसे समझने चाहिये, वास्तवमें तो और भी बहुत हैं, परंतु जिसप्रकार कौआसे दहीकी रक्षा करना यह किसी बालकको कहा जाता है तो वहांपर कौआ केवल उपलक्षण है, उसका अर्थ यह है कि जितने भी दधिके भक्षक जीव हैं उन सबसे दधिकी रक्षा करना चाहिये। उसीप्रकार स्थूलदृष्टिसे पांच पांच अतीचारोंका विधान किया गया है, जो छोटे छोटे दोष व्रतोंमें अनेक प्रमादवश आते हैं वे सब उन्हीं पांचोंमें गर्भित हैं। व्रतकी जैसी पूर्ण शुद्धि कही गई है उसमें ये अतीचार विघात करते हैं शुद्धिको रोकते हैं पूर्णरूपसे व्रतको नहीं पलने देते, इसलिये प्रमादको छोडकर सावधानीसे इनका परित्यागकर व्रतोंकी पूर्ण रक्षा करना प्रत्येक व्रती श्रावकका कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शनके अतीचार।

शंका तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोन्यदृष्टीनां।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थ—[शंका] जिनेंद्रदेव द्वारा प्रतिपादित—आगममें शंका करना [तथैव कांक्षा] उसीप्रकार व्रतोंसे सांसारिक फलकी वांछा रखना [विचिकित्सा] मुनियोंके स्वरूपसे एवं पदार्थोंसे घृणाभाव धारण करना [अन्यदृष्टीनां संस्तवः] अन्य दृष्टि—मिथ्यादृष्टियोंकी स्तुति करना [मनसा तत्प्रशंसा] मनसे उनकी और उनके कार्योंकी प्रशंसा करना [सम्यग्दृष्टेः अतीचाराः] सम्यग्दृष्टिके अतीचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—जो अनेकांत वस्तुविधान अथवा लोक एवं चारित्रनिरूपण आगममें कहा गया है वह सत्य है या नहीं, इसप्रकार चित्तमें संदेह लाना, यह शंका नामका सम्यग्दृष्टिका अतीचार है। यह अतीचार सबसे प्रबल है, सम्यक्त्वका सबसे बडा अतीचार है। सम्यक्त्व धारण करनेवालोंको—आगमपर विश्वास रखनेवालोंको इस अतीचारको नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि आगम सर्वज्ञदेवद्वारा कहा गया है, सर्वज्ञ देव भूत भविष्यत् वर्तमानके प्रत्यक्षदर्शी और वीतराग हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित पदार्थ कभी असत्य नहीं हो सकता, जो जिनेंद्र-सर्वज्ञने पदार्थ विवेचन किया है वही उनके साक्षात् शिष्य गणधरदेव एवं उनके शिष्य प्रशिष्य आचार्योंने ग्रंथरूपमें संकलित किया है, इसलिए आगम सर्वथा निर्दोष यथार्थ है उसमें शंका करना अनुचित है। यदि परीक्षा करनेकी योग्यता है तो परीक्षा कर लेना चाहिये, परीक्षापूर्वक जो पदार्थको धारण करते हैं वे फिर कभी जैनधर्मसे विचलित नहीं हो सकते। कारण जैनधर्म युक्तिप्रमाणसे कभी खंडित नहीं हो सकता, वह जितना परीक्षाद्वारा मार्जित किया जायगा उतना ही महत्त्वास्पद बनता जायगा, परंतु परीक्षा करनेकी सामर्थ्य हो तभी परीक्षा की जा सकती है, थोडासा ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे एवं शास्त्रोंका रहस्य नहीं समझनेसे परीक्षा नहीं की जा सकती, ऐसी अवस्थामें आगमकथनको आज्ञाप्रमाण ही स्वीकार कर आत्मकल्याण करना चाहिये। "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥" अर्थात् जिनेंद्रदेवका कहा हुआ तत्त्वनिरूपण सूक्ष्म है, इसलिए स्थूलबुद्धिवालोंसे वह सर्वांशरूपसे जाना नहीं जाता। वह किन्हीं हेतुओंसे खंडित नहीं किया जा सकता, इसलिए आज्ञाप्रमाण ही धारण करना चाहिये। क्योंकि जिनेंद्रदेव अन्यथावादी नहीं हो सकते, अन्यथावादी—असत्यभाषी वही व्यक्ति हो सकता है जो अल्पज्ञ हो और

रागी द्वेषी हो, जो दोनों बातोंसे दूर है अर्थात् अल्पज्ञ भी नहीं है और रागी द्वेषी भी नहीं है फिर उससे कभी अन्यथा प्रतिपादन हो ही नहीं सकता है। इसलिए श्रीजिनेंद्रदेवके वचनोंमें—ऋषिप्रणीत आगममें कभी संदेहवृत्ति नहीं लाना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि आगमकथित पदार्थमें शंका ही उत्पन्न नहीं हो अथवा शंका करना ही बुरा है सो नहीं, शंका करना बुरा नहीं है, छद्मस्थोंको पदार्थोंमें शंकाका होना तो स्वाभाविक बात है परंतु अपनी बुद्धिकी मंदता समझकर पदार्थनिर्णयकी दृष्टिसे शंका करना समुचित मार्ग है, किंतु अपनी बुद्धिको ही सर्वोपरि समझकर आगमकथित पदार्थोंको अयथार्थ समझना भारी अज्ञानता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष जो देव गुरु शास्त्रका दृढश्रद्धानी है कभी इसप्रकारकी शंका नहीं करता।

कांक्षा—सांसारिक वासनाओंको चाहना यह दूसरा अतीचार है, मुझे सम्यग्दर्शनके फलसे स्वर्गादि सामग्री प्राप्त हो जाय अथवा इस लोकमें मेरे धन धान्य पुत्रादिककी विभूति मिल जाय. इसप्रकारकी आकांक्षा रखना भी सम्यक्त्वका अतीचार है। परिणामोंकी विशुद्धता एवं शुभप्रवृत्तिसे सुतरां पुण्योदय-वश इस लोक परलोकमें भोग्य सामग्री मिल ही जायगी फिर उसकी आकांक्षा रखकर अपने उत्तम फलको हलका बनाना एवं सम्यक्त्वमें दूषण लाना व्यर्थ और हानिकारी है।

विचिकित्सा—ग्लानि एवं घृणा करनेका नाम है। किसी पदार्थमें दोष अथवा मलिनता देखकर थूकना, नेत्र मूंद (बंद कर) लेना, नाक सिकोड लेना, उस स्थानसे या उस मलिनवस्तुके पाससे तुरंत भाग जाना, चेष्टा खराब कर लेना, मुंह बंद कर लेना ये सब क्रियायें ग्लानिसे होती हैं। मुनिमहाराजके शरीरको देखकर पसीना एवं उसपर लगीहुई धूलिसे आई हुई ऊपरी मलिनतासे घृणा करना पापबंधका

कारण है, क्योंकि शरीर तो निकृष्ट—अपवित्र है ही परंतु मुनियोंका परम पवित्र रत्नत्रय गुणोंसे देदीप्यमान आत्मा उस शरीरमें निवास कर रहा है इसलिए ऊपरी मलिनतासे घृणा न करके उनके गुणोंसे प्रेम करना चाहिये । इसीप्रकार जो स्थान मलिन हैं, दुर्गंधित हैं, जो विष्टादि मलिन वस्तुयें हैं, कोई रोगी पुरुष है उन सबको देखकर उनकी मलिनतापर घृणाभाव या ग्लानिभाव नहीं करना चाहिये । किंतु वस्तुस्वरूप समझकर उनसे औदासीन्यभाव धारण करना चाहिये ।

अन्यदृष्टिसंस्तव—मिथ्यादृष्टियोंकी स्तुति करना उनके चारित्र एवं ज्ञानकी वचनसे प्रशंसा करना, उनकी क्रियाओंको वचन द्वारा महत्त्व देना यह सब अन्यदृष्टि संस्तव नामका चौथा सम्यक्त्वका अतिचार कहलाता है ।

मनःप्रशंसा—मनसे मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्रकी प्रशंसा करना, उनके गुणोंका हृदयमें आदर करना, उनकी क्रियाओंको मनमें भला मानना यह सब मनःप्रशंसा नामका पांचवा अतीचार है । इसप्रकार ये सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार हैं, इनसे सम्यक्त्वमें मलिनता आती है, इसलिये उन्हें नहीं लगने देना चाहिये तभी सम्यक्त्व निर्दोष रह जाता है ।

अहिंसाव्रतके अतीचार

छेदनताडनबंधा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पंचाहिंसाव्रतस्येति ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थ—[छेदनताडनबंधाः] पशु पक्षी आदिकी नाक छेदना, कान छेदना, जीभ छेदना आदि, लकडी, वेंत, अंकुश आदिसे उन्हें मारना, उन्हें इच्छित प्रदेशमें घूमने न देना एक स्थानमें बांध कर रखना,

[समधिकस्य भारस्य आरोपणं] बहुत अधिक भारका लाद देना [पानान्नयोश्च निरोधः] पानी और अन्नका नहीं देना अथवा समयपर नहीं देना. [इति] इसप्रकार [अहिंसाव्रतस्य पंच] अहिंसाव्रतके पांच अतीचार हैं।

विशेषार्थ—जो घरमें पशुओंको रखते हैं उन्हें कभी कभी सताया करते हैं यह सताना ही अहिंसाव्रतमें अतीचार लगाना है। कारण कि प्रमादके योगसे प्राणोंका नाश करना ही हिंसा है, जो पशु सताया जाता है उसके प्राणोंको पीडा होती है, पीडाका होना ही भावप्राणोंका घात है। इसके सिवा नाक कान आदि शरीरके अवयवोंको छेदनेसे, लकडी आदिसे मारनेसे सामर्थ्यसे अधिक उनपर बोझा लाद देनेसे उनके शरीरके अंग भंग रूप वाह्य प्राणोंका घात भी हो जाता है इसलिये द्रव्यहिंसा भी हो जाती है तथा जो व्यक्ति उन्हें कष्ट पहुंचाता है वह विना कषायभाव—रागद्वेषके नहीं पहुंचाता इसलिये उसके प्रमादयोग है, अतः पशु पक्षियोंको सताना अहिंसाव्रतका अतीचार है, पशु भूखा है प्यासा है, उसकी फिकर नहीं करना अथवा उसे देरी करके खाने पीनेको देना, ये सब बातें परिणामोंको मलिन करनेवाली हैं। इसलिये अहिंसाव्रत पालनेवाले—दयालुओंको इनसे अवश्य बचना चाहिये।

सत्यव्रतके अतीचार।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारकमंत्रभेदश्च ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ—[मिथ्योपदेशदानं] झूठा उपदेश देना [रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती] गुप्त भेदको प्रगट कर देना, किसीको ठगनेकेलिये कपटरूपसे कुछका कुछ लिख कर प्रगट करना [न्यासापहारवचनं] किसीकी धरोहरके भूल जानेपर उसे अपहरण (हडप लेनेका) करनेका वचन कहना [साकारकमंत्रभेदश्च] किसीके गुप्त अभिप्रायको कायकी चेष्टा आदिसे जानकर प्रगट कर देना ये पांच अतीचार हैं।

विशेषार्थ—जो धार्मिक क्रियायें आगमानुसार प्रसिद्ध हैं, उनके विषयमें झूठा उपदेश देना कि अमुक क्रिया ठीक नहीं है अमुकक्रिया इसरीतिसे होनी चाहिये, एवं धर्मका स्वरूप ऐसा नहीं ऐसा है, इसप्रकार असत्य कहना मिथ्योपदेश है। एकांतमें जो बात स्त्री पुरुष करते हैं उन्हें छिपकर सुनलेना और दूसरे समयमें उन्हें सबोंके सामने कहदेना यह रहसोभ्याख्यान है। किसी व्यापारादिमें प्रयोजन सिद्ध होता हुआ देखकर कपटरूप लेख प्रगट करदेना जैसे कि—अमुक व्यापारमें अमुकरूपसे लिखा पढ़ी हुई थी, अमुकरूपसे नहीं हुई थी इसप्रकार प्रगट करना अथवा झूठे तमस्सुक (लेखपत्र) बना लेना कूटलेखक्रिया कहलाती है। कोई कुछ द्रव्य रखजाय तो उसे धरोहर कहते हैं यदि किसीने किसीके पास १००) रक्खे हों परंतु एक वर्षादिन पीछे विस्मरण हो जानेसे वह ८०) रक्खे हुए समझकर ८०) ही मागने लगे तो साहूकार यह समझता हुआ भी कि इसने १००) रक्खे हैं परंतु भूलकर ८०) मागता है, फिर भी उसे ८०) ही दे देय और कह देय कि हां तुम अपने ८०) जो रक्खे थे सो सब ले जाओ। ऐसी अवस्थामें उसने २०) रुपया अपहरण करनेके लिये झूठ बोलदिया यह न्यासापहार वचन कहलाता है। किसी प्रकरण वा अंगविकार भृकुटी क्षेप आदिसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्याभावसे दूसरोंमें प्रगट कर देना साकारमंत्रभेद है ये पांचो सत्यव्रतके अतीचार हैं इनसे सत्यव्रतमें दूषण लगता है।

यहांपर गुप्त बातको प्रगट करना दो जगह आया है परंतु दोनोंका अभिप्राय जुदा जुदा है इसलिये दो अतीचार कहे गये हैं। यदि कोई शंका करे कि ये सभी अनाचार क्यों नहीं कहे जाते क्योंकि झूठ तो सबोंमें है, इसका उत्तर यह है कि अनाचार वहां होता है जहां सत्य बोलनेकी बिलकुल मर्यादा नहीं रक्खी जाती। यहांपर झूठ तो बोला जाता है परंतु ऐसा झूठ है जो सत्यतामें छिप जाता है। किसी

अंशमें थोडासा झूंठ बोलना है सर्वथा निर्द्वंद्वरीतिसे झूंठ बोलकर वह सत्यकी मर्यादाका ध्वंस करना नहीं चाहता । इसलिये पांचो ही भेद अतीचारोंमें गर्भित हैं ।

अचौर्यव्रतके अतीचार ।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानं ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थ—(प्रतिरूपव्यवहारः) सदृश वस्तुओंमें उलट फेरकर मिला देना (स्तेननियोगः) चोरीका उपाय बताना (तदाहृतादानं) चोरीका अपहरण किया हुआ द्रव्य ग्रहण करना (राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च) राज विरोधका उल्लघन करना, थोडा देना अधिक लेना, ये पांच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं ।

विशेषार्थ—कृत्रिम-बनावटी रत्नोंको असली रत्नोंमें मिलाकर उन्हें असलीकी कीमतसे बेचना, गेहूंके आटेमें जवारीका आटा मिलाकर बेचना, दूधमें पानी मिलाकर बेचना, चांदीमें रांगा और सोनेमें मुलम्मा मिलाकर बेच देना यह सब प्रतिरूपव्यवहार कहलाता है । स्वयं तो चोरीका त्याग है परंतु चोरोंको चोरी करनेका उपाय बतला देना, अथवा किसी दूसरेसे चोरको चोरीका मार्ग भीतरी खोज आदि कहलवाना, जो चोरी करता है उसकी अनुमोदना करदेना, यह सब स्तेननियोग अथवा स्तेन-प्रयोग कहलाता है । चोर जो चुराकर द्रव्य बर्तन आदि वस्तुएं लाता है उन्हें थोडा मूल्य देकर खरीद लेना, यह तदाहृतादान कहलाता है । जो बात राज्यसे विरुद्ध समझी जाती है, जिनके करनेसे राज्यकी आज्ञाका उलंघन होता है, नियम टूटता है उन बातोंको कर डालना, जैसे बाहरसे आते समय या बाहर ले जाते समय नये मालपर कुछ महसूल लगता है, उसे नहीं देना, किंतु छिपाकर ले जाना । ढाई वर्षसे

ऊपर बच्चेका आधा टिकट लगता है और ग्यारहवर्षसे ऊपरके बच्चेका पूरा रेलवे टिकट लगता है ऐसा नियम होनेपर ढाईवर्षके ऊपरवाले बच्चेको दो वर्षका बता देना या ग्यारह वर्षसे ऊपरवालेको दसवर्षका बता देना यह सब राजविरोधातिक्रम कहलाता है।

बेचते समय ऐसे बांट तराजूसे—मापसे देना जिसमें लेनेवालेपर थोडी वस्तु जाय और लेते समय स्वयं खरीदते समय ऐसे बांट तराजूसे लेना जिससे अधिक वस्तु आ जाय, इसप्रकार ये पांच अचौर्य-व्रतके अतीचार हैं। इन अतीचारोंमें स्वच्छंद रीतिसे चोरी नहीं होती है किंतु चोरीका अंश रूपसे प्रयोग होता है इसलिये कुछ दूषण होनेसे ये पांचो प्रयोग अतीचारोंमें गर्भित हैं।

ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार।

स्मरतीव्राभिनिवेशोनंगक्रीडान्यपरिणयनकरणं।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पंच॥ १८६॥

अन्वयार्थ—(स्मरतीव्राभिनिवेशः अनंगक्रीडा अन्यपरिणयनकरणं) कामभोगोंमें तीव्र लालसाका रखना, अंग भिन्न अंगोंमें रमण करना, दूसरोंका विवाह कराना (अपरिगृहीतेतरयोः) अपरिगृहीता जिसका किसीके साथ विवाह नहीं हुआ हो ऐसी वेश्या या कन्या, परिगृहीता दूसरकी विवाहिता सधवा या विधवा स्त्री ऐसी जो (इत्वरिकयोः) व्यभिचारिणी हैं उनके यहां (गमने) गमन करना ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार हैं।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्यव्रत धारण करनेपर भी कामकी तीव्रता रखना, स्वदारसंतोषव्रतके होनेपर भी स्वस्त्रीके साथ रमण करनेकी तीव्रलालसा रखना, अथवा रात्रिमें कामसेवनका समय है परंतु लालसा-वश दिनमें ही कामसेवन करना, अंग नाम योनिका है, संतानोत्पत्तिके स्थानको योनि कहते हैं। उससे

भिन्न अंगोंमें—मुख कुचादि अंगोंमें रमण करना, अपनेसे भिन्न—पुत्र पुत्री आदिका विवाह कराना, तथा दूसरेकी परणी हुई—विवाहिता परंतु परपुरुषके साथ रमण करनेवाली व्यभिचारिणी—परस्त्रीके यहां जाना उससे कामविषयवर्धक बात चीत आदि करना जो दूसरेकी विवाहिता नहीं है अर्थात् जिसका कोई स्वामी कभी नियत नहीं हुआ है ऐसी जो व्यभिचारिणी स्त्री—वेश्या आदि हैं उसके यहां काम-वासनावश जाते आते रहना। ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार हैं। ये अतीचार ब्रह्मचर्यव्रतमें एकदेश दूषण लगाते हैं, उसे सर्वथा नष्ट नहीं करते।

यहांपर परिगृहीत शब्दसे उस स्त्रीसे प्रयोजन है जो एकबार विवाही जा चुकी है, चाहे वह सधवा हो चाहे विधवा हो। विधवा स्त्रीको भी परिगृहीतकोटिमें ही लिया जायगा, उसे अपरिगृहीतकोटिमें नहीं लिया जा सकता। कारण कि परिग्रहण—विवाह एकबार ही होता है और वह कन्याका ही होता है। जिसका एकबार विवाह हो चुका है वह फिर कन्या कभी नहीं कहला सकती। कन्या कुवारी—अविवाहिताको कहते हैं, उसीका विवाह हो सकता है, जैसा कि राजवार्तिककार—श्रीअकलंकदेवने कहा है—सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते—अर्थात् सातावेदनीयकर्म एवं चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे कन्याका वरण करना विवाह कहा जाता है। इसलिए विवाह विधवाका कभी हो नहीं सकता, वह परिगृहीत बन चुकी। अपरिगृहीत वही स्त्री कहलाती है जिसे कभी किसीने परिगृहीत नहीं किया है अर्थात् जिसका विवाह नहीं हुआ है, इस कोटिमें वेश्या, कन्या और अविवाहिता स्त्रियां आती हैं। जो परस्त्री है अथवा जो परस्त्री नहीं है उसके यहां विना किसी विकारके अन्य किसी प्रयोजनवश जाना ब्रह्मचर्यमें कुछ दूषण नहीं लाता इसलिए विकाररहित कार्यवश चले जाना

अतीचार नहीं है, किंतु जो परस्त्री या अविवाहिता व्यभिचारिणी है उसके यहां वैकारिक परिणामोंसे जाना अतीचारमें गर्भित है। इसप्रकारके अतीचारोंसे ब्रह्मचर्यव्रतपालक श्रावकोंको दूर रहना चाहिये, तभी वे अपने व्रतकी पूर्ण रक्षा कर सकते हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पंच ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ—(वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां) वास्तु-घर, क्षेत्र-धान बोनेका स्थान या खेत, अष्टापद-सोना, हिरण्य-चांदी, धन-गौ भैंस घोडा आदि, धान्य-गेहूं चना चावल आदि, दास-नौकर चाकर, दासी-नौकरानी, इनके (अपि कुप्यस्य भेदयोः) और कुप्यके दोनों भेद-क्षौम और कौशेय अर्थात् रेशमीवस्त्र और सूतीवस्त्र आदि इन सबके (परिमाणातिक्रमाः पंच) परिमाणका-नियमका उल्लंघन कर देना, ये पांच परिग्रह परिमाणव्रतके अतीचार हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक दो दो भेदोंको एक कोटिमें सम्हाल करनेसे पांच अतीचार हो जाते हैं; जैसे-वास्तु क्षेत्र-घर और खेत दोनों एक कोटिमें लेने चाहिये, अष्टापद हिरण्य-सोना चांदी दोनों एक कोटिमें लेने चाहिये, इसीप्रकार धन धान्य एकमें और दास दासी एकमें तथा कुप्यके दोनों भेद एकमें, इस रीतिसे पांच अतीचार हो जाते हैं। जो जो वस्तुयें जितनी जितनी मर्यादाको लेकर परिग्रहपरिमाण व्रतमें रख ली जांय उनमें कुछ अधिक बढा लेना; चार घर रक्खे हों तो एक पांचवें घरकी कोठरी और काममें लेना, खेत सौ बीघा रख लेनेपर भी एक दो बीघा और भी काममें आजाय तो उसकी परवा

नहीं करना, इसीप्रकार नौकर चाकर बढा लेना, वस्त्र बरतन आदि मर्यादित चीजोंमे अधिक काममें ले लेना, ये सब परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार हैं। अधिक वस्तुओंका उपयोग करनेसे अधिक आरंभ बढता है, उससे अधिक हिंसा होती है। इसलिये जहांतक हो व्रतकी पूर्णताके लिये इन सब अतीचारोंको छोडना चाहिये।

दिग्व्रतके अतीचार।

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानं।
स्मृत्यंतरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध्व अधस्तात् तिर्यक् व्यतिक्रमाः) ऊपर नीचे और तिरछी दिशाओंका उल्लंघन करना, (क्षेत्रवृद्धिः) क्षेत्रको बढा लेना, (स्मृत्यंतरस्य आधानं) की-हुई मर्यादाको भूलकर कुछ अधिक मर्यादा बढा लेना, (इति प्रथमशीलस्य पंच गदिताः) इसप्रकार पहले शीलके अर्थात् दिग्व्रतके पांच अतीचार कहे गये हैं।

विशेषार्थ—पर्वतपर बहुत ऊंचे-जितनी मर्यादा ऊर्ध्व दिशाकी रक्खी थी उतने नियमित क्षेत्रसे ऊपर-चढ जाना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है, वायुयान (उडने जहाज) एवं विद्याधरोंके विमान या देवोंके विमानोंमें बैठकर ऊंचे चले जानेमें भी ऊपरके मर्यादित क्षेत्रका उलंघन हो जाता है। इसीप्रकार कूएमें कोयलों आदिकी जमीनके भीतर खानोंमें प्रवेश करने आदिसे नीचेकी मर्यादाका उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है। समान भूतलमें जितने योजन क्षेत्र रक्खा है या जिस नगर या नदी पर्वत तक रक्खा है उनसे कुछ आगे बढ जाना तिर्यक्व्यतिक्रम कहा जाता है। कतिपय टीकाकारोंने तिर्यक्व्यतिक्रमका अर्थ

तिरछागमन तो किया है परंतु दृष्टांतमें विलप्रवेश आदि टेढा गमन करना लिया है। यह अर्थ भी किसी प्रकार विरुद्ध नहीं है। वह भी होता है और तिरछा गमनसे सम भूतलमें गमन करना, लेना भी विरुद्ध नहीं पडता है। जहां देवोंके अवधिज्ञानका विचार किया है वहां तिर्यक्क्षेत्र समतल ही लिया गया है। दूसरे विलादि प्रवेश नीचेमें आ सकते हैं परंतु विदिशाओंके ग्रहणमें वे स्वतंत्र ही सम्हाले जाते हैं। क्षेत्रको बढा लेना—अर्थात् जितना क्षेत्र मर्यादित है उससे कुछ अधिक प्रयोजनवश कार्यमें ले लेना, यह क्षेत्रवृद्धि कहलाती है।

यहांपर यह शंका भी जा सकती है कि 'जब ऊर्ध्वव्यतिक्रम अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम इन सबोंमें क्षेत्र ही तो बढता है फिर क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार एक अलग क्यों रक्खा गया है?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—जिनागम सभी सापेक्ष है, यदि अपेक्षाको नहीं लगाया जाय तो पूर्वापर विरोध आता है और उसे लगानेपर कोई कहीं विरोध नहीं आता है। यहांपर जो ऊर्ध्व अधस्तिर्यक् व्यतिक्रम लिया गया है वह क्षणिक है, कदाचित् कभी अवसर आनेपर ऊपर नीचे गमन हो सकता है परंतु क्षेत्रवृद्धिमें तो कुछ अधिक क्षेत्र प्रयोजनवश स्थायीरूपसे काममें ले लिया जाता है इसलिये उसे जुदा कहा गया है। फिर यहांपर दूसरी यह शंका हो सकती है कि 'ऐसी स्थायी अवस्थामें जो क्षेत्रवृद्धि कर ली जाती है तो उसे क्षेत्रवृद्धि अतीचार क्यों कहा जाता है वह तो अनाचार होना चाहिये?' इसका उत्तर यह है कि—अनाचार मर्यादाका सर्वथा भंग करनेसे होता है, परंतु क्षेत्रवृद्धि करनेवाला मर्यादाका पूरा ध्यान रखता हुआ किसी निमित्तवश थोडेसे प्रमाद या मोहवश कुछ क्षेत्रको बढा लेता है, परंतु वहांपर भी वह मर्यादितक्षेत्रकी कुछ कुछ अपेक्षा रखता है। जैसे कोई पुरुष एकसौ मीलतक

अवधि रखकर एकसौ पांच मीलतक चला आवे तो वह क्षेत्र उसका बढा हुआ समझा जायगा, परंतु वह स्वार्थवश एवं प्रमादवश यह अभिप्राय रख लेता है कि एकसौ पांच मील भी करीब करीब सौ ही है। अथवा अन्यान्य अपेक्षाएँ लगाकर मर्यादाकी रक्षाका ध्यान रखता ही है। अनाचारमें ये सब विकल्प कुछ नहीं होते वहां तो मर्यादाका विचार ही छूट जाता है। अथवा एकबार सम्पूर्णरीतिसे व्रत भंग कर दिया जाता है। ली हुई मर्यादाको भूलजाना, यह स्मृत्यंतराधान अतीचार है। मर्यादाको भूलजानेका अर्थ यह नहीं है कि उसका विस्मरण हो जाता है, किंतु यह अर्थ है कि जितनी मर्यादा लीजाय उसमें भूलकर कुछ अधिक भूमि उपयोगमें आ जाती है। जैसे यदि पचास योजन भूमि मर्यादामें रक्खी हो तो भूलकर यह ध्यान करना कि पचास योजन रक्खी है या साठ योजन, कुछ ध्यानमें नहीं आता; ऐसा विचार होनेसे पचासकी जगह साठ योजन जमीन समझकर उसका उपयोग करना स्मृत्यंतराधान कहलाता है। यहांपर भी यह शंका की जा सकती है कि 'जैसे भूलसे अधिक क्षेत्रकी संभावना होनेसे वह अतीचारमें लिया जाता है वैसे ही कमती क्षेत्रकी संभावना भी तो है, वहां स्मृत्यंतराधान अतीचार कैसे होगा ?' इसका यह उत्तर है कि—भूलमें मर्यादासे न्यून क्षेत्रका ध्यान रहना भी हानिकर है, भलेही कमती क्षेत्रसे आरंभ होनेकी संभावना नहीं है तथापि मर्यादाकी दृढता नहीं रहती, मर्यादाकी दृढता न रहनेसे, जैसे कमती क्षेत्रका स्मरण रह जाता है वैसे अधिक क्षेत्रका भी स्मरण होना सहज है, बहुधा मोह एवं प्रमादवश अधिक क्षेत्रकी ओर ही बुद्धि जाती है। इसलिये स्मृत्यंतराधान अतीचारमें लिया गया है। मर्यादाका स्मरण न रहना शिथिलताका ही सूचक है। इन अतीचारोंसे मर्यादित क्षेत्रसे बाहर आरंभ होनेसे त्रस स्थावरकी हिंसा होती है, इसलिये अतीचारोंको बचाना चाहिये।

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ ।
क्षेपोपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थ—(प्रेष्यस्य) किसी सेवकको (संप्रयोजनं) मर्यादाके बाहर भेजना, (आनयनं) बाहरसे कोई वस्तु मंगा लेना, (शब्दरूपविनिपातौ) शब्द कर देना, रूपका दिखा देना (पुद्गलानां क्षेप अपि) और पुद्गलोंका मर्यादाके बाहर फेंकना (इति पंच) इसप्रकार पांच (द्वितीयशीलस्य) दूसरे शीलव्रतके अर्थात् देशव्रतके अतीचार हैं ।

विशेषार्थ—देशव्रतमें जो समयविशेषके लिये मर्यादा रक्खी हो उसके बाहर स्वयं तो नहीं जाना परंतु दूसरा आदमी भेजदेना उसीके द्वारा काम करा लेना, यह अतीचार इसलिये है कि देशव्रती पुरुषने स्वयं बाहर न जाकर मर्यादाकी रक्षा तो की, परंतु नौकर आदिको भेजनेसे भी उस व्रतकी पूर्णता नहीं रह सकी इसीलिये वह अतीचार है । इसीप्रकार स्वयं आज्ञा देकर मर्यादाके बाहरसे कोई वस्तु मंगा लेना यह भी अतीचार है । तीसरे मर्यादाके बाहर जाना तो नहीं परंतु खांसकर शब्दादिक संकेतसे अपना अभिप्राय यहीं बैठ बैठे प्रगट करदेना यह भी अतीचार है । चौथे अपने शरीर आदिको दिखाकर मर्यादाके बाहर स्थित एवं जानेवाले पुरुषोंको किसी प्रयोजनका स्मरण दिलाना यह भी अतीचार है। पांचवें मर्यादाके बाहर पत्थर कंकडी आदि फेंककर अपने अभिप्रायको प्रगट करना ये सब व्रतमें एकदेश दूषण लानेवाली क्रियाएं हैं; इसलिये देशव्रत पालनेवाले पुरुषको इन्हें बचाना चाहिये ।

कंदर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ—(कंदर्पः) हास्यसहित भंड वचन बोलना (कौत्कुच्यः) कायसे कुचेष्टा करना (भोगानर्थक्यं अपि) और प्रयोजनसे अधिक भोगोंका उपार्जन एवं ग्रहण करना (च मौखर्यं) और लडाई झगडावाले वचन बोलना (असमीक्षिताधिकरणं) विना प्रयोजन मन वचन कायके व्यापारको बढाते जाना (इति तृतीयशीलस्य पंच) इसप्रकार तीसरे शीलके—अनर्थदंडव्रतके ये पांच अतीचार हैं।

विशेषार्थ—विना प्रयोजन अधिक पापारंभ करनेसे अनर्थदंड होता है। परंतु पापारंभकी प्रवृत्ति नहीं बढाकर केवल हास्यादिप्रयोगसे अपने कषायोंको पुष्ट करना अतीचार है। कारण ऐसा करनेसे पूर्ण अनर्थदंड नहीं हो पाता जिससे कि वह अनाचारकी कोटिमें परिणत किया जाय किंतु एकदेश दूषण वह लाता ही है इसलिये उसे अतीचार समझा गया है।

कुछ पुरुष विना प्रयोजन बात करते करते हंसी करनेके साथ साथ बुरे बुरे बीभत्स एवं शृंगारिक आदि शब्दोंका प्रयोग करते रहते हैं, प्रत्येक बातमें गाली निकाल बैठते हैं, प्रश्न करनेपर कि ऐसी बुरी बात मुंहसे क्यों निकालते हो तो वे झट उत्तर दे देते हैं कि हम तो हंसी दिल्लगीमें बोल रहे हैं, मानों हंसी दिल्लगी करना उनके लिये कोई क्रिया ही नहीं है। परंतु यह भूल है। जब वैसी क्रियासे कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता तो व्यर्थको अशिष्ट पुरुषोंकी कोटिमें क्यों सामिल होते हैं, भद्दी हंसी भद्दे शब्दोंके आपसमें प्रयोग अच्छे पुरुष नहीं करते हैं, अशिष्ट—असभ्य ही करते हैं। इतना ही नहीं

किंतु उसप्रकारकी हंसी दिल्लगीकी क्रियासे रागद्वेषजनित कर्मबंध होता है, विना फल दिये सरागीकी कोई क्रिया व्यर्थ नहीं जाती इसलिये व्यर्थ ही कर्मबंध बांधना बुद्धिमत्ता नहीं है। इसके सिवा इसप्रकार हास्य सहित भंड वचन बोलनेसे कभी कभी बडे दुष्परिणाम निकल बैठते हैं, बडे बडे झगडे भी खडे हो जाते हैं, इसलिये हास्यमिश्रित भंड वचन बोलना अनर्थदंडव्रतका पहला अतीचार है, इस दूषणसे व्रतीपुरुषको बचना चाहिये।

दूसरा अतीचार यह है कि हास्यसहित भंडवचन भी कहते जाना, साथ ही शरीरसे–हाथ पैर मुख आदिसे क्रिया भी करते जाना, जैसे बात करते करते दूसरेके शरीरपर हाथ पटकते जाना, हंसी करते करते उसपर हाथमारते जाना, घूंसा लगा देना, किसीपर आंख चलाना, मुंहसे उसे चिराना, शरीरका किसीमें धका देना, इत्यादि शारीरिक प्रयोग करते जाना आदि।

तीसरा अतीचार भोगोंका आनर्थक्य है अर्थात् विना प्रयोजनके वस्तुओंका संग्रह करलेना, विना प्रयोजन भोग्य उपभोग्य पदार्थोंको उपयोगमें–व्यवहारमें लाते जाना। यह अतीचार अनर्थदंडव्रतमें तो आता ही है परंतु भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भी आ सकता है, कारण एक एक व्रतके अनेक अतीचार हो सकते हैं इसलिये किसी अंशसे किसी व्रतमें समान अतीचार भी हो जाते हैं।

चौथा अतीचार मौखर्य है, इसका यह अभिप्राय है कि–व्यर्थका बकवाद करना। कुछ पुरुष ऐसा करते देखे जाते हैं कि वे रागद्वेषवश बहुत धृष्टताके साथ अधिक बोलते हैं, और विना विचारे कुछका कुछ ही बोलते चले जाते हैं। विना प्रयोजन दूसरोंके झगडेमें घुस पडते हैं। वहांपर बडबडाते हैं, इस-प्रकार धृष्टतापूर्ण अधिक बोलनेको मौखर्य कहा गया है।

पांचवां अतीचार असमीक्षिताधिकरण है। अर्थात् विना प्रयोजन प्रयोग करते रहना। जैसे बैठे बैठे किसीका मनमें चिंतवन करना, किसीके लिये दुखदायी वचन विना प्रयोजन बोलना, जिस क्रियासे अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती है उसे करना, जैसे रास्ता चलते चलते वनस्पति छेदना, पानीमें पत्थर आदि फेंकदेना, किसी पशुके लकडी आदि मारदेना, ये सब कार्य ऐसे हैं जिनसे किसी इष्टकी सिद्धि नहीं होती, फिर भी इन्हें करनेसे व्यर्थ कर्मबंध बांधना है। इसलिये इन अतीचारोंसे अनर्थदंडव्रतियोंको दूर रहनेकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

सामायिकव्रतके अतीचार।

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थ—(वचनमनःकायानां) वचन मन और शरीर इनका (दुःप्रणिधानं) दुरुपयोग करना (तु अनादरः) और सामायिकमें अनादर करना (च स्मृत्यनुपस्थानयुताः) सामायिकके समय आदिको भूल जाना (इति पंच चतुर्थशीलस्य) इसप्रकार पांच अतीचार चतुर्थशील–सामायिकके हैं।

विशेषार्थ—सामायिक विना मन-वचन-कायके एकीकरणके साध्य नहीं होता, सामायिक करते करते मनको वशमें नहीं रखना किंतु इधर उधर ध्येयसे भिन्न पदार्थोंमें उसे चले जाने देना, यह मनका दुरुपयोग कहलाता है। मनके इधर उधर चले जानेसे ध्येयकी ओर आत्मा निश्चल नहीं हो सकता, वैसी अनस्थिरतामें वीतरागपरिणति नहीं हो पाती किंतु सरागता बनी रहती है।

सामायिकपाठ बोलते बोलते कुछका कुछ कह जाना, जल्दी जल्दी बोलना एवं अशुद्ध बोलना

यह सब वचनका दुरुपयोग है। ऐसा करनेसे सामायिकका पूर्ण फल नहीं हो पाता, प्रत्युत: अशुद्धपाठसे कभी कभी उलटा फल भी हो जाता है। जल्दी करनेसे चंचलता एवं व्यग्रता होती है। व्यग्रतासे ध्येयका विचार निश्चलतासे नहीं हो पाता।

जो कार्य जिसप्रकारका होता है, वह उसीप्रकारसे सिद्ध किया जाता है। जैसे कोई लडाई लडना चाहता है वह वीरोचित आसनसे ही खडा होगा या बैठेगा, लेटकर या ऐसे ही असावधानीसे बैठकर लडाईमें प्रयुक्त होकर विजय पाना अशक्य है। जो सोना चाहता है वह विना विस्तरपर हाथ पैर पसार कर लेटे सुखपूर्वक निद्रा नहीं ले सकता। इसीप्रकार जो सामायिक करना चाहता है वह पद्मासन, खड्गासन आदि नियत एवं निश्चल आसनोंसे रहकर ही उसे सिद्ध कर सकता है। विना आसनोंके मांड़े अथवा विना उन्हें निश्चल बनाए सामायिकमें एकाग्रता नहीं रह सकती। इसके लिये शरीरको हर प्रकारसे रोकना चाहिये। जिस आसनसे सामायिकमें बैठे उसी आसनसे दृढ रहना चाहिये, बीच बीचमें आसनका बदलना, हाथ एवं मुख आदिका विचलित कर देना, शरीरको हिला देना, यह सब कायका दुरुपयोग है। इन दुरुपयोगोंसे सामायिकमें स्थिरता नहीं रह सकती एवं वीतरागताके स्थानमें अशुभास्रव हो जाता है, इसलिये इन तीनों योगोंको पूर्ण रीतिसे वशमें रखना चाहिये।

अनादर करनेसे भी हानि होती है, सामायिकमें उपेक्षा-उदासीनता आ जाती है, उससे निश्चल ध्यान नहीं होता, इसलिए अनादर भी सामायिकका अतीचार है।

तथा सामायिकको भूल जाना, यह भी सामायिकका अतीचार है। शंका हो सकती है कि 'यह भूलना मनसे ही हो सकता है वह मनके दुःप्रणिधानमें आ जाता है, फिर भिन्न अतीचार इसे क्यों माना

गया ?' इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि—मनका दुःप्रणिधान तो उसे कहते हैं कि सामायिक करते करते मनको इधर उधर चले जानेपर उसे वशमें नहीं करना, परंतु भूलना सामायिकका स्मरण नहीं रखनेका नाम है। सामायिकका जो काल है उसकी अन्यान्य कार्योंकी व्यग्रतामे याद नहीं रहना इसीका नाम भूलना है, यह उससे भिन्न है। दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि 'भूल जाना तो कोई दोष नहीं है भूलनेमें किसीको कुछ बाधा पहुंचानेका भी भाव नहीं है फिर इसे अतीचारमें क्यों लिया गया है ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि बाधा पहुंचानेका भाव नहीं है तथापि आत्मकल्याणकी वंचना तो हो जाती है, अर्थात् भूल जानेसे आत्मकल्याणका मार्ग रुक जाता है अथवा उसमें दूसरे प्रकारकी कार्य-नियोजनासे हानि हो जाती है, यही आत्मबाधा है; इसलिए किसी व्रतका विस्मरण हो जाना अतीचार है। ये पांच अतीचार हैं। इनके रहते हुए सामायिकमें चित्त नहीं लग सकता एवं ध्येयकी पूर्णसिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये इन अतीचारोंको नहीं लगाना चाहिये।

प्रोषधोपवासके अतीचार।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पंचोपवासस्य ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ—(अनवेक्षिताप्रमार्जितं) विना देखे विना झाडे (आदानं) किसी वस्तुका ग्रहण करना (संस्तरः) विस्तर बिछा देना (तथा उत्सर्गः) तथा किसी वस्तुका छोड देना (स्मृत्यनुपस्थानं) प्रोषधोपवासको भूल जाना (अनादरश्च) और उसमें आदर नहीं रखना (पंच उपवासस्य) ये पांच अतीचार प्रोषधोपवास-व्रतके हैं।

विशेषार्थ—जिसदिन प्रोषधोपवास किया जाता है उसदिन जलादि आहार मात्रका त्याग होनेसे शरीरमें कुछ शिथिलताका आना स्वाभाविक बात है; ऐसी अवस्थामें पूजनसामग्री, पूजनके अन्यान्य उपकरण, शास्त्रजी चौकी आदि वस्तुओंको विना देखे और विना झाडे पोंछे ही उठाकर काममें ले लेना, यह अनवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान नामका अतीचार है। इसीमें शरीरके ओढने पहननेके वस्त्रादि भी विना देखे विना झाडे-पोंछे लिये जांय वे भी गर्भित हैं।

दूसरा अतीचार—अनवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रम है: उसका यह अभिप्राय है कि शिथिलता-वश सोनेकी चटाई शीतलपट्टी आदि जो विस्तर और बैठनेकी आसन आदि वस्तुएं हैं, विना देखे विना झाडे-पोंछे झटपट बिछा देना।

तीसरा अतीचार—अनवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग है; उसका अर्थ यह है कि विना देखी विना साफ कीहुई जमीनपर मलमूत्र कफ थूक आदि डाल देना।

चौथा अतीचार—स्मृत्यनुपस्थान है: इसका अर्थ यह है कि प्रोषधोपवासके दिनको एवं उसकी विधि आदिको भूलजाना।

पांचवां अतीचार—अनादर है, अर्थात् प्रोषधोपवासमें भोजनका त्याग होनेसे एवं शिथिलता आजानेसे पूर्ण आदरभाव नहीं रखना किंतु उपेक्षाभावसे उसे पालना।

ये पांच अतीचार प्रोषधोपवासव्रतमें दोष पैदा करते हैं, क्योंकि विना देखेभाले किसी वस्तुको धरा उठाया जायगा तो पूरी संभावना है कि उस वस्तुपर रहनेवाले जीव अथवा धरने उठानेकी जमीनपर रहनेवाले जीव मर जांयगे। इसीप्रकार विस्तर या आसनको विना देखेभाले या जमीनको

विना देखेभाले बिछा देनेसे वहांके जीवोंका ध्वंस होना सहज है । जिस भूमिपर जीव हैं उसपर मल-मूत्रादि डालनेसे भी जीवोंका बचना कठिन है इसलिये इन तीनों बातोंको अतीचारोंमें लिया गया है। इन तीनोंमें प्रत्येकके साथ अनवेक्षित-अप्रमार्जित विशेषण लगाना चाहिये, पीछेके दोमें नहीं । यहां-पर यह शंका उठाई जा सकती है कि 'विना देखे विना झाडेपोंछे उठाना और धरना ये दो ही अतीचार होने चाहिये, विस्तर विछानेको अलग और मलमूत्र क्षेपणको अलग क्यों ग्रहण किया है ?' इसका उत्तर यह है कि—प्रोषधोपवासके दिन अन्यान्य गृहस्थाश्रम संबंधी कार्य तो सब बंद हो जाते हैं, केवल पूजाके उपकरण और विस्तरोंमे संबंध रह जाता है, इसलिये उनका अलग अलग प्रमाद होनेसे अलग अलग अतीचार कहा गया है । मलमूत्रकफादिक इनसे भिन्न ही वस्तु है, क्योंकि उपकरण एवं आसन तो व्यव-हारके उपयोगी वस्तुएं हैं परंतु मलमूत्रादि तो व्यवहारोपयोगी पदार्थ नहीं हैं, यदि उसे पृथक् न गिनाया जाता तो व्यवहारोपयोगी पदार्थोंके गिनानेपर भी उसकी ओर ध्यान नहीं जाता; स्वतंत्र गिनानेसे उसके क्षेपण करते समय भी भूमिको देखभाल करनेका ध्यान तुरंत आ जाता है क्योंकि प्रत्येक अतीचार—दूषणके बचानेका व्रती विचार किया करता है । प्रत्येक व्रतके पालनेकी चेष्टा करता है, इसलिये पृथक् पाठ रहनेसे विशेष सावधान रहनेके लिये चित्त आकर्षित हो जाता है, अन्यथा नहीं होता।

प्रोषधोपवासको भूल जाना, उसकी किसी विधिका स्मरण नहीं रहना, कभी पर्वसमयको ही भूल जाना; और प्रोषधोपवासमें शिथिलतावश अनादर करना अर्थात् उपेक्षाबुद्धिसे उसकी विधि करते जाना, चित्तमें उत्साह रखकर नहीं करना, ये दो अतीचार जुदे हैं। इनके साथ अनवेक्षित-अप्रमार्जित विशेषण नहीं लगाया जाता । इन पांचों अतीचारोंको नहीं लगनेसे जीवरक्षा हो सकती है, विना इनके बचाये

जीवरक्षा कठिन एवं असंभव है. कारण छोटे छोटे जंतुओंका संचार प्रायः सर्वत्र रहता ही है। उसके बचानेके लिये प्रतिसमय देखभालकी आवश्यकता है, व्रतविधानके समय तो विशेषतासे आवश्यकता है। विना देखभाल किये धराउठायी करनेसे व्रतकी पूर्ण रक्षा नहीं हो सकती।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतीचार।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसंबंधः।
दुःपक्वोभिषवोपि च पंचामी षष्ठशीलस्य॥ १९३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (सचित्त आहारः) सचित्त आहार—चित्त नाम जीवका है, जीवसहित आहारको सचित्त आहार कहाजाता है (सचित्तमिश्रः) सचित्तसे मिला हुआ आहार (सचित्तसंबंधः) सचित्तसे संबंध रखनेवाला आहार (दुःपक्वः) अच्छीतरह नहीं पाचन किया हुआ आहार (च अभिषवोपि) और पुष्ट गरिष्ठ आहार (अमी पंच) ये पांच अतीचार (षष्ठशीलस्य) छठे शीलके अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रतके हैं।

विशेषार्थ—जो भोज्यवस्तु जीवसहित हो वह भोगोपभोगपरिमाणव्रती को नहीं सेवन करना चाहिये कारण व्रतका विधान जीवरक्षाके लिये ही होता है, फिर भी वाह्यरक्षाके सिवा खाद्यवस्तुओंमें विशेषकर जीवरक्षाका ध्यान रक्खा जाता है। इसीलिये भोगोपभोगपरिमाणव्रतीके पंचम प्रतिमा—सचित्तत्याग-प्रतिमाका आवश्यक पालन नहीं होनेपर भी सचित्तके त्यागका विधान बतलाया गया है। भोगोपभोग-परिमाणव्रत दूसरी ही प्रतिमामें हो जाता है इसलिए उसके सचित्तत्याग आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह पांचवीं प्रतिमाका कार्य है। फिर भी आवश्यक क्यों कहा गया और सचित्तग्रहणको अतीचारतकमें सम्हाला गया? इसका समाधान यह है कि—भोगोपभोगपरिमाणव्रती दूसरी प्रतिमावाला है, इसलिए

उसके सदैव सचित्तत्यागका विधान नहीं बतलाया गया है, किंतु भोगोपभोगका समय समयपर नियत कालके लिये जो मर्यादा करे उसमें भोग्यपदार्थोंमें सचित्त ग्रहण नहीं करे, क्योंकि यह व्रत अपने सेवन-उपयोगमें होनेवाली हिंसाके त्यागके लिये है। इसलिए स्वामी समंतभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें बतलाया है कि जिन पदार्थोंके सेवन करनेसे स्वल्प तो फल-स्वाद आता हो और जीवविघात अधिक होता हो, ऐसे पदार्थ-कंदमूल, मूलकंद, अदरख, नीम, केतकी, पुष्प इत्यादि जो हरे हों उनको छोडना चाहिये। जिससमय वह भोग्य वस्तुओंके परिमाणमें सचित्तका त्याग कर देता है उससमय सचित्त, सचित्तसंबंधित आदि सभी अतीचार समझे जाते हैं। परंतु पांचवीं-सचित्तत्याग प्रतिमामें तो आवश्यक त्याग हो जाता है, वहांपर कभी किसी पदार्थका सचित्त भक्षण नहीं किया जा सकता, वहां सचित्तका सर्वथा त्याग हो जाता है। इतना विशेष है कि वह त्याग केवल खानेपीनेके विषयमें है। जो लोग सचित्त-त्याग प्रतिमामें सचित्तका सब प्रकारसे ग्रहण करना बाह्यस्नानादिकमें भी निषिद्ध बतलाते हैं वे उस प्रतिमाके स्वरूपकी यथार्थताका लोप करते हैं। कारण इसप्रकारकी खींचसे कोई व्रत कभी पूरा ही नहीं कहा जा सकता। स्वामी समंतभद्राचार्यने जहांकहीं इस पांचवीं प्रतिमाका स्वरूप बतलाया है वहां उन्होंने केवल आहार्य-आहार करनेयोग्य पदार्थोंका ही ग्रहण किया है। इसलिए उसमें बाह्यउपयोगमें आनेवाले सचित्त पदार्थोंका निषेध नहीं होता।

दूसरी विशेष बात यह है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतके जो अतीचार बतलाये गए हैं उनमें भोग्य और उपभोग्य दोनों पदार्थसंबंधी अतीचार गिनाने चाहिये, परंतु यहांपर केवल भोग्य पदार्थोंके ही गिनाये हैं, उपभोग्यसंबंधी नहीं गिनाये हैं। इसका एक तो यह हेतु है कि अधिक विशुद्धि खाद्यपदार्थोंकी

मर्यादासे प्राप्त होती है, बाह्य उपभोग्य पदार्थोंकी मर्यादा भी विशुद्धिको बढानेवाली है परंतु जितनी विशुद्धिकी हानि भक्षणसे होती है उतनी बाह्य सेवनसे नहीं होती, इसलिए इस सूत्रकी मर्यादामें विशेष विशुद्धिका लक्ष्य रखकर भोग्य वस्तुओंके अतीचार ही गिनाये गये हैं। दूसरा हेतु यह है कि आगे आठवीं और नवमी प्रतिमाके पीछे केवल भोग्यपरिमाण ही प्रधानतासे रह जाता है उपभोग्यका तो परिमाण परिग्रहत्यागप्रतिमामें विशेष रीतिसे हो जाता है परंतु वहां भोग्यका कुछ परिमाण नहीं होता इसलिए वहां भोगोपभोगपरिमाणसूत्रकी दृष्टिसे भोग्य पदार्थोंके अतीचारोंपर ही विशेष लक्ष्य रह जाता है। बाह्यपदार्थोंका तो एक प्रकारसे संबंध छूट ही जाता है। इसलिए सर्वत्र उपयोगी होनेसे भोग्यके ही अतीचार गिनाये। यदि यह कहा जाय कि 'वहां तो सर्वथा सचित्तका त्यागी होचुका है, वहांपर भोगोपभोगपरिमाणसूत्रसंबंधी भोग्य अतीचार सुतरां नहीं लग सकते। कारण पंचमप्रतिमामें सदाके लिये सचित्तका त्याग हो जाता है।' इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां सचित्तत्यागप्रतिमाकी अपेक्षा सचित्तका सर्वथा त्याग होनेपर भी दूसरे प्रकारसे आहार्य पदार्थोंमें भोगोपभोगपरिमाणसूत्रकी विशेषतासे पालन होना ही है। वहांपर अचित्त पदार्थोंकी भी सामयिक मर्यादा उक्त सूत्रके कारण रखता है, वैसी अवस्थामें दूसरी तरहसे अतीचार–दोष आवेंगे। उससमय यह कहना होगा कि ये सभी अतीचार उपलक्षण हैं, इसलिए भोग्यके कहनेसे इतर भोग्यसंबंधी भी समझने चाहिये और आठवीं प्रतिमाके पहले पहले उपभोग्यके भी समझ लेने चाहिये। इस बातकी पुष्टि स्वामी समंतभद्राचार्यके कथनसे होती है, उन्होंने श्रीरत्नकरंडश्रावकाचारमें पंचेंद्रियसंबंधी बातोंको ही इस सूत्रके अतीचारोंमें लिया है, वे चाहे भोग्यसंबंधी हों या उपभोग्यसंबंधी हों। दोनोंके ही अतीचार उनमें आ जाते हैं।

सचित्तके कहनेसे यद्यपि जीवसहित पदार्थ त्रस भी समझा जा सकता है, क्योंकि त्रसका शरीर भी तो जीवसहित होता है; परंतु नहीं, यहांपर त्रसोंका ग्रहण सचित्तसे नहीं लिया जा सकता, इसके दो हेतु हैं, एक तो यह है कि इस व्रतवाला त्रसहिंसाका पहले ही त्याग कर चुकता है—वह संकल्पित हिंसाको अहिंसाणुव्रतमें ही परित्याग कर देता है। इसलिये यहांपर सचित्तसे केवल एकेंद्रियका ग्रहण लिया जाता है। इसके सिवा सचित्त शब्दका उपयोग एकेंद्रियके लिये ही नियत है। जहां-कहीं भी सचित्तका विवेचन होगा वहां एकेंद्रियसे प्रयोजन होगा। इसलिये चित्त नाम यहांपर सिद्धांत-विवक्षासे एकेंद्रियमें नियत है। परंतु इतना विशेष है कि यह सिद्धांत-विवेचन सेवनकी अपेक्षासे ही है। जहां सेवनका निरूपण नहीं, अन्य किसी संबंधसे है, वहां सचित्तसे त्रस स्थावर दोनोंप्रकारके जीवोंसे प्रयोजन होता है; जैसे योनियोंके भेदोंमें सचित्त अचित्त भी है, वहांपर सचित्त शब्दसे त्रस स्थावर दोनोंप्रकारके जीवोंका ग्रहण होता है।

'सेवनके प्रकरणमें सचित्तसे स्थावरका ही ग्रहण क्यों है त्रसका क्यों नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि सेवनवस्तु-विधानमें त्रसका ग्रहण होता ही नहीं है, क्योंकि अष्टमूलगुण विना धारण किये कोई जैन संज्ञा ही नहीं पाता, अष्टमूलगुणमें मदिरा मांस मधु आदिका परित्याग हो ही जाता है। और द्वींद्रिय-जीवसे पंचेंद्रियजीवों तकका शरीर ही मांसकी श्रेणीमें आता है, इसका भी हेतु यह है कि संहननकर्मके उदयसे ही हड्डी रुधिर वीर्य मज्जा मेधा आदि धातुएं शरीरमें बनती हैं एकेंद्रियजीवके संहननमें नामकर्म-का उदय न होनेसे कुछ धातुएं नहीं बनतीं, तथा धातुओं सहित शरीरको ही मांससंज्ञा प्राप्त है, एकें-द्रिय शरीर, पानी पृथ्वी अग्नि वायु और वनस्पतिको छोडकर और कुछ नहीं है इसलिये उनमें हड्डी

रुधिरादि सबोंका अभाव होनेसे मांससंज्ञा भी नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जो जो जीव शरीर होता है वह सब मांसयुक्त होता है, तथा जिसप्रकार वनस्पति जल आदि ग्रहण करने योग्य हैं उसीप्रकार मांस भी ग्रहण करने योग्य पदार्थ है क्योंकि प्राणियोंके अंग दोनों ही हैं, इन दोनों शंकाओं का प्रतिवाद इस हेतुसे हो जाता है कि जो जो जीव शरीर होता है वह सभी यदि मांस माना जाय तो कहना होगा कि जो जो जीवशरीर होता है वह सभी संहननसहित होता है परंतु एकेंद्रिय और देव-नारकी इनके जीवशरीर रहनेपर भी संहनन नहीं होता, यदि उनके संहनन होता तो जिसप्रकार पशु-पक्षी मनुष्यादिके हड्डी रुधिर आदि पाये जाते हैं उसीप्रकार देव नारकी एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतियोंमें भी पाये जाने चाहिये। परंतु देवनारकियोंके वे नहीं हैं इसका आगम निषेध करता है, पृथ्वी आदिके नहीं है इसका आगम भी निषेध करता है और ये पदार्थ प्रत्यक्ष भी मांस रुधिरादिसे रहित दीखते हैं, इसलिये जीवशरीरकी व्याप्ति मांसादिके साथ नहीं बनती। जीवशरीर हेतु सपक्षविपक्ष (मांसादिसहित—पशुपक्षी मनुष्यादिका शरीर सपक्ष और मांसादिरहित देवनारकियोंका शरीर विपक्ष) दोनोंमें रहनेके कारण अनैकांतिक हो जाता है। जैसे कि जीवशरीरहेतु संहननकी सिद्धिमें अनैकांतिक हो जाता है, वहां भी सपक्षविपक्ष दोनोंमें रहता है इसलिये जिसप्रकार अनैकांतिक जीवशरीरहेतुसे संहननकी सिद्धि नहीं होती उसीप्रकार उससे मांस रुधिरादिकी सिद्धि भी नहीं होती। यह नियम भी नहीं बनता कि समान होनेपर सभी प्रकारकी समानता होनी चाहिये, किसीमें किसी अंशमें समानता रहती है किसी अंशमें असमानता रहती है जैसे माता और स्त्री, दोनोंमें स्त्रीत्व—स्त्रीपना है परंतु भोगने योग्य स्त्री ही होती है माता नहीं होती। उसीप्रकार प्राणीका अंगपना दोनों जगह समान होनेपर भी

५०

वनस्पति ही भक्ष्य है मांस नहीं । इसलिये इस कथनसे उस शंकाका परिहार हो जाता है कि सचित्तसे सेवनविधिमें स्थावरका ही क्यों ग्रहण होता है त्रसका क्यों नहीं, कारण कि त्रसका शरीर तो मांसस्वरूप है और मांसका श्रावकमात्र त्यागी होता है, मांसका त्याग अष्टमूल गुणोंमें पाक्षिक–जैनमात्रके अवश्य हो जाता है परंतु सचित्तग्रहण पांचवीं प्रतिमासे पहले पहले हो सकता है इसलिये सचित्तसे एकेंद्रिय जीवसहित पृथ्वी आदि स्थावरोंका ही ग्रहण होता है, त्रसका नहीं । यह सयुक्तिक सिद्ध हो चुका ।

यहांपर भी शंका उठायी जा सकती है कि जब पाक्षिकश्रावक भी मांसादिक अभक्ष्यका त्यागी होता है, तो फिर भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें स्वामी समंतभद्राचार्यने मांसादिको क्यों छुडवाया है जैसा कि श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखा है–"त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ८४ ॥ अर्थात् त्रसहिंसाके दूर करनेके लिये मधु और मांसको एवं प्रमादको भी दूर करनेकेलिये मदिराको भी छोड देना चाहिये । इस शंकाका परिहार उन पुरुषोंकेलिये अति सुगम है जो ग्रन्थोंके पूर्वापर रहस्यको समझकर सदृश दो कथनोंका पूर्वापर विरोध अपेक्षासे हटाने में सिद्ध हस्त हैं. जिन्हें पदार्थरहस्य नहीं समझनेसे अपेक्षाकृत विरोध हटानेकी सामर्थ्य नहीं है वे पुरुष इसप्रकारके कथनोंका अपने बुद्धिबलसे विपरीत अर्थ कर अनर्थ भी कर डालते हैं परंतु इसप्रकारका विवेचन जिनमतकी शैलीसे बाहर है । जहां सभी पदार्थोंका विवेचन सापेक्ष है वहां अपेक्षाका ध्यान रखना ही चाहिये ।

उपर्युक्त शंकावालोंको विचार करना चाहिये कि श्रीरत्नकरंडश्रावकाचारमें ही जहांपर अष्टमूल-गुणोंका विवेचन किया गया है वहींपर मद्य मांस मधुका त्याग बतलाया गया है, जैसा कि "मद्यमांस-

मधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।" इस श्लोकमें सिद्ध है। जब स्वामी-समंतभद्राचार्य अष्टमूल गुणोंमें मांसादिकका त्याग बतला चुके तब भोगोपभोगपरिमाणव्रत—उत्तरगुणोंमें उसका उन्होंने पुनः त्याग क्यों कराया ? इसका अभिप्राय अवश्य जुदा जुदा है अन्यथा दो स्थानोंके विधानोंमें पूर्वापरविरोध एवं पदस्थके त्यागकी अमर्यादा, दोनोंका प्रसंग आता है। इसलिये जिस-प्रकार रात्रिभोजनका त्याग पाक्षिकअवस्थामें ही हो जाता है और दूसरी प्रतिमामें अतीचारोंका भी त्याग हो जाता है, फिर छठीप्रतिमामें जाकर रात्रिभोजनका त्याग कराया गया है, वह कृत कारित अनुमोदन मन वचन काय इन नवों भंगोंसे—सर्वथा कराया गया है, यह अपेक्षा वहां नियत है उसीप्रकार अष्टमूल गुणोंमें मांसादिका त्याग कराया है, भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें उसके अतीचारोंका भी परिहार कराया गया है जैसे—मांसमदिराका त्यागी यदि कोई आसव—अवलेह आदि औषधि रसोंका ग्रहण करे तो वह उसके लिये मांसमदिरा त्यागका अतीचार कहा जायगा कारण आसवादि पदार्थ जो चिर-कालसे रक्खे रहते हैं वे मादक एवं अभक्ष्य हैं, उसीप्रकार रात्रिमें बनाया हुआ भोजन यदि दिनमें भी खाया जाय तो उसमें मांसभक्षणका अतीचार—दोष आता है। उनका ग्रहण करना निषिद्ध है, परंतु अष्टमूलगुणका धारी उन्हें ग्रहण कर सकता है, वह मांसमदिराका त्यागी है आसवादिका त्यागी नहीं है, परंतु भोगोपभोगपरिमाणव्रतवाला उन आसव अवलेह आदिको भी नहीं ग्रहणकर सकता, वहांपर मदिरा मांस मधुके अतीचारोंको भी उससे त्याग कराया जाता है। अतीचारत्याग विवक्षासे ही भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें—मदिरा मांस मधुका त्याग कराया जाता है साक्षात् नहीं, साक्षात् त्याग तो उनका अष्टमूलगुणोंमें पहले ही करा लिया जाता है।

सचित्तपदार्थोंका भक्षण कर लेना पहला अतीचार यह है। इसका अभिप्राय यही है कि जो पदार्थ सचित्त हैं फल पत्ते आदि वनस्पति और जल इनका भूलसे अथवा भ्रमसे खा लेना, भूलसे ग्रहण यों हो जाता है कि थालीमें परोसनेवालेने अन्य भोज्य वस्तुओंके साथ हरी वस्तु भी परोस दी, जीमनेवालेने चित्तकी अनस्थिरता एवं असावधानीसे उसे भी खा लिया तो यह भूलसे सचित्तग्रहण समझना चाहिये। भ्रमसे यों हो जाता है कि किसीने पके हुए फल केला आम अनार भी परस दिये, जीमनेवाला उन्हें अचित्त समझकर खा गया, वैसी अवस्थामें भ्रमसे सचित्तग्रहण समझना चाहिये, सर्वथा पका हुआ फल अचित्त होजाता है परंतु जो पूर्ण नहीं पका है परंतु परिपक्वसरीखा दीखता है वह सचित्त है, वैसे फलोंका ग्रहण सचित्तत्यागियोंको नहीं करना चाहिये। इसप्रकार सचित्तग्रहण भूल और भ्रमसे भोगोपभोगपरिमाणव्रतका अतीचार है भूल और भ्रमके कारण उसे अनाचारकोटिमें नहीं लिया गया है, अन्यथा साक्षात सचित्तग्रहण उसके त्यागीका अनाचार ही होगा।

सचित्तसे मिले हुए पदार्थका ग्रहण करना यह दूसरा अतीचार है, जैसे भोजनमें कोई हरी चीज मिल गई हो तो उसे भी खा जाना यहांपर भी असावधानीसे ऐसा होना अतीचार समझना चाहिये। जानबूझकर खा जाना तो अनाचार होगा।

सचित्तसंबंध तीसरा अतीचार है, जैसे हरी पत्तलमें भोजन खा लेना अथवा हरी पत्तलसे ढका हुआ भोजन खा लेना अर्थात् जिन पदार्थोंका सचित्तसे संबंध हो उन्हें खाना सचित्तसंबंध कहलाता है।

दुःपक्क आहार करना चौथा अतीचार है इसका यह अभिप्राय है कि जो वस्तुयें ठीक ठीक नहीं तयार हुई हैं अग्निपर जिनका पूरा पाक नहीं हुआ है। कुछ कच्ची हैं कुछ पकी हैं वे सब दुःपक्क कह-

लाती हैं, ऐसी वस्तुओंका भक्षण करना भी अतीचार है। शंका हो सकती है कि अतीचार तो दोष है, दुःपक्व आहारसे क्या दोष आता है, उसके करनेमें किसी जीवकी बाधा भी नहीं होती फिर उसे अतीचार दोषके नामसे क्यों कहा गया? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि दोष एक प्रकारका ही नहीं होता अथवा जिसमें जीवरक्षा भी पलती हो परंतु परिणामोंमें केवल विकार आता हो तो वह भी दोष समझा जाता है। तथा कोई दोष साक्षात् होता है कोई परंपरा भी होता है। दुःपक्व आहार परंपरा धर्ममें बाधा पहुंचाता है, कारण वैसा आहार करनेसे शरीरमें अनेक रोगोंके होनेकी पूर्ण संभावना रहती है, पेट फूल जाता है, वादी हो जाती है, अन्न पाचन न होनेसे ज्वर भी हो जाता है, फिर उत्तरोत्तर बीमारियां बढ सकती हैं वैसी दशामें फिर व्रतका पाला जाना अशक्य ही हो जाता है। इसलिए दुःपक्व भोजन शरीरमें साक्षात् विकार करता है पीछे धर्मसाधनमें बाधक बनजाता है अतएव उसे अतीचारोंमें लिया गया है।

और इसीलिये पांचवां अतीचार—अभिषव-आहार भी दोष उत्पन्न करनेसे अतीचार कहा गया है। अभिषव नाम गरिष्ठ पुष्ट पदार्थोंका है, जैसे हलुआ, रबडी, मलाई, घी, बादाम, रसायन आदि पौष्टिक पदार्थ एवं रसादिक पदार्थ सेवन करनेसे शरीरमें प्रबलता आती है, शारीरिक प्रबलतासे मनमें कामविकार उत्पन्न होता है। वैसी दशामें व्रतका पालन पूर्णतया नहीं हो पाता इसलिए व्रती पुरुषोंकेलिये अतिगरिष्ठ एवं पौष्टिक पदार्थोंका निषेध किया गया है, जो पदार्थ विकार उत्पन्न करनेवाले हैं एवं इंद्रियोंको प्रबल बनानेवाले हैं वे सब व्रतियोंको नहीं सेवन करने चाहिये। किंतु जिन पदार्थोंके सेवनसे शरीरकी तो रक्षा होती हो, भूख मिटती हो परंतु विकारभाव—प्रमाद नहीं आता हो ऐसे सात्त्विक हलके

पदार्थ ही सेवन करने चाहिये । इसप्रकारके हलके निर्दोष सात्विक पदार्थोंका सेवन करनेवाला पुरुष इंद्रिय और मनपर सहज ही विजय कर लेता है। अभिषवमें द्रवीभूतपदार्थ—खीर सोवीर आदि भी लिये जाते हैं और स्वादिष्ट—लड्डू गुलाबजामुन इमरती आदि इंद्रियोंको अधिक लोलुप बनानेवाले पदार्थ भी लिये जाते हैं। इनके सेवनसे अधिक पदार्थ गृद्धतासे खाए जा सकते हैं वैसी दशामें शरीर विकारसे व्रतभंग होनेकी संभावना रहती है इसलिए अधिक स्वादु पदार्थ भी व्रतियोंको नहीं खाना चाहिये।

एक प्रकारसे इन बातोंको रोकना व्रतरक्षाके लिये बाढ लगाना है यदि इन्हें न रोका जाय तो इंद्रियसमूह व्रतोंका भंग करनेमें समर्थ हो जाता है इसीलिये इन उपर्युक्त पदार्थोंको अतीचार दोष कहा गया है।

अतिथिसंविभागव्रतके अतीचार।

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थ—(परदातृव्यपदेशः) दूसरेको दान देनेकी कह देना, (च सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने) और सचित्त पदार्थमें रख कर भोजन देना, सचित्तसे ढका हुआ भोजन देना, (कालस्यातिक्रमणं) कालका अतिक्रमण कर देना, (च मात्सर्यं) और मत्सरभाव—ईर्ष्याभाव धारण करना, अथवा अनादरसे देना (इति अतिथिदाने) इसप्रकार पांच अतीचार अतिथिदानव्रतमें होते हैं।

विशेषार्थ—जिस समय अतिथि—साधु तपस्वी भोजनके लिये घरपर आ जांय, उस समय किसी कार्यकी व्यग्रतासे स्वयं तो दूसरे कार्यमें लग जाय और किसी अन्य पुरुषको कह दे कि इन्हें आहार

दे दो या मैं कार्यके लिये जाता हूं तुम दे देना, परदातृव्यपदेश अतीचार कहा जाता है। इससे आहार-दानमें उपेक्षाभाव सिद्ध होता है, कारण जहां भक्तिका तीव्र संचार होता है वहांपर फिर हरएक कार्य अपने हाथसे ही करनेकी इच्छा होती है। जो घरपर आये हुए अतिथिको छोडकर स्वयं दूसरे कार्यमें लगता है उसकी भक्ति कहांतक मंद है यह बात स्पष्ट है, भक्तिमें त्रुटि रहना ही यहांपर अतीचार लिया गया है। कारण भक्तिमें त्रुटि आती है परंपरा यदि गृहस्थ एक दूसरे पर धर्मकार्य सौंपता रहेगा स्वयं अन्यान्य कार्य करेगा तो धार्मिक कार्योंके मार्ग रुकनेकी पूरी पूरी संभावना है इसलिये उपर्युक्त दोष अतीचारमें लिया गया है। यह धार्मिक शिथिलता एवं भक्तिभावकी उपेक्षा, दान देनेवाले गृहस्थमें होती है इसलिये उसीका यह अतीचार है।

दूसरा सचित्त निक्षेप अतीचार है जब कि साधु सचित्त पदार्थके त्यागी होते हैं तब उन्हें आहार-दान देनेवालेको बहुत विचारकर अतीचाररहित शुद्ध आहार देना चाहिये, यदि आहारमें कोई प्रकारकी अशुद्धि है तो उसका दोषी देनेवाला है लेते समय यदि उन साधुओंके दृष्टिगोचर वह अशुद्धि आ जायगी तब तो वे आहार छोड देंगे नहीं आवेगी तबतक ही लेते रहेंगे परंतु उनके ध्यानमें अशुद्धिका परिज्ञान हो या नहीं हो दाता जो कुछ भी अशुद्धि रखता है उसके लिये वह दोषी है इसलिये सचित्त-निक्षेप किसी पत्तल आदि सचित्त वस्तुमें रखकर आहार देना अतीचार है।

इसीप्रकार सचित्त वस्तुसे ढका हुआ आहार देना यह तीसरा अतीचार है। कालका उलंघन कर-देना चौथा अतीचार है। साधुओंका समय प्रातःकाल दस बजेसे साढे ग्यारह बजे तक होता है और जिनका एकवारमें कहीं आहार नहीं हुआ हो तो वे तपस्वी सायंकाल भी आहारको निकलते हैं वह

समय करीब तीन-चार बजेका होता है। यदि साधु भोजनके लिये निकलेंगे तो इन्हीं दो समयोंमें निकलेंगे अन्य समयोंमें नहीं, कारण अन्य समय उनके सामायिक स्वाध्यायके लिये नियत है उस समयमें सिवा उन कार्योंके और कुछ नहीं करते। भोजनके समय दाताको प्रतिग्रहण—पडगाहन करनेके लिये साधुओंकी प्रतीक्षा करना आवश्यक है जब कोई घरपर पाहुना आता है उसकी वाट जोही जाती है तो वे तो परमपूज्य बडे भाग्योंसे दर्शनीय तपस्वी हैं, उनकी प्रतीक्षा करना-वाटजोहना अत्यावश्यक है, परंतु नियतकालमें तो इधर उधर निजी कार्यमें लग गए जब उनके भोजनका समय निकल गया तब उनके पडगाहनके लिये आ खडे हुए फिर साधुओंका मिलना ही अलभ्य है। इसे कालातिक्रम नामका दोष कहा जाता है। यह भी कालातिक्रम है कि साधुओंको घर तो ले आये और उन्हें आसनपर बिठा भी दिया परंतु बीच बीचमें स्वयं दूसरे कार्यमें लग गये उन्हें आहारदान देनेमें विलंब कर लिया, ऐसी अवस्थामें साधु भी नहीं ठहर सकते और उक्त दोषसे दाता दोषी बन चुका।

पांचवां अतीचार मत्सर—ईर्षाभाव है। यदि पडोसमें दूसरेके यहां दान दिया जाता हो या साधु दूसरेके यहां चले जांय अपने यहां नहीं आए तो उस दातासे ईर्षा धारण करना कि हाय यह दान दिये देता है मैं यों ही रहा जाता हूं। होना तो यह चाहिये कि यदि दूसरेके यहां महाराज पधारे हैं तो उसीकी सराहना करना चाहिये कि तू धन्य है कि तेरे यहां परम तपस्वी पधारे हैं, परंतु वैसा न कर उससे द्वेष करना, उसके घर उनके आनेको नहीं सहन करना अथवा अनादरके साथ आहार देना मात्सर्य नामका अतीचार है। ये सब दोष भक्तिमें कमी एवं प्रमाद उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए अतिथिसंविभागव्रत धारण करनेवाले गृहस्थको इनसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिये।

स्वामी समंतभद्राचार्यने इस अतिथिसंविभागव्रतके अतीचार सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान और मात्सर्य ये तीन तो समान ही बतलाए हैं परंतु कालातिक्रमके स्थानमें विस्मरण और परव्यपदेशके स्थानमें अनादर कहा है। परंतु यह कोई मतभेदकी बात नहीं है दोनोंका अभिप्राय समान ही है केवल शब्दभेद है। कालातिक्रम कालका उलंघन और विस्मरण ये दोनों समान दोष हैं, अथवा कारण कार्यकी अपेक्षा कथन है, विस्मरण होनेसे ही कालका अतिक्रम होता है इसलिए विस्मरण कारण और कालका अतिक्रम कार्य है। स्वामी समंतभद्राचार्यने कारणकी अपेक्षा लिखा है और श्रीअमृतचंद्रसूरिने कार्यकी अपेक्षा लिखा है। एक जगह कारणमें कार्यका उपचार है दूसरी जगह कार्यमें कारणका उपचार है।

ऊपर हमने कालातिक्रमका अर्थ उपेक्षा किया है कि अन्य कार्यमें व्यग्रता रहनेसे भोजनकालमें पडगाहनकेलिये खडा नहीं होना, विस्मरणमें भी उपेक्षाभाव होता है यदि पूर्ण ध्यान हो तो विस्मरण नहीं होगा, विस्मरण वहीं होगा जहां उस कार्यमें पूर्ण उत्साह और आकांक्षाभाव नहीं है इसलिए विस्मरण का भी उपेक्षा अर्थ होता है। यदि विस्मरणका भूल जानामात्र ही अर्थ किया जाय तो कालातिक्रमका अर्थ भी वही कर लेना चाहिये। दोनों ही अर्थ इस दोषमें आते हैं।

परदातृव्यपदेश और अनादर ये दोनों भी समानार्थक हैं। कारण दूसरे दाताको तभी प्रेरित किया जाता है जब कि स्वयं उसका विशेष अनुराग नहीं है, स्वयं अनुरागके रहनेपर दूसरेको न कहकर स्वयं ही दाता अपने हाथसे आहार देगा, इसलिए परदातृव्यपदेश वहीं होता है जहां दाताका दान देनेमें अनादरभाव है, यहांपर भी कार्य कारण भावकी अपेक्षा कथन है। अनादरभाव कारण है, परदातृव्यपदेश कार्य है, कारणकी अपेक्षासे दोनोंका ही समान अर्थ है।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबंधश्च ।
सनिदानः पंचैते भवंति सल्लेखनाकाले ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थ—(जीवितमरणाशंसे) जीने और मरनेकी आकांक्षा करना, (सुहृदनुरागः) मित्रोंमें अनुराग करना, (सुखानुबंधश्च) सुखोंका स्मरण करना, (सनिदानः) निदान बंध बांधना, (एते पंच) ये पांच अतीचार (सल्लेखनाकाले भवंति) सल्लेखनाके समयमें होते हैं।

विशेषार्थ—जिससमय मरणकाल होता है उसीसमय सल्लेखना धारण की जाती है। जिसने मरनेके पूर्व सल्लेखना तो धारण कर ली हो परंतु मनमें यह भाव उसके हो कि अभी कुछ काल और भी जीता रहता या जीता रहूं तो अच्छा है ऐसी जीनेकी अभिलाषा रखना जीविताशंसा नामका पहला अतीचार है। यह एक दोष है कारण कि सल्लेखना ममत्व भाव छोडनेकेलिये धारण की जाती है उसमें जीनेकी अभिलाषा रखना यह सांसारिक ममत्व है इसलिये उसका यह अतीचार है।

इसीप्रकार सल्लेखना धारण करनेके पीछे यदि कुछ वेदना होती हो, नग्न शरीर रखनेसे ठंड लगती हो या किसीप्रकारकी पीडा उपस्थित हो गई हो तो वैसी अवस्थामें उसे शांतिसे सहन नहीं करके यह विचार हृदयमें होना कि जल्दी ही मरण हो जाय तो मैं इस बाधासे मुक्त हो जाऊं ऐसा विचार भी शारीरिक ममत्वको सिद्ध करता है इसलिये यह मरणाशंसा भी अतीचार है।

शंका हो सकती है कि वह तो शरीरको जल्दी छोडनेकी इच्छा करता है फिर उसके शारीरिक ममत्व कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तरमें यह समझलेना चाहिये कि यदि उसके शारीरिक ममत्व

नहीं होता तो शरीरमें होनेवाली वेदनासे जल्दी मरनेकी इच्छा नहीं करता, जब शरीरसे ममत्व परिणाम नहीं रखता है तब कितनी ही वेदना क्यों न हो, उसे आत्माकी वह नहीं समझता है इसीलिये मुनियोंको अनेक शारीरिक कष्ट होते हैं परंतु वे उनके ऊपर लक्ष्य तक नहीं देते अतएव उपसर्गोंके होते हुए भी वे आत्मध्यानसे विचलित नहीं होते हैं। इससे भलीभांति सिद्ध है कि जहां ममत्व बुद्धि है वहींपर शारीरिक वेदनासे जल्दी मरनेकी इच्छा उत्पन्न होती है इसलिये यह सल्लेखनाधारीका दूसरा अनीचार है।

तीसरा मित्रानुराग नामा अनीचार है। ममत्व छोडनेके लिये तो उद्यत हो रहा है परंतु मनमें अपने पुरातन एवं नवीन मित्रोंकी याद कर रहा है कि ये सब अब मुझसे छूटे जाते हैं। यह भी ममत्वबुद्धिके संस्कार हैं।

चौथा सुखानुबंध नामा अनीचार है, मरते हुए भी पहले भोगोंकी याद करना कि हमने पहले इसी पर्यायमें अच्छे अच्छे भोग भोगे हैं अब नहीं मालूम कैसी अवस्था प्राप्त होगी। इसप्रकार पूर्व सुखोंकी याद करना भी अतीचार है यह भी भोगोंसे ममत्व सिद्ध करता है।

पांचवा निदानबंध है। सल्लेखना धारण करके उसका फल स्वर्ग या भोगभूमि आदिके सुख चाहना यह निदानबंध बहुत बुरा भाव है। इसमें सिवा आत्मप्रतारणके और कुछ नहीं है। क्योंकि यह निश्चित है कि निदानबंध पुण्यके भीतर ही फल दे सकता है, यदि पुण्य कम हो और निदान अधिक फलवाला बांधा जाय तब तो वह निरर्थक जायगा उस फलको दे नहीं सकता, यदि पुण्य अधिक है और निदान नीचे दर्जेका बांधा जाय तो वह फलीभूत हो सकेगा, ऐसी अवस्थामें कमाए हुए

पुण्यसे पूरा फल नहीं लिया जा सकता। दूसरे सांसारिक भावोंकी आकांक्षा करना यह कषायजनित वासना है; मरते समय कषायवासनाको रखना आत्माके अहितका मार्ग है इसलिये निदानबंध बहुत निकृष्ट परिणाम है। संसारके बढानेवाला एवं तीव्र राग उत्पन्न करनेवाला भाव है, इसालिये इसे शल्य बतलाया गया है। जिसप्रकार किसीप्रकारकी शल्य हृदयमें चुभा करती है, उसीप्रकार यह शल्य भी आत्मामें चुभा करती है। निदानबंध पांचवें गुणस्थान तक ही होता है, छठे गुणस्थानमें नहीं होता, कारण छठे गुणस्थानमें केवल संज्वलन कषाय है, वहांपर इसप्रकारके दुर्भाव नहीं उत्पन्न होते। मुनि-महाराज कभी निदान नहीं बांधते, व्रती श्रावकोंमें भी कभी कोई बांधते हैं क्योंकि यह जघन्य भाव है।

'निःशल्यो व्रती' यह तत्त्वार्थसूत्रका सूत्र है, इसका अर्थ है कि जो शल्यरहित होता है वही व्रती होता है, शल्यसहित व्रती नहीं हो सकता, परंतु श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें 'तदविरतदेशविरतयोः' यह भी सूत्र है, इसका अभिप्राय यह है कि वह निदानबंध अविरत और देशविरत—पांचवें गुणस्थानतक होता है। तब यहांपर यह शंका होती है कि जब शल्यसहितके व्रत ही नहीं होता तब निदान शल्य पांचवें गुण-स्थानतक कैसे रह सकती है? क्योंकि पूर्व सूत्रके अनुसार जहां शल्य होगी वहां व्रत नहीं और जहां व्रत है वहां शल्य नहीं हो सकती? इसका समाधान यह है कि यह कथन निरतीचार व्रतकी अपेक्षासे है अर्थात् निरतिचारव्रत तभी पाला जा सकता है जब कि वह शल्यरहित होगा।

इसप्रकार पांच अणुव्रतोंके पांच पांच अतीचार, तीन गुणव्रतोंके पांच पांच अतीचार, चार शिक्षा-व्रतोंके पांच पांच अतीचार और सल्लेखनाके पांच अतीचार तथा सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार कुल ७० सत्तर अतीचार होते हैं, इनको बचाकर व्रतोंकी रक्षा करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि सल्लेखना किसी व्रतमें गर्भित है ? या स्वतंत्र व्रतभाव है, यदि व्रतमें गर्भित है तब तो उसके स्वतंत्र अतीचार बतलानेकी आवश्यकता नहीं थी जिस व्रतमें इसका समावेश हो सकता है उसीके अतीचार गिनानेसे इसके भी अतीचार समझे जाते, यदि स्वतंत्र व्रत इसे माना जाय तो फिर श्रावकके १२ व्रत ही क्यों बतलाये हैं सल्लेखनासहित १३ व्रत कहने चाहिये ? इस शंकाका परिहार इसप्रकार है—सल्लेखना न तो किसी व्रतमें गर्भित है और न स्वतंत्र व्रत है किंतु जिस प्रकार १२ व्रतोंसे भिन्न सम्यक्त्वभाव है उसके पृथक् अतीचार हैं, उसीप्रकार मरणकालमें होनेवाला उत्तम क्षमता एवं निर्ममत्वभाव सल्लेखना है । इसे व्रतमें सामिल नहीं किया जा सकता, कारण जिसप्रकार सामायिकमें पृथक् पृथक् अहिंसादि व्रतोंका उल्लेख नहीं होता किंतु समष्टि (समुदायरूपसे) रूपसे सभी व्रत सुतरां पल जाते हैं उसीप्रकार सल्लेखनामें भी समस्त व्रत सुतरां पल जाते हैं वहां पृथक् पृथक् व्रतोंका विधान नहीं होता इसलिए सल्लेखना व्रतोंसे भिन्न एक विशुद्धिजन्य विशेष आत्मीय परिणाम है । जब वह किसी विशेष व्रतमें गर्भित नहीं है तब उसके अतीचार भी स्वतंत्र कहना ही आवश्यक है ।

अतीचारत्यागका फल ।

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थ—(इति एतान् अतिचारान्) इसप्रकार इन अतीचारोंको (अपि अपरान्) और दूसरे जो हैं उन्हें भी (संप्रतर्क्य) भले प्रकार विचारकर (परिवर्ज्य) उन्हें छोडकर (अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः) निर्मल सम्यग्दर्शन, पांच व्रत और सप्त शीलोंके द्वारा (अचिरात्) शीघ्र ही (पुरुषार्थसिद्धिं) पुरुषार्थसिद्धिको (एति) प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—अतीचारोंका परित्याग किए विना सम्यग्दर्शन और व्रत निर्दोष नहीं हो सकते, तथा विना उनके सर्वथा निर्दोष हुए पुरुष–आत्माको अर्थ–प्रयोजन सिद्धि–मुक्ति मिल नहीं सकती इसलिए मुक्ति प्राप्तिकेलिये सम्यक्त्व एवं व्रतोंका निर्दोष पालना परमावश्यक है। इसकेलिये उनके समस्त अतीचार जो कुछ इस ग्रंथमें गिनाये गए हैं उन्हें और जो कुछ अन्यान्य शास्त्रोंमें वर्णित किए गए हैं, अथवा उपलक्षणसे जाने जाते हैं उन्हें भी ध्यानपूर्वक विचारकर छोड देना चाहिये। उन सब अतीचारोंके छोडनेपर सम्यग्दर्शन एवं व्रत शील सभी निर्दोष हो जाते हैं, वैसी अवस्थामें व्रती पुरुष बहुत जल्दी अपने असली प्रयोजनको–मोक्षलक्ष्मीको पा लेता है।

तपो विधान।

चारित्रांतर्भावात् तपोपि मोक्षांगमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वांतैः॥ १९७॥

अन्वयार्थ—(चारित्रांतर्भावात) सम्यक्चारित्रमें गर्भित होनेसे (तप अपि) तप भी (आगमे मोक्षांगं गदितं) आगममें मोक्षका अंग कहा गया है। इसलिये (तदपि) वह तप भी (अनिगूहितनिजवीर्यैः) अपनी शक्तिको नहीं छिपानेवाले (समाहितस्वांतैः) और अपने मनको वशमें रखनेवाले पुरुषके द्वारा (निषेव्यं) सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—तपका धारणकरना मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रधान है विना तपके धारण किये कर्मोंकी निर्जरा अशक्य है, इसलिये अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर एवं मनको वशमें रखकर मोक्षप्राप्तिके अभिलाषी पुरुषोंको तप अवश्य धारण करना चाहिये। तपका उल्लेख स्वतंत्र इसलिये नहीं किया गया है कि वह सम्यक्चारित्रमें अंतर्भूत–गर्भित हो जाता है।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपोबाह्यं॥ १९८॥

अन्वयार्थ—(अनशनं) चार प्रकारके भोजनका परित्याग कर देना, (अवमौदर्यं) ऊनोदर रहना अर्थात् थोडासा आहार लेना, भरपेट नहीं खाना (विविक्तशय्यासनं) एकांतमें सोना बैठना (रसत्यागः) रसोंका त्याग करना (कायक्लेशः) शरीरको क्लेश देना (वृत्तेः संख्या च) तथा आहारकी नियति करना (इति बाह्यं तपः निषेव्यं) इसप्रकार यह छह प्रकारका बाह्यतप सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—कर्मोंके क्षय करनेके लिये तपा जाय उसे तप कहते हैं, उसके दो भेद हैं एक—बाह्य तप, दूसरा—अंतरंगतप। बाह्यतपके छह भेद हैं—अनशन, अवमौदर्य, विविक्तशय्यासन, रसपरित्याग कायक्लेश और वृत्तिपरिसंख्या।

खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, इन चारोंप्रकारके आहारोंका सर्वथा परित्याग करदेना, अनशनतप है। अल्पाहार करना अर्थात् जितनी भूख है उसमें एक ग्रास, दो ग्रास, तीनग्रास आदि क्रमसे भोजनको घटाकर लेना, घटते घटते एक ग्रासमात्र लेना इसे अवमौदर्य कहते हैं, इसीका दूसरा नाम ऊनोदर है। यह इच्छानिरोधके लिये किया जाता है। लालसायें इस तपसे नष्ट हो जाती हैं।

जो स्थान जीवोंकी बाधारहित हैं, एकांत हैं, ऐसे वसतिका खंडहर आदि स्थानोंमें शयन-आसन करना इसे विविक्तशय्यासन कहते हैं।

रसोंका त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। रसोंके पांच भेद हैं—दूध, दही, घी, खांड, तेल।

इन पांचोंमेंसे कभी एक रसका परित्याग करना, कभी दोका त्याग करना, कभी तीनका, कभी चारका और कभी पांचका। पांचका त्याग जहां किया जाता है वहां उत्कृष्टत्याग कहा जाता है।

श्रीराजवार्तिककारने रसोंके भेद नहीं गिनाकर—'घृतादिरसत्यजनं' घृत दधि गुड तैल आदि रसोंको छोडना रसपरित्याग है, इतना ही बतलाया है साथ ही उन्होंने शंका भी उठायी है कि जितनी मात्र पौद्गलिक वस्तुएं हैं सभी रसवाली हैं, उन सबका नाम कहना चाहिये फिर विशेष क्यों कहा गया इसके उत्तरमें श्रीअकलंकदेवने कहा है कि विशेष रससे यहां प्रयोजन है जो रस इंद्रियोंको विशेष रीतिसे लालायित करनेवाला है उसीका परित्याग करना आवश्यक बतलाया गया है। तत्त्वार्थसारकार श्रीअमृतचंद्रसूरिने पांच रसोंका नाम गिनाया है साथमें पांच संख्या भी बतलायी है—'तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषां' तैल, क्षीर, इक्षु, दधि, और घी। नमकको यद्यपि रसोंमें नहीं गिनाया गया है तथापि श्रीराजवार्तिककारके अभिप्रायानुसार उसका ग्रहण भी रसमें किया जाय तो कोई बाधा नहीं है। वर्तमानमें जो त्याग किया जाता है उसमें हरित वस्तु भी रसमें ले ली जाती है हरित वस्तुका रसमें ग्रहण है यह बात अनगार धर्मामृतमें स्पष्टतासे बतलायी गई है जितने भी पदार्थ विशेष स्वादिष्ट होते हैं वे रसोंमें परिगणित किये जाते हैं। नमकको भी रसमें उक्त ग्रंथमें गिनाया गया है इसलिये जो रविवारको नमक छोडने और सोमवारको हरित छोडनेकी पद्धति है वह शास्त्रोक्त है। इंद्रियलालसा निवृत्तिके लक्ष्यसे नमकका त्याग भी लाभकारी है। अनेक आसन मांढकर तप करना, घूपमें—ग्रीष्मकालमें पर्वतपर चढकर तप करना, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे तप करना, शीतकालमें नदीके किनारे तप करना इत्यादि रीतिसे जिसप्रकार हो सके शरीरको तपद्वारा क्लेशित करना कायक्लेश कहलाता है।

यहांपर यह शंका उठायी जा सकती है कि कायक्लेशसे तो आत्मामें कषायभाव पैदा होगा वैसी अवस्थामें कर्मबंध ही होगा परंतु तपका फल कर्मोंकी निर्जरा बतलाया गया है, वह कायक्लेशसे सिद्ध नहीं होता प्रत्युतः विपरीतफल सिद्ध होता है फिर कायक्लेशको तपमें क्यों ग्रहण किया गया है ?

इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि यहांपर अप्रमत्त अधिकार चला आता है। उसका प्रयोजन यह है कि जहांपर कषायपूर्वक शरीरको पीडा पहुंचाई जाती है अथवा जहांपर शारीरिक पीडासे आत्मा पीडित एवं क्षुब्ध होता है वहां तो कर्मबंध होता है वैसा शारीरिक क्लेश सर्वथा वर्जित किया गया है कारण कि शास्त्रकारोंने सर्वत्र अपनी शक्तिके अनुसार तप करनेका विधान किया है। अपनी शक्तिका प्रयोजन यही है कि जिसमें आत्माको शरीरपीडासे क्लेश न हो, अन्यथा आत्मा तो अचिन्त्य एवं समानशक्तिका धारी है उसके लिये नाना जीवोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न रूपसे सामर्थ्यका उपदेश व्यर्थ है, इसलिए उसका यही प्रयोजन है कि जहां-जिस जीवमें जितनी सामर्थ्य है अर्थात् जितना प्रमादरहित-कषायरहित शारीरिकश्रम किया जा सकता है उतना किया जाय। जहां शारीरिक श्रम करते हुए कषायभाव जागृत नहीं होते हैं वहांपर कर्मबंध नहीं होता किंतु कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। कर्मबंधके लिये कषायभाव कारण है जहांपर कषायभावोंका पूर्ण दमन किया जाता है वहां कर्मकी निर्जरा अशक्य है। पर्वतपर, नदी किनारे, वृक्षके नीचे एवं नाना प्रतिमादियोगोंसे जो तप किया जाता है वह आत्मशुद्धिके लिये ही किया जाता है, शरीरसे ममत्वबुद्धि सर्वथा दूरकर दी जाती है, वैसी अवस्थामें शारीरिक कष्टसे आत्मसंक्लेश नहीं होता। यह बात अनुभूत है कि जहांपर शरीरमें ममत्व भाव नहीं रहता, वहां शरीरकी पीडाकी ओर लक्ष्य ही नहीं होता, वहांपर शारीरिक वेदना वेदना ही नहीं विदित

होती इसलिये कायक्लेश नहीं होता, विना कायक्लेश किये आत्मशुद्धि और कर्मनिर्जरा अशक्य है अतः कायक्लेशको तप कहा गया है। यद्यपि कर्मोंकी निर्जरा तो प्रत्येक संसारीके होती रहती है परंतु उस निर्जरा से कोई लाभ नहीं है, वह सविपाकनिर्जरा है, अर्थात् कर्म अपना फल देकर समय पूराकर निर्जरित हो जाते हैं किंतु जो कर्म तप द्वारा खपाये जाते हैं, वे उदय-समयसे पहले ही खपाये जाते हैं वैसी कर्म-निर्जराको अविपाकनिर्जरा कहते हैं, ऐसी कर्मनिर्जरा आत्माको कर्मभारसे हलका बनाती है। वृत्तिपरि-संख्या उस तपका नाम है जिसमें भोजनकी विशेष मर्यादा की जाती है—जैसे आज मैं दश घरसे अधिक नहीं घूमूंगा, चाहे भोजन मिले या न मिले, आज अमुक पदार्थ मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं लूंगा, आज केवल मूगकी दाल ही लूंगा और कुछ नहीं इत्यादि रूपसे जहांपर नियमित वृत्ति करली जाती है वहांपर विशेष रीतिसे संयम पलता है इसलिये वृत्तिपरिसंख्या तप है।

अंतरंग तपके भेद।

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोंतरंगमिति ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थ—(विनयः) विनय करना (वैयावृत्यं) वैयावृत्य करना (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त धारण करना (तथैव उत्सर्गः) उसीप्रकार कायोत्सर्ग करना (स्वाध्यायः) स्वाध्याय करना (अथ ध्यानं) अथ ध्यान धारण करना (इति अंतरंग तपः निषेव्यं भवति) इसप्रकार अंतरंग तप सेवन करने योग्य है।

विशेषार्थ—विनय चारप्रकार है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय। सम्य-ग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये स्वाध्याय करना, शास्त्रका विनय करना, ज्ञानका प्रचार करना, गुरुओंकी भक्ति

करना, इत्यादि सब ज्ञानविनय कहा जाता है। सम्यग्दर्शनको शुद्ध रखनेकी चेष्टा करना उसे अतीचारोंसे दूषित नहीं होने देना निःशंकितादि भावोंसे उसे दृढ बनाना, एवं सम्यग्दृष्टियोंपर श्रद्धाभाव रखना यह सब दर्शनविनय है। सम्यक्चारित्रका पालन करना, दूसरोंसे व्रताचरण कराना, लोकमें चारित्रका महत्त्व प्रगट करना, एवं सम्यक्चारित्रधारियोंकी भक्ति विनय करना चारित्रविनय है। आचार्य उपाध्याय साधु एवं सम्यग्दृष्टि गुणधारी पुरुषोंके आनेपर खडे हो जाना उन्हें पहुंचाने जाना हाथ जोडकर विनयादि करना, जो परोक्ष हैं उनका प्रकरणवश नाम उपस्थित होनेपर उन्हें परोक्ष नमस्कारादि करना, हाथ जोडकर मस्तक झुकाना इत्यादि सब उपचारविनय है। जो शिक्षक लौकिक शिक्षा देते हैं उन्हें गुरु समझकर उनका विनय करना, अंतरंग तपमें सामिल किया जाय या नहीं? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि तपमें तो उन्हींका विनय सामिल किया जा सक्ता है जो सम्यग्दृष्टि हैं, जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं उनका विनय तो करना चाहिये परंतु वह लौकिक व्यवहारविनय है, धार्मिक बुद्धिसे भक्तिपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वैयावृत्य नाम धार्मिक पुरुषोंकी सेवाका है। आचार्य उपाध्याय, तपस्वियोंके पास शिक्षा लेनेवाले व्रती, रोगादिसे क्लिष्टशरीरी, वृद्ध मुनियोंका समूह, आचार्योंका शिष्यवर्ग, मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका इन चारोंके संघ अनेक कालसे दीक्षित साधु और लोकपूजित सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सबोंकी सेवा शुश्रूषा करना आवश्यकतानुसार हरप्रकारसे सहायता करना सो वैयावृत्य है।

किसी व्रतमें दूषण आनेपर शास्त्रानुसार मार्गसे एवं आचार्यद्वारा दिये गये दण्डविधानसे पुनः व्रतको शुद्ध कर लेना इसीका नाम प्रायश्चित्त है। जिससमय आत्मा कषायकी तीव्र परतंत्रतावश किसी

अनुपादेय मार्गका अनुसरण कर लेता है उससमय फिर उसी पूर्व आर्षमार्गपर नियोजित एवं दृढ करनेके लिये प्रायश्चित्त मूलसाधक है, विना प्रायश्चित्तके आत्मासे होनेवाली भूलका मार्जन किसीप्रकार हो नहीं सकता। प्रायश्चित्त शास्त्रोंके ज्ञाता आचार्य एवं गृहस्थाचार्य शुद्ध एवं सरल परिणामोंसे केवल धर्मरक्षाकी बुद्धिसे दूषित व्यक्तिको प्रायश्चित्त देते हैं, लेनेवाला भी अपनी भूल समझकर उसी दण्डको सुधारमार्ग समझकर सरलपरिणामोंद्वारा ग्रहण करता है इसलिए दोष करनेवाला व्यक्ति फिरसे निजात्माको शुद्ध बनाकर समुन्नति प्राप्त कर लेता है। यह प्रायश्चित्त आलोचन प्रतिक्रमण आदि भेदोंसे ९ प्रकार है। कोई दोष होनेपर उसे गुरुके निकट जाकर निवेदन कर देना इसका नाम आलोचन प्रायश्चित्त है। गुरुकी आज्ञानुसार अपने किये हुए अपराधोंकी मीमांसा करना अर्थात् मेरे अपराध मिथ्या हो जांय इसप्रकार किये गए अपराधोंका जो पश्चात्ताप किया जाता है वह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। कोई दोष आलोचनसे दूर होता है, कोई प्रतिक्रमणसे दूर हो जाता है, परंतु कोई कोई प्रबल दोष आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंसे दूर होता है, जो दोनोंसे दूर होता है उसे तदुभय प्रायश्चित्त कहते हैं। संसक्त अन्न पान एवं उपकरणोंका विभाग कर देना इसे विवेक नामक प्रायश्चित्त कहते हैं। शरीरसे ममत्व छोडकर ध्यान करना वह कायोत्सर्ग है, जो प्रायश्चित्तरूपसे ध्यान किया जाता है वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहलाता है। अनशनादि तपोंका धारण करना तप प्रायश्चित्त है। कुछ नियत दिनोंके लिये दीक्षाका छेद कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है। दोष करनेवालेको कुछ कालके लिये संघसे बाहर कर देना परिहार नामका प्रायश्चित्त है। किसी बहुत बडे दोषपर दोषीकी दीक्षाको सर्वथा छेद करके फिर नवीनरूपसे उसे दीक्षित बनाना उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। जैसे जैसे दोष होते हैं उन्हींके परिमाणमें इन प्रायश्चित्तोंको

गुरु—आचार्य देते हैं। कषायोंकी तीव्रतासे कभी कभी किसी निमित्तकी प्रबलतासे मुनियोंसे भी दोष बन जाते हैं परंतु शीघ्र ही कषायोंका उपशम होनेसे वे गुरुओंसे प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाते हैं, जब कि इंद्रिय विषयोंसे सर्वथा दूर एवं निमित्तमात्रको दूरकर जंगलमें निवास करनेवाले मुनियोंसे भी कषाय-वश कभी कभी कोई दोष बन जाते हैं तो रातदिन इंद्रियविषयोंमें लिप्त रहनेवाले एवं सब प्रकारके सांसारिक निमित्तोंमें सने हुए गृहस्थसे छोटेसे लेकर बडे बडे दोषोंका हो जाना सहज है, परंतु कभी किसी दोषके उपस्थित हो जानेपर फिर व्रतच्युति समझकर दोषोंसे मुक्त होनेकी चेष्टा नहीं करना मूर्खता है, इसलिए यह परमावश्यक है कि गृहस्थको भी प्रायश्चित्त शास्त्रोंके आधारपर विशेषज्ञोंसे अपने दोषोंका प्रायश्चित्त लेकर आत्माको शुद्ध बनाना चाहिये। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि एवं संयमकी रक्षाके लिये स्वाध्याय करना, चारों अनुयोग शास्त्रोंका बांचना, चिंतवन करना, पूछना, मनन करना, दूसरोंको समझाना आदि स्वाध्याय तप है। तथा एकाग्रचित्त होकर समस्त आरंभ परिग्रहसे मुक्त बनकर अर्हंत सिद्ध अथवा निजात्मा अथवा अन्य किसी ध्येय पदार्थमें निमग्न हो जाना ध्यान है। यह भी अंतरंग तप है। इसप्रकार ऊपर अंतरंग तपका वर्णन किया गया है। इस तपका केवल आत्मीय भावोंसे संबंध है, बाह्यनिमित्त अंतरंग तपमें अवलंबन नहीं पडता है तथा मनका अवलंबन प्रधान है इसीलिये इसे अंतरंग तप कहते हैं। बाह्यतपमें बाह्य पदार्थ एवं शरीर प्रवृत्ति प्रधान पडती है इसलिए उसे बाह्यतप कहा गया है। दोनों प्रकारका तप आत्माको उसीप्रकार शुद्ध बनाता है जिसप्रकार कि अग्नि सुवर्णको तपाकर शुद्ध बना देती है। इसीलिये तपको मोक्षका—कर्मनिर्जराका प्रधान अंग कहा गया है।

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणं।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(जिनपुंगवप्रवचने) जिनश्रेष्ठ श्रीअर्हंतदेवके द्वारा–प्रतिपादित शास्त्रोंमें (मुनीश्वराणां) मुनीश्वरोंका (यत् आचरणं) जो चारित्र (उक्तं) कहा गया है (एतत् अपि) वह भी (निजां पदवीं) अपने पदस्थको (सुनिरूप्य) अच्छी तरह विचार करके (शक्तिं च सुनिरूप्य) तथा अपनी सामर्थ्यको भी भलीभांति विचार करके (निषेव्यं) सेवन करने योग्य हैं।

विशेषार्थ—यहांतक श्रावकोंका आचार निरूपण किया गया अब ग्रंथकार श्रीअमृतचंद्रसूरिमहाराज कहते हैं कि जैनागममें जो मुनीश्वरोंके आचरण बतलाये गये हैं उन्हें भी अपनी शक्ति एवं अपने पदस्थका लक्ष्य रखकर पालन करना चाहिये। अर्थात् या तो सामर्थ्य परिपूर्ण हो तो मुनिपद ही अंगीकार करना चाहिये, यदि उतनी सामर्थ्य नहीं है तो मुनियोंके लिये कहे गये आचारका एकदेश धारण करना चाहिये। अनेक पुरुष ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि अमुक बात तो मुनियोंके लिये है, अमुकव्रत तो उन्हींके लिये है, श्रावकोंके लिये वे नहीं हैं। यह बात कहना कुछ अंशोंमें सत्यता रखता है और कुछ अंशोंमें मिथ्या भी है। जो व्रत उच्चादर्श रूपसे, एवं मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे त्रस-स्थावरोंकी पूर्ण रक्षापूर्वक सर्वारंभ परिग्रहरहित मुनियों द्वारा पाले जा सकते हैं वे सारंभ सपरिग्रह गृहस्थसे कभी नहीं पाले जा सकते। ऐसी अवस्थामें उपर्युक्त कथन ठीक है। परंतु जो आचरण–व्रत समिति गुप्ति आदि महाव्रत रूपसे मुनियोंके लिये विहित है उसका एकदेश रूप भी श्रावक नहीं पाल

सकता यह कथन मिथ्या है कारण महाव्रतकी अपेक्षा अणुव्रत रखता है। मुनियोंके आचार महाव्रत रूपसे हैं वे ही आचार श्रावकोंके लिये अणुव्रत—एकदेश रूपसे हैं। ऐसी अवस्थामें पंचव्रत पंचसमिति त्रिगुप्ति आदि समस्त चारित्रको एकदेश रूपसे गृहस्थ पालन करनेका अधिकारी है इसलिये अपनी शक्ति एवं अपने पदस्थके अनुसार मुनियोंके व्रताचरणको धारण करना चाहिये।

षडावश्यक।

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववंदनाप्रतिक्रमणं।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यं ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ—(समतास्तवनवंदनाप्रतिक्रमणं) समता, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, (प्रत्याख्यानं) प्रत्याख्यान, (वपुषो व्युत्सर्गश्च) कायोत्सर्ग, (इति इदं आवश्यकषट्कं) इसप्रकार ये छह आवश्यक (कर्तव्यं) करना चाहिये।

विशेषार्थ—समता और सामायिक दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, अतएव यहांपर समता पाठ है अन्यान्य ग्रंथोंमें सामायिक भी पाठ है। साम्यभाव रखनेका नाम समता या सामायिक है। साम्यभाव ६ प्रकारसे—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र और काल इन छह भेदोंसे धारण किया जाता है। शुभ अशुभ नामोंको सुनकर रागद्वेष नहीं करना नाम सामायिक है। जिस किसी स्थापित पदार्थकी सुंदरता अथवा विकृतरूपता देखकर रागद्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन दोनोंमें समदर्शीभाव रखना द्रव्यसामायिक है। चाहे कोई सुंदर बाग हो या कोई कांटोंसे भरी हुई ऊसर भूमि हो दोनोंमें समताभाव रखना क्षेत्रसमता है। चाहे अधिक जाडा या गरमी हो या अनु-

कूल वायुसे सुहावनी वसंत ऋतु हो अथवा दिन हो या रात्रि हो किसी एकपर राग या द्वेष नहीं करना किंतु दोनोंको समताभावसे अनुभवन करना कालसामायिक है। समस्त जीवोंपर मैत्रीभाव धारण करना किसीसे वैर विरोध नहीं करना भावसामायिक है। अथवा दूसरी प्रकारसे भी इन्हीं नाम स्थापना आदि सामायिकोंका स्वरूप है वह इसप्रकार है—जाति द्रव्य क्रिया गुण इनमेंसे किसीकी अपेक्षा नहीं करके सामायिक शब्द—संज्ञा रखना नामसामायिक है। जो पुरुष सामायिक आवश्यकमें परिणत है वह तदाकार अथवा अतदाकार पदार्थमें गुणोंका आरोपण करै वह स्थापना सामायिक है। जो वस्तु भविष्यमें जिस रूपको धारण करनेवाली है अथवा भूतकालमें वैसारूप धारणकर चुकी है उसका सामायिक होना द्रव्यसामायिक है। अर्थात् भूत भविष्यत्कालमें वर्तमान रूप धारण करनेवाली वस्तुमें वर्तमान रूप देकर रागद्वेष छोड साम्यभाव धारण करना द्रव्यसामायिक है। यह द्रव्यसामायिक दो प्रकार है—एक आगम द्रव्यसामायिक, एक नो आगम द्रव्यसामायिक। सामायिकके वर्णन करनेवाले शास्त्रोंका ज्ञाता आत्मा जिससमय उन शास्त्रोंमें अनुपयुक्त है उससमय वह आगम द्रव्यसामायिक कहने योग्य है। नोआगम द्रव्यसामायिकके तीन भेद हैं—सामायिक वर्णनवाले शास्त्रोंका ज्ञाता आत्माका शरीर, भाविजीव और तद्व्यतिरिक्त। उनमें ज्ञाताका जो शरीर है वह भी तीनप्रकार है—भूतशरीर, भाविशरीर और वर्तमानशरीर। अर्थात् सामायिक शास्त्रोंके जाननेवाले आत्माका वर्तमानशरीर और उसीका भूतशरीर और उसीका भाविशरीर ऐसे तीन भेद ज्ञातृशरीरके हैं। उन तीनोंमें जो भूतशरीर है उसके भी तीन भेद हैं—च्युत च्यावित और त्यक्त। जो शरीर पके हुए फलके समान अपने आप ही आयुके क्षय होनेपर आत्मासे पृथक् हो जाय वह च्युतज्ञातृशरीर है। जो कदलीघातसे आत्मासे पृथक् किया जाय

वह च्यावितशरीर कहलाता है। त्यक्तशरीरके फिर तीन भेद हैं—भक्त, प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण। उनमें भक्त प्रत्याख्यानके भी तीन भेद हैं उत्तम मध्यम जघन्य। उत्कृष्ट भक्त त्यागका प्रमाण बारह वर्ष है। जघन्यका समय अंतर्मुहूर्त है, बीचका सब समय मध्यम है। तथा भाविकालमें—आगामी कालमें सामायिक शास्त्रोंको जाननेवाला जीव भाविनोआगम द्रव्यसामायिक कहलाता है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कर्म, नोकर्म। सामायिकमें स्थित जीवके जो तीर्थकर शुभ नाम शुभ गोत्र सातावेदनीय आदि शुभ कर्मोंका संचय होता है वह नोआगम द्रव्यकर्म तद्व्यतिरिक्त नामका द्रव्यसामायिक है। नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्यसामायिकके फिर तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र। उनमें सचित्त पढानेवाले उपाध्याय कहे जाते हैं। अचित्त पुस्तक कही जाती है और मिश्रमें दोनोंका ग्रहण होता है। यह सब नोकर्म हैं जो उस कार्यमें सहायक हो वह नोकर्म कहा जाता है। क्षेत्रसामायिक वह है कि—सामायिकपरिणत जीवने जिस स्थानका ग्रहणकर रक्खा है जैसे—चम्पापुर, पावापुर गिरनारि, सोनागिरि, अंतरीक्ष पार्श्वनाथ, श्रीसम्मेदशिखर आदि। जिस कालमें सामायिकमें आत्मा परिणत होती है वह उसका कालसामायिक है। उसके तीन भेद हैं—प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, और सांयकाल। जो वर्तमानपर्यायसे विशिष्ट पदार्थ है उसका सामायिक भावसामायिक कहा जाता है। वह भी दोप्रकार है-आगमभावसामायिक, नोआगमभावसामायिक। सामायिकके वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको जाननेवाला आत्मा जिससमय उन शास्त्रोंमें उपयोग लगा रहा है उस समय वह आगमभावसामायिक कहा जायगा। नोआगमभावसामायिकके भी दो भेद हैं—उपयुक्त और तत्परिणत। सामायिक शास्त्रोंके विना सामायिकके अर्थोंमें जो उपयुक्त है वह नोआगम उपयुक्त भाव सामायिक है। तथा जो रागद्वेषसे रहित भावसे परिणत

आत्मा है वह तत्परिणत नोआगम भावसामायिक है। इन छहों भेदोंमें—द्रव्यक्षेत्रादि भेदोंमें जो भाव-सामायिक भेद है उसीमें मुख्य प्रयोजन है। भावसामायिक शब्दका निरुक्तिपूर्वक अर्थ यह है कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, यम, नियम, संयम, गुप्ति इनमें प्रशस्तरूपसे गमन करे वह सामायिक है अर्थात् इन सब आत्मीय धर्मोंको जो प्रशस्तरूपसे धारण करता है वह भावसामायिक संपन्न कहलाता है। सामायिकमें उपयुक्त आत्मा यह विचारता है कि किसीने शुभ नाम अथवा अशुभ नामका प्रयोग किया तो आत्मा वचनके अगोचर है इसलिये मुझे उस शुभ अशुभ नाममें रागद्वेष नहीं करना चाहिये। जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूं मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिये। जो सामायिक शास्त्रोंके जानकार आत्माके शरीर हैं अथवा उससे भिन्न हैं दोनों ही पर द्रव्य हैं मुझे उनमें रागद्वेष क्यों होना चाहिये। चाहे राजधानी हो, चाहे जंगल हो, दोनोंही परक्षेत्र हैं, मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है इसलिये मेरा उनमें रागद्वेष करना सर्वथा विपरीत है कारण जो अनात्मदर्शी हैं वे ही अपना निवास ग्राम या अरण्य समझते हैं, परंतु आत्मदर्शी तो केवल निजात्मामें ही अपना निवास समझते हैं, ठंडी गरमी दिन रात ये सब पुद्गलके विकार हैं, मेरा इनसे स्पर्श भी नहीं हो सकता क्योंकि मैं अमूर्त हूं इसलिये मुझे इस कालमें रति अरति नहीं करना चाहिये। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं मैं तो केवल चित्चमत्कार—चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं इसलिये मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावोंमें किसीप्रकार भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये इसलिये जीनेमें, मरनेमें, लाभमें, अलाभमें, संयोगमें, वियोगमें, बंधुमें, शत्रुमें, सुखमें, दुखमें सभीमें साम्यभाव ही मुझे धारण करना चाहिये। ये सब कर्मकृत विकार हैं। इन सबसे मेरा वास्तवमें कोई किसीप्रकारका संबंध नहीं है। इसप्रकार सामायिकके स्वरूपका विचार

करना चाहिये। स्तवनका स्वरूप यह है कि श्रीअर्हंतकेवली, धर्मप्रवर्तक, श्रीचतुर्विंशति भगवानका उनके गुणोंका कीर्तन करके स्तवन करना-स्तुति करना सो स्तव कहलाता है। यह स्तवन भी दोप्रकार है १-व्यवहारस्तवन २-निश्चयस्तवन। व्यवहारस्तवनके पांच भेद हैं-नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल। चतुर्विंशति भगवानके एक हजार आठ नामोंका उच्चारण करके उनका जो स्तवन किया जाता है वह नामस्तव कहलाता है। जैसे आप श्रीमान् हैं, आप स्वयंभू हैं, वृषभ हैं, आत्मभू हैं, प्रभु हैं, विश्वभू हैं, धर्मपाल हैं, जगत्पाल हैं, धर्मसाम्राज्यनायक हैं आदि। जो चतुर्विंशति भगवानकी स्थापना करके उनकी आराधना की जाती है वह स्थापना स्तवन है। जैसे-आपका रूप शुक्ल है, सुवर्ण है, आपकी शरीरकी ऊंचाई पांचसौ धनुष या सात हाथ है, आपका आकार परम सुंदर है, आप चंपापुरमें विराजमान हैं, आदि रूपसे जो कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओंका स्तवन होता है वह स्थापनास्तव है। द्रव्यस्तवन इसप्रकार है-हे भगवन्! आपके अनेक शुभलक्षण हैं, आपके शरीरके परमाणु स्वयं मुक्तावस्थामें छूट जाते हैं, आपके बैल, गज, अश्व, बंदर आदि चिन्ह हैं, आपको कभी पसीना नहीं आता, आपके गमनकालमें चारोंओर सुभिक्ष हो जाता है, आपके वर्ण शुभ हैं, किन्हींके शुक्लवर्ण है, किन्हींके हरितवर्ण है, किन्हींके नीलकमलके समान हैं आदि। आपकी ऊंचाई भिन्न भिन्न रूपसे है। पांचसौ धनुषसे लेकर सात हाथ तक है। आपके वंश-इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र, नाथ, हरि आदि हैं। आपकी माताको षोडश स्वप्न आते हैं, वे स्वप्नमें माला, निर्धूम अग्नि, सिंहासन आदि देखती हैं। आपकी कांतिसे सब दिशाएं उज्वल हो जाती हैं। आपने न्यग्रोध अशोक आदि वृक्षोंके नीचे योग धारण किया था। इत्यादि रूपसे जो भगवानका स्तवन किया जाता है वह द्रव्यस्तवन है। चौबीसों महाराजके क्षेत्रका वर्णन करना जहां उन्होंने

निवास एवं दीक्षा धारण की हो उनका वर्णन करना क्षेत्रस्तवन कहलाता है, जैसे—हे भगवन्! आपने सर्वार्थसिद्धिक्षेत्रसे श्रीमाताकी कुक्षिमें अवतरण किया है, आपने अयोध्या नगरीमें जन्म लिया है, आपने सहस्रवन दंडकवनमें दीक्षा धारण की है. सुमेरुपर आपका अभिषेक इंद्रोंने किया है, आपको हस्तिनापुर एवं अहिच्छत्रमें केवलज्ञान हुआ है. आपने श्रीसम्मेदशिखिर, कैलास, चंपापुर, पावापुर गिरनारिसे मोक्ष प्राप्त की है। वे क्षेत्र धन्य एवं परम पूज्य हैं जिनमें कि आपका चरणरज लगा हुआ है। इसीप्रकार भगवानके कालोंका वर्णन करना कालस्तवन कहलाता है, जैसे—हे भगवन् आपने अमुक समयमें गर्भावतरण किया था, अमुक मितिमें आपका जन्मकल्याणक हुआ था, अमुक शुभ मितीमें आपका दीक्षोत्सव हुआ है इत्यादिरूपसे समयस्तवन करना कालस्तवन है। जिसमें भगवानके असाधारण गुणोंका वर्णन किया जाय वह भवस्तवन कहलाता है, जैसे—हे भगवन्! आप केवलज्ञानज्योतिद्वारा इस चराचर समस्त विश्वको प्रत्यक्ष युगपत् देखते व जानते हैं। आपमें अनंत वीर्य, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत सुख आदि अनंत गुण प्रगट हो चुके हैं। आपके समान किसी अन्य व्यक्तिमें वैसे क्षायिक गुण नहीं पाये जाते हैं। प्रतिक्षण आपमें अनंत गुणोंका उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य होता रहता है। इसप्रकार स्तवके भेद कहे गये।

अब वंदनाका स्वरूप कहा जाता है—परमपूज्य श्रीअर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु इन पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करना, उनका आशीर्वाद और जयवादके साथ नामोच्चारण करना, जैसे हे भगवन् आप धन्य हैं, आपकी जय हो, इत्यादिरूपसे उनकी वंदना करना सो वंदनाकर्म है। यह वंदना—विनय कर्म पांच हेतुओंसे किया जाता है—एक तो समस्त लोक विनयादि क्रिया करता

है इसलिए उसे करना, २—इंद्रिय सुखोंकी अभिलाषासे करना, ३—अपने किसी प्रयोजनकी वांछासे करना, ४—किसी विशेष भयके उपस्थित होनेपर करना तथा ५—मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे करना, इसप्रकार पांच उद्देश्योंसे विनय—बंदना की जाती है। उनमें अंतिम मोक्षप्राप्तिकी भावनासे जो विनय की जाती है वह कर्मनिर्जराका कारण होती है बाकी शुभबंधकी कारणरूप हैं। अंतिम विनय सभी पुरुषोंको अवश्य करना चाहिये। बंदनाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—मुनिमहाराजके आनेपर खडे हो जाना, हाथ जोडकर उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उनकी पूजा करना, पाद प्रक्षालन करना, इत्यादिरूपसे अनेक प्रकार बंदनाके भेद हैं। पांचों परमेष्ठियोंमेंसे किन्हीं एक परमेष्ठी भगवानके गुणोंकी पूजा करना, उनका नामोच्चारण कर पूजा करना, उनके गर्भादि कल्याणोंकी पूजा करना, उनके उत्पत्ति आदि स्थानोंकी पूजा करना, ये सब भी बंदनाके प्रकार हैं। इस बंदनाके भी छह भेद हैं—नामबंदना, स्थापनाबंदना, द्रव्यबंदना, क्षेत्रबंदना, कालबंदना, भावबंदना। श्रीअर्हंत आदि पांच परमेष्ठियोंका नामोच्चारण करना नामबंदना है। पूजा करना, स्तुति करना स्थापनाबंदना है। उनके शरीरकी स्तुति करना द्रव्यबंदना है। कल्याणभूमिकी स्तुति करना क्षेत्रबंदना है। कल्याणकालका स्तवन करना कालबंदना है। उनके गुणोंका स्तवन करना भावबंदना है।

मुनिमहाराज मान छोडकर संसारसे भयभीत होकर आलस्यरहित प्रतिदिन, आचार्य, उपाध्याय, गणरक्षक, मर्यादारक्षक रत्नत्रयसे वृद्ध साधुओंकी बंदना करते हैं। जिस समय आचार्य दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु किसी देशांतरमें चले जांय उस समय मुनिगण, मर्यादा रक्षक मुनियोंकी बंदना करते हैं। यदि वे भी देशांतरमें गये हों तो दूसरे जो यति हैं जो कि दीक्षासे बडे हैं उन्हें नमस्कारादि करते हैं।

यह सब बंदना विधि जैसी कुछ शास्त्रोंमें बतलायी गई है उसीके अनुसार करते हैं। इतना विशेष है कि संयमीपुरुषों द्वारा विशेष संयमी बंदनाके पात्र हैं, जो असंयमी हैं वे संयमियोंके बंदनाके पात्र कदापि नहीं हैं। जो संयमी मुनि हैं वे श्रावक-संयमीको भी बंदना नहीं कर सकते, क्योंकि श्रावक एकदेश चारित्रधारी होता है मुनि सर्वदेश चारित्रधारी होते हैं इसलिये मुनि श्रावक द्वारा बंदनीय हैं, श्रावक उनके द्वारा कदापि बंदनीय नहीं है। तथा जो व्रती श्रावक है वह भी असंयमी-अव्रती माता पिताको, असंयमी गुरुको, असंयमी राजाको, कुलिंगीको, कुदेवोंको बंदना नहीं करेगा, इसलिये जो व्रत विधा- नमें उच्चपदस्थाधिकारी हैं वे ही निम्न पदस्थवालोंसे बंदनीय हैं। यहांपर यह शंका हो सकती है कि गृहस्थ माता पिता एवं लौकिक शिक्षा देनेवाले गुरुओंको प्रणामादि करें या नहीं? इसका उत्तर यह है, कि प्रणामादि करना लोकव्यवहार है। लोकव्यवहारकी दृष्टिसे जो विनय किया जाता है वह धार्मिक बुद्धिसे नहीं समझा जाता, धार्मिक बुद्धिसे जो विनय होता है भक्ति भावपूर्वक होता है, ऐसा विनय सम्यग्दृष्टि संयमीपुरुषोंके लिये ही किया जा सकता है। उनमें भी जघन्य संयमी पुरुषों द्वारा उन्न- तोन्नत चारित्रधारियोंका किया जाता है। संयमीपुरुषों द्वारा असंयमियोंका विनय धर्मविरुद्ध है। इस लिये धार्मिक दृष्टिसे संयमी श्रावक असंयमी माता पिता गुरु आदिको भी नमस्कारादि नहीं कर सकता। जो संयमी संयमियोंके लिये बंदना करते हैं वे भी समयके अनुसार करते हैं जिस समय बंदनीय पुरुष अच्छी तरह बैठे होते हैं उस समयमें बंदना करता हूं ऐसा शब्द कहकर उनकी बंदनाकी भावेच्छा जान- कर ही बंदना करते हैं। जिस समय बंदनीय संयमी किसी कार्यमें आकुलित हों, आहार करते हों, मल- मूत्र बाधा दूर करते हों, सोये हुए हों, किसी दूसरी ओर मुख किये बैठे हों, तब वैसी स्थितिमें बंदना

नहीं करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय वंदनीय संयमी वंदनाके पात्र नहीं रहते हैं, नहीं, वे वंदनीय पात्र तो सदैव रहते हैं, परंतु वंदनाका प्रयोजन इतना है कि उन्हें विशिष्टपुरुष समझकर महत्व देना एवं उनकी आत्मामें अपनी ओरसे धर्मबुद्धि एवं नम्र सरल परिणाम प्रगट हों वैसे भावोंको प्रदर्शन करना, यह बात विना उनके उपयुक्त चित्त हुए नहीं बन सकती, इसलिए जिस समय उनका अपनी ओर चित्त उपयुक्त हो, शांतचित्त होकर आसनपर अच्छी तरह बैठे हों उसी समय वंदना करना चाहिये, वही वंदनाका उपयोगी समय है। मुनियों द्वारा आचार्य उपाध्याय आदि यति प्रातःकाल देववंदनाके पश्चात् वंदना करने योग्य हैं, मध्यान्हमें भी सामायिकादि विधिके पश्चात् वंदनीय हैं। सायंकाल भी प्रतिक्रमादि विधिके पश्चात् वंदनीय हैं। तथा जिस समय कहींसे आचार्य आते हों, कहीं जाते हों, तब भी उन्हें वंदना करना चाहिये इसप्रकार णमो अरिहंताणं इस वाक्यसे सामायिक दंडक करना चाहिये। थोसामि इस वाक्यसे चतुर्विंशतिस्तव—स्तव दंडक करना चाहिये। जयति भगवान् इस वाक्यसे अर्हत्सिद्धाचार्यादि वंदना करना चाहिये।

अब प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा जाता है—अपने किए हुए पापोंकी आलोचना करना, निंदा करना अर्थात् उन पापोंको आलोचनादि पश्चात्तापद्वारा नष्ट करना प्रतिक्रमण कहलाता है। जो पाप मनसे वचनसे कायसे स्वयं होता है, दूसरेसे कराया जाता है, किए गए पापोंकी सराहना की जाती है इन समस्त पापोंकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमणविधि करनेवाला निंदा करता है, मुझसे कौन कौन अपराध किस किस प्रकार बन पडे हैं वे अपराध मेरे अब नष्ट हो जांय, मैं उन अपराधोंको कर तो चुका हूं परंतु अब मेरा आत्मा उनसे बहुत ही भयभीत हो रहा है, हे भगवन्! मेरे समस्त दोष नष्ट हो जांय।

इसप्रकार भावोंको सरल एवं विशुद्ध बनाकर जो दोषोंका उल्लेख कर उन्हें दूर करनेके लिये आलोचना एवं दोषनिंदा पश्चात्ताप आदि किया जाता है उससे कर्मोंकी निर्जरा एवं दोषोंकी निवृत्ति होती है। कारण आत्माको विशुद्ध बनानेसे ही पापोंकी निवृत्ति होती है, प्रतिक्रमणमें पापोंसे भीति होती है विना आत्मशुद्धिके पापभीति एवं उनकी निंदा नहीं की जाती इसलिए उसमें-आत्मशुद्धिसे पापनिवृत्ति होती है। प्रतिक्रमण सात समयोंमें किया जाता है, एक तो दिनभरका प्रतिक्रमण अर्थात् दिनभरके पापोंकी आलोचना की जाती है। एक रात्रिका प्रतिक्रमण-रात्रिभरके पापोंकी आलोचना की जाती है। इसी प्रकार पाक्षिक पंद्रह दिनका, चातुर्मासिक-चार महीनेका, सांवत्सरिक-एक वर्षका अर्थात् एक दिन, एक रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, इनमें होनेवाले पापोंकी आलोचना करना, ऐर्यापथिक-ईर्यापथद्वारा और उत्तमार्थ अर्थात् समस्त दोषोंकी आलोचना करते हुए शरीर छोडनेमें समर्थ होकर चारों प्रकारके आहार का सर्वथा सदाके लिये त्याग कर देना। इन सात भेदोंसे प्रतिक्रमणमें उत्तरोत्तर विशेषता है। बाकी और भी जो भेद हैं दीक्षासे लेकर सन्यास मरणके ग्रहणकालपर्यंत जितने भी अतीचार दोष हैं वे सब इन्हीं ऊपर कहे हुए भेदोंमें अंतर्भूत हो जाते हैं।

प्रतिक्रमणके भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावके भेदसे छह भेद हैं। पापयुक्त नाम, रागोत्पादक स्थापना, सावद्य-हिंसादि युक्त भोजनादि वस्तुका उपयोग करनारूप द्रव्य इनका प्रतिक्रमण अर्थात् दोष निवृत्ति करना, क्षेत्र और कालसंबंधी होनेवाले दोषोंकी निवृत्ति करना, राग द्वेषरूप भावोंकी निवृत्ति करना-भावप्रतिक्रमण इसप्रकार छह भेद हैं।

इस प्रतिक्रमण विधिमें जो पापोंकी आलोचना करनेमें तत्पर साधु हैं वह तो प्रतिक्रमणक अर्थात्

प्रतिक्रमण करनेवाला कहलाता है. जिन दोषोंका आलोचना की जाती है वे प्रतिक्रम्य अर्थात् प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु कहलाती है । तथा जो पापोंकी निवृत्ति करना है वह प्रतिक्रमण अर्थात् प्रतिक्रिया कहलाती है । प्रतिक्रमण करनेवाले साधुको या तो सावधान—उपयुक्त चित्तमे स्वयं अपने किये हुए पापोंकी निंदा गर्हा आलोचनाका पाठ करना चाहिये अथवा आचार्यादिके द्वारा सावधान चित्तमे सुनना चाहिये। हां ! मैंने यह दुष्ट अपराध किया है इसप्रकार चित्तमें भावना करना निंदा कहलाती है। उन्हीं दोषोंकी गुरुकी साक्षीसे आलोचना करना गर्हा कहलाती है। तथा गुरुसे ही निवेदन करना आलोचना कहलाती है । इसप्रकार पापोंकी निंदा गर्हा आलोचना करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। जिसप्रकार साधु-मुनि दोषोंकी आलोचना करके कर्मोंकी निर्जरा एवं आत्मीय शुद्धि करते हैं उसी प्रकार गृहस्थको भी अंशांशरूपसे करना चाहिये।

प्रत्याख्यानका स्वरूप इसप्रकार है—जो रत्नत्रयमें बाधा लानेवाले नामस्थापनादिक हैं उनका मन वचन कायसे रोकना, अर्थात् नामादिकमे होनेवाले पापोंको रोकना इसीका नाम प्रत्याख्यान है। जो पापकारणरूप नाम है उसे स्वयं नहीं करना, दूसरेसे नहीं कराना, और न करते हुएका अनुमोदन करना, यह नाम प्रत्याख्यान है। पापबंधके कारणभूत एवं मिथ्यात्वप्रवर्तक जो मिथ्या देव हैं उनकी स्वयं स्थापना नहीं करना, दूसरेसे नहीं कराना और करते हुएकी अनुमोदना नहीं करना, यह स्थापना प्रत्याख्यान है। जो पापयुक्त द्रव्य है अथवा जो निर्दोष होनेपर भी तपमें बाधा लानेवाला द्रव्य है, उसका स्वयं नहीं भोजन करना, दूसरेसे नहीं कराना और करते हुएकी अनुमोदना भी नहीं करना, यह द्रव्य प्रत्याख्यान है। जिस क्षेत्रमें असंयमभाव उत्पन्न होता हो अथवा जिसमें संयमकी हानि होती हो उसका

स्वयं छोड देना, दूसरेसे छुडाना, छोडते हुएकी प्रशंसा करना क्षेत्रप्रत्याख्यान है । इसीप्रकार जिस कालमें असंयमभाव होता हो उसे छोडना, छुडाना, छोडते हुएकी प्रशंसा करना कालप्रत्याख्यान है। तथा मन वचन काय एवं कृत कारित अनुमोदनासे मिथ्यात्वादि दुर्भावोंको छोडना भावप्रत्याख्यान है।

जो साधु अपराधोंको छोड देते हैं उनकी गंध भी नहीं सहन करते हैं, तथा शरीरसे भिन्न अपने आत्मतत्त्वको स्वीकार करते हैं, जो नाम स्थापना आदि शुद्धोपयोगमें कारण पडते हैं उन्हींको सेवन करते हैं वेही मोक्षमार्गके आराधक एवं प्रत्याख्यानकर्ममें सावधान हैं। तथा जो सचित्त, अचित्त, पाप-युक्त, निर्दोष परिग्रहोंका परित्याग करते हैं, चारोंप्रकारके आहारका परित्याग करते हैं, जिनेंद्रदेवकी आज्ञा और आचार्योंकी आज्ञाके अनुसार ही सदा प्रत्याख्यानकर्म करते हैं वे प्रत्याख्यानकर्मकुशल साधु कहे जाते हैं । तथा जो दश प्रकार अनागत आदि प्रत्याख्यानोंको करते हैं वे प्रशंसनीय साधु हैं। अनागत आदि दश प्रकार प्रत्याख्यान इसप्रकार है—अपनी सामर्थ्यको विचार कर जो चतुर्दशी आदि पर्वोंमें करने योग्य उपवास हैं उसे त्रयोदशी आदि तिथियोंमें भी करते हैं, यह अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है। अर्थात् पर्वके नहीं आने पर भी चतुर्विध आहारका परित्याग कर दिया जाता है। चतुर्दशी आदि पर्वोंमें उपवास कर लिया है फिर चतुर्दशी आदि पर्वोंके निकलने पर पूर्णिमा आदि तिथियोंमें भी जो उपवास करते हैं यह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है। अर्थात् पर्वके अतिक्रांत—बीतने पर भी जो चार प्रकारके आहारका परित्याग कर देना वह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

प्रतिदिन यह संकल्प करना कि यदि स्वाध्यायकी समाप्ति करनेपर सामर्थ्य होगी तो उपवास ही कर डालूंगा, यदि सामर्थ्य नहीं होगी तो नहीं करूंगा, इसप्रकारका संकल्प करना कोटीयुत प्रत्याख्यान

है। सामर्थ्यका निरीक्षण करके जो पंद्रह दिन एक महीना आदिका उपवास धारण कर लिया जाता है वह अखंडित प्रत्याख्यान कहलाता है। सर्वतोभद्र कनकावली आदि विशेष व्रतविधानोंमें उपवासका धारण करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है। जो स्वेच्छापूर्वक कभी भी उपवास धारण किया जाता है वह निराकार प्रत्याख्यान कहा जाता है। कभी छह दिनका उपवास धारण करना, कभी आठ दिनका, कभी दश दिनका इसप्रकार कालका परिमाण करके जो उपवास धारण किया जाता है वह परिमाण प्रत्याख्यान कहा जाता है। जो यावज्जीव चतुर्विध आहारका परित्याग किया जाता है वह इतरत्-प्रत्याख्यान कहा जाता है। मार्गमें गमन करते समय, नदी जंगल आदिमें, दीक्षा लेते हुए उपवास धारणकर लेना वर्तनीयात प्रत्याख्यान कहा जाता है। किसी उपसर्गके उपस्थित होनेपर अथवा अंतराय-विशेषके उपस्थित होनेपर जो उपवास धारण कर लिया जाता है वह सहेतुक प्रत्याख्यान कहलाता है। इसप्रकार दश भेदोंसे प्रत्याख्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग—व्युत्सर्ग पर्यायवाची शब्द हैं। जिसमें शरीरसे ममत्व छोडकर किसी आसन विशेषसे ध्यान किया जाता है वह कायोत्सर्ग कर्म कहा जाता है। मोक्षकी चाहना रखनेवाले, निद्राको जीतनेवाले, इंद्रियोंको वशमें रखनेवाले एवं परिणामोंको विशुद्ध रखनेवाले, सूत्राशयोंको जाननेवाले, सामर्थ्य विशेष रखनेवाले, आत्माको कषायोंसे रहित शुद्ध रखनेवाले, बलशाली अर्थात् आहारादि बाह्य बलवर्धक सामग्रीविशिष्ट, दोनो भुजाओंको लम्बायमान रखनेवाले, तथा चार अंगुलके अंतरसे दोनों पैरोंको रखनेवाले मुनि जिससमय निश्चल बनकर ध्यानमें स्थिर होते हैं उस समय कायोत्सर्ग ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है। वह कायोत्सर्ग भी नाम स्थापना आदि भेदोंसे छहप्रकार है। पापयुक्त नामसे होनेवाले पापकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग होता है वह नाम

कायोत्सर्ग है, इसीप्रकार स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावजनित, पापोंकी निवृत्ति एवं आत्मविशुद्धि केलिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नामादि कायोत्सर्ग कहा जाता है। कायोत्सर्गमें हस्त पाद नेत्र ओष्ठ भ्रकुटि आदि सर्वांग निश्चल बना लिया जाता है, विना सर्वांगके निश्चल किये कायोत्सर्ग ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। कायोत्सर्ग पापोंकी निवृत्ति, तपकी वृद्धि, कर्मोंकी निर्जरा आदि बातोंकी सिद्धिके लिये किया जाता है। कायोत्सर्गका जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है। एक आवलिसे ऊपर और मुहूर्तसे एक समय कम समयका नाम अंतर्मुहूर्त है। आवलिमें भी असंख्यात समय होते हैं और अंतर्मुहूर्तमें भी असंख्यात समय होते हैं, कायोत्सर्गका उत्कृष्टकाल एक वर्ष है। यद्यपि ध्यानका समय अंतर्मुहूर्त ही उत्कृष्ट कहा गया है परंतु यहांपर शरीरसे ममत्व छोडकर एकआसन विशेषसे ध्यान लगानेका नाम कायोत्सर्ग है उसमें अनेक ध्यान हो जाते हैं। एक ध्येयके अवलंबनसे एक परिणामकी स्थिरता अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रह सकती, इसलिये उत्कृष्ट कायोत्सर्गमें अनेक ध्येय एवं परिणामशृंखलायें बदल जाती हैं। अंतर्मुहूर्तसे ऊपर और एक वर्षके भीतर जितने समय हैं, दिन, रात, पक्ष, मासादि, वे उसके मध्यम भेदमें परिगृहीत किये जाते हैं।

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं' इन दो पदोंका उच्चारण करनेमें एक उच्छ्वास होता है। 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं' इन दो पदोंके चिंतवनमें एक उच्छ्वास, 'णमो लोए, सव्व साहूणं' इन पदोंके उच्चारणमें एक उच्छ्वास, इसप्रकार नौ बार पूर्ण नमस्कारमंत्रका उच्चारण अथवा अंतर्जल्प करनेसे सत्तावीस उच्छ्वास हो जाते हैं। इतने ही समयमें आत्मा कायोत्सर्ग करनेसे संसारबंधनको नष्ट करनेमें समर्थ हो जाता है। इन उच्छ्वासोंकी विधि, स्वाध्याय, अर्हद्भक्ति आदि सर्वत्र परिगणनीय है। कायो-

त्सर्गमें स्थित होनेपर यदि कोई उपसर्ग देव मनुष्य तिर्यंचोंद्वारा किया जाय तो उसे सहन करना चाहिये। वैसी अवस्थामें कर्म आत्मासे हटते चले जाते हैं। अंतमें समस्त कर्मोंसे निर्मुक्त होकर आत्मा केवलज्ञानी बन जाता है। इसप्रकार इन षट्कर्मोंको पूर्णतासे मुनिगण करते हैं, इसलिए उन्हींकी प्रधानतासे इन का उल्लेख किया गया है।

गुप्तित्रय।

सम्यग्दंडो वपुषः सम्यग्दंडस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दंडो गुप्तित्रितयं समनुगम्यं ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थ—(वपुषः सम्यग्दंडः) शरीरको भले प्रकार वशमें रखना, (तथा वचनस्य च सम्यग्दंडः) उसीप्रकार वचनको भी पूर्णतासे वशमें रखना, (मनसः सम्यग्दंडः) मनको भी अच्छी तरहसे वशमें रखना, (गुप्तित्रितयं) ये तीन गुप्तियां (समनुगम्यं) अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—गुप्ति नाम गोपनका है, अर्थात् छिपानेका है, मन वचन काय इन तीनोंकी प्रवृत्तिको छिपाना चाहिये। इनका पूर्ण छिपाना–संयमित रखना तभी हो सकता है जब कि इन तीनोंकी प्रवृत्ति सर्वथा रोक दी जाय, इसलिए जहांपर कायको निश्चल बना दिया जाता है, वचनसे कुछ भी उच्चारण न करके मौनावलंबन किया जाता है। मनको ध्यानस्थ लक्ष्यसे भिन्न कहींपर नहीं जाने दिया जाता है वहींपर गुप्तियोंका पालन होता है। जहां कुछ अंशोंमें भी तीनों योगोंकी प्रवृत्ति रहती है वहां गुप्तिका पालन नहीं कहा जाता। इसलिए ध्येयमें निमग्न होनेकालिये पूर्ण साधन गुप्तिपालन है। मुनिमहाराज इन्हें पालते हुए ही ध्यानासिद्धि करते हैं।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यग्गमनागमनं) अच्छी तरह पृथ्वीको एवं जीवोंके संचारको देखकर कहीं जाना और आना (सम्यग्भाषा) हित मित सत्य बोलना (तथा सम्यक् एषणा) और भले प्रकार निरंतराय भोजन ग्रहण करना (सम्यक्ग्रहनिक्षेपौ) उत्तम रीतिसे—जीवोंके संचारको देखभालकर वस्तुओंका उठाना और धरना (सम्यक् व्युत्सर्गः) जीवबाधारहित—निर्जीव पृथ्वीमें मलमूत्र क्षेपण करना (इति समितिः) इसप्रकार इन पांच समितियोंका पालन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग ये पांच समितियां हैं। इनके विना पाले मुनिलिंग दूषित होता है, इनका पालन करना मुनियोंके लिये अत्यावश्यक है । जहांतक दृष्टिकी पूर्ण निरीक्षणता हो सकती है वहींतक पृथ्वीको सावधानीसे देखकर आगे चलना चाहिये, ऐसा पूर्ण निरीक्षण चार हाथ हो सकता है इसलिए चार हाथ पृथ्वीको देखकर चलना ईर्यापथ गमन कहलाता है। हित मित साधु बोलना भाषा समिति कहलाती है, निरंतराय शुद्ध भोजन ग्रहण करना एषणा समिति कही जाती है । देखकर शास्त्र पीछी कमंडलु उठाना और देखकर ही उन्हें रखना आदाननिक्षेपण समिति कही जाती है तथा देखकर निर्जीव स्थानमें मल मूत्र क्षेपण करना व्युत्सर्ग समिति कही जाती है । इन पांच समितियोंको मुनिमहाराज तो सर्वथा पालनमें समर्थ हैं परंतु श्रावकको भी उनका एकदेश पालन करना चाहिये । समितियोंके पालन करनेसे बहुत कुछ जीववधके पापोंसे निवृत्ति हो सकती है ।

धर्मः सेव्यः क्षांतिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यं ।
आकिंचन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थ—(क्षांतिः) क्षमा (मृदुत्वं) मार्दवभाव-कोमल परिणाम रखना (ऋजुता च) मायाचारका अभाव-सरल परिणाम (शौचं) लोभकषायका त्याग-पवित्रता (अथ सत्यं) इसके अनंतर सत्य वचन बोलना (आकिंचन्यं) परिग्रहरहित वृत्ति रखना (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य धारण करना (त्यागश्च) दान देना (तपश्च) तप धारण करना (संयमश्च) संयम धारण करना (इति धर्मः सेव्यः) इसप्रकार धर्म सेवन करने योग्य है ।

विशेषार्थ—धर्म दशप्रकार है, क्रोधकषायका छोडना एवं शांत परिणाम रखना उत्तम क्षमाधर्म है, किसी सांसारिक वासनासे नहीं किंतु धर्मबुद्धिसे क्रोधको परित्याग करना चाहिये इसलिये उत्तम विशेषण दिया गया है । मान कषायका त्याग करना इसीका नाम मृदुता है । विना मानकषायके छोडे परिणामोंमें कोमलता नहीं आ सकती इसलिये दान, पूजा, कुल, जाति, बल, विभूति, चारित्र, शरीर इन आठ प्रकारके घमंडोंको छोडकर आत्माके परिणामोंको सरल बनाना चाहिये । इसीका नाम मार्दव धर्म है । मायाकषायका त्याग करना आर्जव धर्म है । जबतक आत्मामें मायाचारका सद्भाव रहता है तबतक वह कभी सरल नहीं बनता किंतु हरप्रकारकी कुटिलता धारण करता है । उससे निरंतर पापसंचय करता है, इसलिये मायाचारको छोडकर सरल वृत्तिसे रहना इसीका नाम आर्जव है । लोभकषायका त्याग करना शौचधर्म है । पवित्रताका नाम ही शुचिता है । वह एक अभ्यंतरकी होती है और एक वाह्यमें । अभ्यंतर पवित्रता निर्लोभ परिणामोंसे आती है । जबतक आत्मा लुब्ध रहता है, तबतक वह मलिन रहता

है, लोभके परित्याग किये विना परिणामोंमें उज्वलता नहीं आती है । इसलिये लोभकषायको छोडना अभ्यंतर पवित्रता है और स्नानादि शुद्धिसे शरीरको पवित्र बनाना बाह्यपवित्रता है। जहां दोनोंप्रकारकी पवित्रताओंका पालन होता है वहीं शौचधर्म पलता है। शंका हो सकती है कि मुनिमहाराज तो स्नान करते नहीं हैं वे फिर बाह्यपवित्रता कैसे प्राप्त करते हैं? इसका उत्तर यह है—सफाई और शुद्धिमें बहुत बडा अंतर है। मुनियोंका शरीर धूलि आदिसे धूसरित भले ही रहता है परंतु वह अशुद्ध नहीं रहता, अशुद्धि की संभावना किन्हीं अस्पृश्य—नहीं छूने योग्य पदार्थोंके स्पर्शसे होती है, ऐसी संभावना और योग्यता व्यवहार कार्यमें फंसे हुए गृहस्थको ही हो सकती है । जिन्होंने सभीप्रकारकी गार्हस्थ्य वृत्तिका त्याग कर निर्जन जंगलमें निवास किया है और वस्त्रादि पदार्थोंका संबंध छोड दिया है, उन मुनियोंको वैसी अशुद्धताकी योग्यता नहीं है। यदि किसी कारणवश गमनागमनसे किसी अशुद्ध पदार्थका उनसे संपर्क हो भी जाता है तो वे अपने कमंडलुके जलसे मंत्रधारा द्वारा अपने शरीरको स्वल्प विंदुओंसे पवित्र कर लेते हैं। इसलिये अशुद्धिके संसर्गसे वेष्टित यह गृहस्थ ही दिन रात अशुद्ध रह सकता है, उसीके लिये स्नानादि शुद्धियोंकी आवश्यकता है, मुनियोंको नहीं । फिर भी आवश्यकता होनेपर मुनिमहाराज भी बाह्यशुद्धि करते हैं, इसप्रकार बाह्यशुद्धि और अंतरंगमें लोभकषायका त्याग करनेसे अभ्यंतर शुद्धि रखनेसे शौचधर्मका पालन किया जाता है । सत्यधर्म तो प्रसिद्ध ही है, उसका विशेष व्याख्यान करना अनावश्यक है । यथार्थ वस्तुका अप्रमाद परिणामोंसे प्रतिपादन करना सत्य है । उसका पालन हित मित एवं साधु वचनोंसे होता है । संसारमें सभी पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं, आत्माका कुछ भी नहीं है, परपदार्थमात्र आत्मासे पर है इसलिये परिग्रहोंका छोडना निष्परिग्रह वृत्ति धारण करना आकिं-

चन्य धर्म कहा जाता है। इस धर्मके पालनमें निर्ममत्व परिणामोंके सम्हालकी पूर्ण आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य धर्मका माहात्म्य अपरंपार है। उत्तम ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं कि जहांपर आत्मा बाह्य पदार्थोंमें उपयोग हटाकर केवल आत्मामें चरण करता है—लवलीन होता है। उसकी सिद्धि तभी हो सकती है जब कि आत्मा हरप्रकारसे कामवासनाको रोकनेमें समर्थ होता है। कामवासनाको रोकनेके लिये स्त्री-मात्रका त्याग एवं मन वचन कायसे विकारमात्रका त्याग होना परम आवश्यक है। जो काष्ठ मिट्टी आदिके चित्रोंसे विकार उत्पन्न हो सकता है वह भी ब्रह्मचर्यका विघातक है इसलिये जहांपर पूर्ण निर्विकार वृत्ति धारण की जाती है, वहीं ब्रह्मचर्य धर्मका परिपालन होता है। ऐसा सर्वदेश पूर्ण ब्रह्मचर्यधर्म मुनिगण पालन करते हैं। श्रावक भी इसे पाल सकता है। जो परस्त्री आदि अन्य समस्त काम विकारोंके त्यागी हैं, केवल अपनी विवाहिता स्त्रीमात्रमें संतोषित वृत्ति रखते हैं वे भी एकदेश ब्रह्मचर्य व्रतके पालक हैं। ब्रह्मचर्य धर्म ही एक ऐसा धर्म है कि इसके पालन किये विना किसीप्रकार कोई व्रतसंयम नहीं पाला जा सकता इसलिये इस धर्मका पालन करना सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रथम आवश्यक है। दान देना त्यागधर्म है। मुनियोंके पास दातव्य द्रव्य नहीं होनेसे उनके दान कैसे सिद्ध हो सकता है? इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि बाह्य दातव्य पदार्थ भले ही उनके पास नहीं होते तो भी अंतरंगमें लोभ-परिणामोंका परित्याग उनके हो चुका है, वे सर्वस्व ही परोपकारार्थ लगा चुके हैं एवं जो कुछ ज्ञानचारित्र धन—आत्मीय धन उनके पास है उसे भी वे परोपकारार्थ लगानेमें सदा तयार रहते हैं। इसलिये सबसे उत्तम त्यागी हो सकते हैं तो तपोधन मुनि ही हो सकते हैं। श्रीराजवार्तिककारने त्यागका अर्थ परिग्रहत्याग किया है और आकिंचन्यका अर्थ ममकार बुद्धिका त्याग बतलाया है। तपके बारह भेद हैं

सिद्धि

५.१६

जिनका निरूपण पहिले किया जा चुका है, जिसप्रकार अग्नि संचित ईंधनको जला देती है उसीप्रकार तप भी संचित पुण्य पाप रूप कर्मको जलाकर आत्माको शुद्ध बनाता है अथवा देह और इंद्रियको तपानेमें सामर्थ जो है उसे तप कहते हैं । संयमके अनेक भेद हैं, व्रतोंका पालन करना समितियोंका धारण करना, कषायोंका निग्रह करना, मन वचन कायको वशमें रखना, इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना, इत्यादि मार्गोंका अनुसरण करनेसे संयम पाला जाता है । मुख्यतासे संयमकी प्रवृत्ति वहीं होती है जहां प्राणिरक्षण, और इंद्रियविजय किया जाता है, संयममें इन्हीं दो बातोंकी मुख्यता रहती है । इसप्रकार दश भेद धर्मके हैं, इन्हें अवश्य धारण करना चाहिये ।

द्वादश अनुप्रेक्षा ।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ—(अध्रुव) संसारमें कोई वस्तु स्थिररूपसे सदा ठहरनेवाली नहीं है (अशरणं) संसारमें कोई किसीका शरणभूत नहीं है, (एकत्वं) जीव अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरता है सब कुछ सुख दुःख अकेला ही भोगता है, (अन्यता) जीव समस्त वस्तुओंसे भिन्न है, औरोंकी तो बात क्या शरीरमात्रसे भी भिन्न है, (अशौचं) यह शरीर महा अपवित्र है, इसमें पवित्रताका लेशमात्र भी नहीं है । (आस्रवः) संसारी जीवके प्रतिक्षण अनंतानंत कर्मोंका आगमन होता रहता है, कोई क्षण ऐसा नहीं है जिस समय इसके अनंतानंत वर्गणाओंका पिंडस्वरूप—समयप्रबद्ध नहीं आता रहता है । इसी कारण यह आत्मा नाना दुःखोंको भोगता रहता है । (जन्म) यह जीव संसारमें कर्मोंके उदयसे चारों गतियोंमें जन्म लेता रहता है । द्रव्य क्षेत्र कालादिरूपसे नरक-

गतिके अपार दुःखोंको यह जीवात्मा तेतीस सागर ही नहीं किंतु अनेक तेतीस सागरों तक भोगता रहता है, नरकगति ही एक ऐसी गति है जहांसे निकलनेकी अभिलाषा इस जीवके निरंतर लगी रहती है, अन्य गतियोंमें यह बात नहीं है, अन्य जिन गतियोंमें जीव जाता है दुःखी रहनेपर भी वहीं रहनेकी इच्छा रखता है । इसी-प्रकार तिर्यञ्च मनुष्य एवं देवगतियोंमें भ्रमण करता हुआ कहीं भी शांतिलाभ नहीं कर पाता है। यही इसे संसार लगा हुआ है। (लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः) लोक-अनुप्रेक्षा, धर्म-अनुप्रेक्षा, रत्नत्रय-अनुप्रेक्षा, संवर अनुप्रेक्षा और निर्जरा-अनुप्रेक्षा ये बारह अनुप्रक्षायें (सततं अनुप्रेक्ष्याः) निरंतर चिंतवन करने योग्य हैं।

विशेषार्थ—इन बारह भावनाओंके भानेसे बुद्धि संसारसे एवं शरीर कुटुम्ब आदि सभी बाह्य पदा-र्थोंसे उदास होकर रत्नत्रय एवं धर्मकी ओर झुक जाती है, वहीं दृढ हो जाती है, आत्मामें जब यह विवेक जागृत होता है कि संसारमें कोई पदार्थ सदा स्थिर नहीं रहता सभी नयेसे पुराने हो जाते हैं और जो पुराने हैं वे उस पर्यायको छोडकर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं, सभी अनित्य हैं, क्षणविनश्वर हैं तब आत्मा समस्त बाह्य पदार्थोंसे ममत्वभाव दूर करनेमें समर्थ हो जाता है, इसीप्रकार जब यह समझता है कि संसारमें मेरा कोई भी शरण नहीं है, मरनेसे कोई देव, इंद्र या शक्तिविशेष मुझे बचानेमें समर्थ नहीं है, इंद्रादिक अपनी भी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे क्या बचावेंगे, तब आत्मा निर्भीक बनकर मरनेसे नहीं डरता है एवं आत्माको ही अजर अमर समझने लगता है। यद्यपि इसप्रकारकी समझ सम्यग्दृष्टि-मात्रकी हो जाती है फिर भावनाओंके भानेसे यही प्रयोजन है कि उसप्रकारकी दृढता एवं संसारसे उदा-सीन होनेकी प्रबलता हो उठती है, साथ ही वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान सदैव जागृत बना रहता है। एकत्वभावनामें आत्मा किसी दूसरेको साथी नहीं समझता है, अपने आत्माको ही कर्मोंके फलोंका

मोक्षा समझता है। अन्यत्वभावनामें वह अपने आत्मासे समस्त पदार्थोंको भिन्न समझता है, यहांतक कि शरीरको भी अपनेसे जुदा समझता है फिर कुटुम्ब संपत्ति आदिकी तो बात ही क्या है ? अशौच भावनामें शरीरसे विरक्ति होती है, शरीरको वह मलमूत्रका घर समझता है, घृणास्थान समझता है उससे सरागभाव छोडनेमें समर्थ होता है। आस्रवभावनामें कर्मोंका स्वरूप एवं उसके प्रतिक्षण आनेका विचार कर उसे रोकनेका यत्न करता है। संसारभावनामें संसारसे उदासीन हो जाता है। चतुर्गतिके दुःखोंसे घबडाकर एवं उन्हें त्याज्य समझकर मोक्षप्राप्तिके उपायमें संलग्न हो जाता है। लोक भावनामें लोकका स्वरूप चिंतवन करता है, लोक चौदह राजू ऊंचा है, सात राजू मोटा, नीचे सात राजू चौडा, मध्यमें क्रमसे घटते घटते एक राजू चौडा ऊपर बढते बढते स्वर्गोंके बीचमें पांच राजू चौडा और सिद्धशिलाके ऊपर लोकांतमें एक राजू चौडा है। वह लोक घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय इन तीन वलयोंसे वेष्टित है, प्रत्येक वलय बीस बीस हजार योजनतक मोटे हैं, परंतु सर्वत्र एकसी मोटाई नहीं है कहीं कहीं कमती कमती मोटाई भी है। अर्थात् समस्त लोकका आधार घनोदधिवलय है, यह घनोदधि जलभागमिश्रित बहुत स्थूल वायु है, जलभाग भी द्रवीभूत नहीं है किंतु घनात्मक है। घनोदधि, घनवात (केवल स्थूल वायुसमूह) पर स्थिर है, घनवात, तनुवात (सूक्ष्म वायुसमूह) पर स्थिर है, सूक्ष्मवायु आकाशप्रदेश पंक्तिपर स्थिर है। आकाश व्यापक है, वह स्वयं अपना आधार है स्वयं ही आधेय है, उसका दूसरा कोई आधार नहीं है। जो लोग पृथ्वीको किसी कच्छपकी पीठपर या सर्पके फणपर अथवा गोके सींगपर रक्खी हुई बतलाते हैं वे मिथ्यावादी भ्रांत पुरुष हैं, ऐसी काल्पनिक बातोंकी सिद्धि युक्ति प्रमाणसे नहीं हो सकती। लोकका आकार पुरुषाकार है, जब कमरपर दोनों हाथ रखकर पुरुष खडा होता है तब ठीक लोकके

स्वरूपसे उसका आकार मिल जाता है। नीचे भागमें लोक वेत्रासन—मूढाके आकार है, बीचमें—मध्य-लोक थालीके आकार है, ऊपर लोक मृदंगके आकार है। जो लोग पृथ्वीको गोल कहते हैं और उसकी तुलना गेंद या नारंगीसे करते हैं वे भ्रमशील हैं, वैसी गोलाई सिद्ध नहीं हो सकती। जो लोग उस प्रकारकी गोलाई बतलाते हैं वे लोकका स्वरूप भी बहुत छोटा केवल आर्यक्षेत्र का एक हिस्सामात्र मानते हैं। कहां तो पांचसौ छव्वीस योजन छह कला प्रमाण भरतक्षेत्रका एक छोटासा अंश और कहां चौदह राजूप्रमाण लोक? कितना अंतर है। क्या अंदाजसे लोकव्यवस्थाका स्वरूप बनानेवाले लोकके इतने विस्तृत स्वरूपका प्रत्यक्ष कर सक्ते हैं? फिर उनका कहना कैसे ठीक समझा जा सकता है? दूसरे पृथ्वीको गोल माननेसे नरक स्वर्ग व्यवस्था एवं मोक्ष व्यवस्था कुछ भी नहीं बन सकती। कारण नरक पृथ्वीके नीचे भागमें पृथ्वीपर ही हैं वे वर्तमान गोल दुनियांसे बाहर समझे जांयगे या भीतर? दोनों तरहसे नहीं सिद्ध हो सकते, इसीप्रकार स्वर्ग और मोक्षव्यवस्था भी नहीं बनती यदि इन्हें न माना जाय तो कर्मफलका भोक्ता पुरुष नहीं सिद्ध होता। इसके सिवा जो युक्तियां पृथ्वीकी गोलाईमें पाश्चात्य (अंग्रेजी) विद्वानोंद्वारा दी जाती हैं वे सब प्रत्यक्षबाधित हैं जैसे कहा जाता है कि पृथ्वी गोल नहीं हो तो समुद्रमें एक दो मील जानेपर जहाजका मस्तूल कमती दीखने लगता है इसलिए सिद्ध होता है कि पृथ्वी ढालू होती गई है इसीलिये जहाज उस ढालू पृथ्वीमें छिपता जाता है, यह युक्ति पृथ्वीको गोल माननेवालोंके सबसे प्रबल समझी जाती है परंतु सिवा भ्रमबुद्धिके और कुछ नहीं है, इसप्रकार मस्तूलका कमती दीखना सीधी जमीनमें भी होता है, अन्यथा पृथ्वीको ठीक पैमानेसे मापकर समतल रखकर मील दो मील दूर पर खडे होकर देखनेसे वहां भी मस्तूलका कुछ भाग ही दृष्टिगत होता है, सब मस्तूल नहीं दीखता।

इसका कारण केवल दृष्टिदोष है, दृष्टिका स्वरूप ही यह है कि वह दूर स्थित पदार्थोंको यथार्थरूपमें कभी नहीं जान सकती, यदि समुद्रमें पृथ्वीको ढालू मानकर ही मस्तूलका कुछ भाग दीखना माना जाय तो फिर उस जहाजका फोटो लेनेवाले पूरे जहाजका फोटो उतर आना स्वीकार करते हैं वह बात कैसे बनेगी? कारण उनके कथनानुसार पृथ्वी ढालू होनेसे जहाजका बहुभाग नीचे चला जायगा फिर फोटो पूरे जहाज का नहीं आना चाहिये परंतु वह आता है। ऐसी अवस्थामें सिवा दृष्टिदोषके और कुछ नहीं कहा जा सकता। दूसरी युक्ति गोल माननेवालोंकी ओरसे यह दी जाती है कि मनुष्य जहांसे गमन करता है सीधा सामने चले जानेसे घूमकर वहीं आ जाता है जहांसे चला था, यदि पृथ्वी गोल न हो तो घूमकर वहीं कैसे आ सकता है? यह भी कोरा भ्रम है जिसे सीधा घूमकर वहीं आना बताया जाता है वह सीधा गमन नहीं है किंतु वह बगल—वक्र गमन है। यदि वह सीधा गमन हो तो क्या पृथ्वीकी प्रदक्षिणा मनुष्य पूरी कर डालता है? क्या पृथ्वीका परिमाण कुल इतना ही है जिसे कुछ कालमें ही मनुष्य पूरा कर डालता है? यह सब भ्रामकबुद्धि पूर्ण कल्पना है। यदि पृथ्वीको गोल भी माना जाय तो प्रश्न होता है कि जिसप्रकार पाश्चात्य विद्वान् पूर्व पश्चिम घूम आना बतलाते हैं उसीप्रकार क्या कोई पुरुष आजतक उत्तर दक्षिण भी गया है? और क्या नीचे जलभाग प्रदेशमें किसी पुरुषका गमन शक्य भी है? यदि नहीं है तो फिर उसकी गोलाईका प्रमाण किस आधारसे सिद्ध किया जाता है? यदि पूर्व पश्चिम थोडी देरके लिये गोल भी पृथ्वी मान ली जाय तो उत्तर दक्षिणमें उसे गुडकी भेली एवं थालीके समान चकरी मानी जाय तो उसका निषेध एवं गोलाईकी पुष्टि वहां किस प्रबल युक्ति अबाधित प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है सो उन गोल पृथ्वी स्वीकार करनेवालोंको थोडा विचार करना चाहिये। जिसप्रकार

पृथ्वीकी गोलाई प्रमाणयुक्तिबाधित है उसीप्रकार उसका भ्रमण करना भी प्रमाणबाधित है। उसीप्रकार उसकी आकर्षणशक्ति भी युक्तिबाधित है। जहां गमन होता है वहां जलस्थिति स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि जल द्रवीभूत पदार्थ है वह हिलती हुई पृथ्वी पर चारों ओर फैल जायगा, परंतु जलस्थिति बराबर एवं एक दिशामें गमनशील देखी जाती है, इत्यादि अनेक बातें ऐसी हैं जो पृथ्वीकी गतिमें पूर्ण बाधक हैं इसलिये पृथ्वी स्थिर है और सूर्य चंद्र आदि ज्योतिष्चक्र ही भ्रमणशाली हैं। पृथ्वीमें आकर्षण मानने से भी अनेक दोष आते हैं क्या उसका आकर्षण मध्य केंद्र परमाणुओंमें माना जायगा या सर्वत्र या किसी खास प्रदेशोंमें ? यदि सर्वत्र है तो ऊपरसे गिरा हुआ फल वहीं क्यों नहीं रुकता वह लुढक कर क्यों बढ जाता है। यदि केंद्रमें ही आकर्षणता है तो वहांसे आगे पृथ्वी ढालू कर देनेसे डाली हुई वस्तु वहां नहीं रुकती किंतु ढालू जमीनमें चली जाती है सो नहीं होना चाहिये। इसीप्रकार अधिक परमाणुओंमें आकर्षणता मानने पर भी ढालू पृथ्वीमें वह बाधित हो जाती है। और भी अनेक युक्तियां इन भ्रामक बातोंको सिद्ध नहीं होने देतीं। इसलिये लोकव्यवस्था जैसी कुछ जैनागममें कही गई है वह सर्वज्ञदेव द्वारा कही गई है वही प्रमाणभूत है, लौकिक युक्तियां उस व्यवस्थाका बाधन नहीं कर सकती हैं किंतु जितने अंशोंमें ठीक ठीक खोज होती जाती है उतने अंशोंमें जैन धर्मके अनुकूल ही वस्तुव्यवस्था सिद्ध होती जाती है। जितने अंशोंमें जैनधर्मके सिद्धांतोंसे प्रतिकूलता है उतने ही अंशोंमें वह खोज अधूरी एवं विपरीत है। अभीतक पाश्चात्य विद्वान जो कुछ खोज स्थिर करते हैं, कालांतरमें उसे स्वयं गलत बतलाते हैं, उत्तर ध्रुव आदिका कभी कुछ पता लगाना, कभी उससे भी आगे उसका खोज बताना, ये सब बातें उनके अधूरे और पूर्वापर विरुद्ध कथनकी सूचक हैं।

लोकके बीचमें चोदह राजू लम्बी एक त्रसनाली है उसीमें त्रस पाये जाते हैं, उससे बाहर त्रसोंका जन्म नहीं होता, स्थावर उससे बाहर भी हैं। इसी त्रस नालीमें नीचे नरक और भवनवासी तथा व्यंतर देवोंके भवन हैं, मध्यमें मनुष्य तिर्यंच और कुछ व्यंतरदेव हैं। मध्य लोकमें जम्बूद्वीपसे लेकर असंख्यात द्वीप और लवण समुद्रसे लेकर असंख्यात समुद्र हैं। किंतु मनुष्य ढाई द्वीप तक ही रहते हैं आगे किसीप्रकार जा भी नहीं सकते। तिर्यंच आगे भी रहते हैं, एकलाख योजन जम्बूद्वीप है वह गोल है उसे वेष्टित किये हुए लवण समुद्र है, वह उससे दूना है, वह भी गोल है। उससे दूना आगेका द्वीप, उससे दूना आगेका समुद्र इसीप्रकार द्वीप समुद्र क्रमसे दूने दूने होते गये हैं। ये सब असंख्यात द्वीप समुद्र एक राजूप्रमाण हैं, त्रस नाली एक राजूप्रमाण ही चौडी है। यहांपर योजनका परिमाण दो हजार कोसका है। जितने भी अकृत्रिम पदार्थ हैं उनका माप बडे योजनसे लिया जाता है। कृत्रिम वस्तुओंका माप छोटे योजनसे लिया जाता है वह योजन चार कोसका होता है। जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बे समान टुकडे करनेपर एक टुकडेप्रमाण भरतक्षेत्र है वह पांचसौ छब्बीस योजन और छह कला अर्थात् एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भागप्रमाण है। इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वत और गंगा सिन्धू इन दो नदियोंके कारण छह खंड हैं जिनमें पांच म्लेच्छखंड हैं और एक आर्यखंड है, आर्यखंडमें ही अयोध्या नगरी है जिसमें अनादिकालसे तीर्थंकर जन्म धारण करते आए हैं और करते रहेंगे। हुंडावसर्पिणी-कालदोषसे वर्तमानयुगमें कुछ तीर्थंकरोंने अन्यत्र जन्म धारण किया था। इस अयोध्याके नीचे एक स्वस्तिक चिह्न है जो सदा अंकित रहता है। श्रीसम्मेदशिखर भी इसी आर्यखंडमें है जहांसे अनंत तीर्थंकर (चौवीसी) और अनंत केवली मोक्ष जा चुके और जाते रहेंगे, उस तीर्थराज—श्रीसम्मेदशिखरके

अन्वयार्थ—(क्षुत) क्षुधा भूख (तृष्णा) तृषा-प्यास (हिमं) शीत-ठंडी (उष्ण) गरमी (नग्नत्वं) नग्नता (याचना) प्रार्थना (अरतिः) खेद (अलाभः) लाभका नहीं होना (मशकादीनां दंशः) मशकादिकोंका काटना (आक्रोशः) क्रोध (व्याधिदुःखं) रोगजनित दुःख (अंगमलं) शरीरका मल (तृणादीनां स्पर्शश्च) तृण आदिका स्पर्श (अज्ञानं) ज्ञानका न होना (अदर्शनं) दर्शनका न होना (तथा प्रज्ञा) तथा बुद्धिविशेष (सत्कारपुरस्कारः) आदर सत्कार (शय्या) शयन (चर्या) गमन (बधः) मारना (निषद्या) बैठना (स्त्री) स्त्री (एते द्वाविंशतिः अपि) ये बाईस भी (परीषहाः) परीषह (संक्लेशमुक्तमनसा) संक्लेश परिणामोंसे रहित मनवाले तथा (संक्लेशनिमित्तभीतेन) संक्लेशके निमित्त कारणोंसे भयभीत पुरुष द्वारा (सततं) निरंतर (परिषोढव्याः) सहन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिस समय बहुत जोरसे भूख लग रही है, मुनिमहाराज कई उपवासके पीछे आहारकेलिये निकले हैं परंतु निरंतराय आहार उन्हें नहीं मिला ऐसी अवस्थामें तीव्र भूख लगने पर भी वे परिणामोंमें किसीप्रकारकी आकुलता नहीं लाते किंतु भूखको असातावेदनीय कर्मजनित विकार समझकर उससे विरक्त हो जाते हैं, और नगरसे विना भोजन लौटकर आत्मध्यानमें फिर निमग्न हो जाते हैं, इसप्रकार जो मुनियों द्वारा क्षुधापर विजय किया जाता है वह क्षुधापरीषहजय है। जब जोरसे प्यास लगती है, मुनिमहाराज उपवास धारण किये हुए हैं, तीव्र गरमी पड रही है, कंठ प्याससे सूख रहा है, फिर भी मध्य दिनमें प्रचंड सूर्यके उत्तापमें पर्वत पर बैठे ध्यान लगा रहे हैं, प्यासकी रंचमात्र भी बाधा परिणामोंमें नहीं लाते हैं किंतु उसे असाताजनित विकार समझकर उससे भी विरक्त भाव कर लेते हैं, ऐसे मुनि महाराज तृषापरीषहविजयी होते हैं । खूब शीत (ठंडक) पडती है, यहां तक कि तीव्र

ठंडीसे नदियोंका जल जमकर बरफ बन जाता है, जंगलके पत्ते वृक्ष आदि ठंडीके कारण जल जाते हैं, सभी लोग घरोंके भीतर शाल दुशाला, रुईकी सौर आदि ओढ कर सोते हैं, अग्निसे एवं सूर्यके आतापसे गरमी पहुंचाते हैं, वैसे समयमें श्रीमुनिराज नदीके किनारे आदि महा शीतप्रधान क्षेत्रोंमें नग्न खडे या बैठकर ध्यानमें निमग्न रहते हैं, शरीरसे ममत्व छोड देनेके कारण शीतबाधाकी कुछ पर्वा नहीं करते यह शीतपरीषहजय है । जब जेठ मासकी तीव्र गरमी पडती है। सूर्यके प्रचंड आतापसे जंगलके वृक्ष तक सूख जाते हैं, तालाबोंका पानी शुष्क हो जाता है, वैसी तीव्र गरमीमें पर्वत पर बैठकर ध्यानमें रत होकर वे मुनिराज कर्मोंको भस्म करते हैं, उधर स्वेच्छासे अनेक अनशन करनेसे गरमी बढती है, जंगलमें अग्नि लग जाने आदिसे भी जिनके कंठ तक सूख जाते हैं फिर भी जो उष्णताकी बाधा नहीं मानते और न किसीप्रकारका प्रतीकार करनेके लिये ही भावना करते हैं, वे ही मुनिराज उष्णपरीषहका विजय करते हैं । समस्त परिग्रहका त्याग करनेके कारण जो मुनि तंतुमात्र परिग्रह भी नहीं रख सकते, सदा स्त्री पर्यायको एवं शरीरको मलमूत्रका स्थान समझकर उनसे परम विरक्त रहते हुए आत्मलीन रहते हैं, ब्रह्मचर्यको ही अपना सर्वस्व समझते हैं, वस्त्रकी रक्षा करना, उसके फटने-फट जाने पर दूसरे वस्त्रोंकी आकांक्षा करना, आदि समस्त झगडोंसे जो सर्वथा दूर हैं, मनोविकार जिनके रंच-मात्र भी कभी नहीं होता है ऐसे नग्नताको ही मोक्षप्राप्तिका एक मात्र साधन समझनेवाले मुनिराज नग्नपरीषहजयी कहलाते हैं । जिसप्रकार तीव्र गरमीमे वृक्षका अंतःसार नष्ट होकर वह रसरहित सूखा हुआ प्रतीत होता है, उसीप्रकार तपोंसे जिन्होंने अपने समस्त शरीरको अत्यंत कृश और शुष्क बना डाला है, इंद्रियमनको पूर्ण वशमें कर रक्खा है । आहार न मिलनेसे चाहे प्राण त्याग भी हो जाय

तो भी जो दीनभावसे कभी किसी श्रावकके यहां याचना करनेके भाव नहीं प्रगट करते किंतु बिजलीके प्रभावके समान सदैव जो तेजवृत्ति एवं निवृत्तिसे रहते हैं वे मुनि याचनापरीषहविजयी होते हैं। जो परम तपस्वी--संयमी मुनि समस्त इंद्रियोंकी इच्छाका सर्वथा निरोध कर चुकनेके कारण गीतनृत्यावलोकन भोजन आदि समस्त बातोंसे विरक्त हो चुके हैं, शून्य घर देवस्थान, मठ जंगलमें रहते हैं, स्वाध्याय ध्यानमें सदैव लवलीन रहते हैं, उनके अरति-खेदजनित बाधा नहीं होनेसे अरतिपरिषहजय होता है, अनेक उपवासोंके पीछे भी यदि मुनि आहारके लिये निकलें फिर भी अंतराय आदि कारणोंसे आहारकी योग्यता नहीं मिले तो भोजनमें किंचिन्मात्र भी रति नहीं लाते किंतु मन वचन कायकी गुप्तियोंको पालते हुए ध्यानरूपी भोजनका निरंतर पान करते हुए उसे ही अपना भोजन समझते हैं, भिक्षाके न मिलनेसे रंचमात्र खेद नहीं करते वे मुनिराज अलाभपरीषह पर विजय करते हैं। दंशमशक यहांपर उपलक्षण है, जैसे कौआसे दहीकी रक्षा करनेके लिये कोई किसीसे कह जाय तो उसका अर्थ यह समझा जाता है कि केवल कौआसे ही नहीं किंतु जो कोई दहीके खानेवाले पशु पक्षी हैं उन सबोंसे दहीकी रक्षा करनी चाहिये कौआ केवल उपलक्षणमात्र है। उसीप्रकार यहांपर दंशमशक-डांसमच्छर उपलक्षण हैं, उनके कहनेसे सर्प बिच्छू आदि सभी काटनेवाले जन्तु समझने चाहिये। डांस मच्छर, चींटी, कीडा, मकोडा, पिस्सू मक्खी, भौंरा, बिच्छू सर्प आदि कितने ही जीव क्यों न काटते रहें परंतु ध्यानी मुनि उन सबकी बाधाको शांतिसे सहन करते हैं उन्हें दूर करनेका कोई उपाय नहीं करते हैं वे ही दंशमशक परीषहको जीतते हैं। अनेक मिथ्यादृष्टि पुरुष जैनधर्मके विद्वेषी मुनियोंको देखकर उन्हें गालियां देते हैं, कंकड पत्थर शस्त्र आदिसे भी उन्हें सताते हैं उनकी हरप्रकारसे निंदा भी करते हैं, उन सब

बातोंको होते हुए देखकर भी जो केवल पापकर्मका उदय समझते हैं, क्रोधकषायको रंचमात्र भी उदित नहीं होने देते, परम शांतरसमें निमग्न रहते हैं, वे ही धीर वीर मुनि आक्रोशपरीषहके विजयी होते हैं। जो शरीरको मलमूत्रका घर समझकर उससे विरक्त हुए हैं, संसारकी अन्य वस्तुओंके समान उसे भी अनित्य समझते हैं केवल आत्मीय गुणोंकी रक्षा और वृद्धिमें सदैव सावधान रहते हैं, ऐसी अवस्थामें विरुद्ध आहारपान आदिके कारण तथा तीव्र उष्णता आदिसे शरीरमें ज्वरप्रकोप, वातविकार, व्रण आदि अनेक रोगोंके उत्पन्न होने पर भी जो उसे दूर करनेकी रंचमात्र भी चिंता नहीं करते, जल्लौषधि आदि ऋद्धियोंके प्राप्त हो जाने पर भी जो सहसा उन रोगोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रखने पर भी उन्हें दूर नहीं करते हैं किंतु कर्मोंका उदय समझकर उन्हें सहन करते हैं, ऐसे मुनिराज ही व्याधिदुःख-परीषहविजयी बनते हैं। जिन्होंने पृथ्वीकाय जलकाय वातकाय अग्निकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय सभी जीवोंकी रक्षाका भाव रखना ही ध्येय बनाया है, इसीलिये जो स्नानादि आदिका आरंभ नहीं करते हैं, गरमी आदिके कारण जिनके शरीर पर पसीना आदिसे तथा धूलि उडने आदिसे मलसंचय भी हो रहा है, फिर भी उसे दूर न कर अपने आत्मगुणोंको निर्मल रखनेके लिये जो निरंतर उद्योग करते हैं वे मुनि अंगमलबाधापर विजय करते हैं। कांटा पत्थर कांच डांठला (ठूंठ) आदिके लग जाने पर भी जो उसकी पीडासे खेद नहीं करते हैं, तथा उसी वेदनाके रहते हुए भी वे चलनेमें, बैठनेमें, लेटनेमें किसीप्रकारका प्रमाद न लाकर सदा जीव रक्षामें सावधान रहते हैं वे ही मुनिराज तृणस्पर्श परीषह विजयी होते हैं। कर्मोदयवश ज्ञानकी मात्रा विशेष प्रगट न होनेपर लोगोंसे अज्ञानी मूर्ख आदि शब्दोंको सुनते भी रहते हैं फिर भी पश्चात्ताप अथवा मुझे इतना तप करनेपर भी क्यों नहीं ज्ञान प्रगट

संवरभाव आत्माको संसार समुद्रसे उद्धार कर मोक्षलक्ष्मीसे उसका संबंध कर देता है। निर्जराभावनामें कर्मोंका किसप्रकार निर्झरण होता है, किन किन उपायोंसे कर्म खिपाये जा सकते हैं, इन्हीं सब बातोंका चिंतवन करना आवश्यक है। यद्यपि सामान्यरीतिसे सभी संसारी जीवोंके कर्म अपना फल देकर समयानुसार खिरते रहते हैं वह विपाक निर्जरा कहलाती है परंतु ध्यानी मुनिगण कर्मोंको असमयमें ही खिरा देते हैं, अपने तपोबलसे जिस कर्मकी स्थिति १०० वर्ष है उसे १ वर्षमें ही खिरा देते हैं, उसी कालमें कर्मको उदयावलीमें ले आते हैं, उसका जो कुछ परिपाक है उसे उसी कालमें भोग लेते हैं, ऐसी असामयिक निर्जराको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसीप्रकार अविपाक निर्जरा करते करते योगीगण बहुत कर्मोंका भार हलका कर डालते हैं पश्चात कुछ ही कालमें समस्त कर्मोंको निर्जीर्ण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसप्रकार इन बारह भावनाओंका चिंतवन करनेसे आत्मा परपदार्थसे हटकर अपने निजरूपमें रमण करने लगता है।

परीषह जय।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमंगमलं ॥ २०६ ॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥ २०७ ॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततं।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥ २०८ ॥

भी नहीं मिल पाता, इसलिए जिसप्रकार हो रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। यदि एक बार भी इस जीवात्माको बोधिलाभ हो जाता है तो नियमसे उसकी मोक्ष होती है। बोधिलाभ संज्ञी, विशुद्ध, भव्य अंतःकोटाकोटी सागरोपमकर्मस्थितिक जीवके ही होता है। ऐसे जीवके भी बहुत दुर्लभ है, अच्छे निमित्त और सुसमागम मिलनेपर तथा काललब्धि मिलनेपर ही होता है। बोधिलाभ ही जीवकी निधि है, उसका प्राप्त करना प्रत्येक ज्ञानीका प्रथम कर्तव्य है। संवर भावनामें कर्मोंके रोकनेका विचार करना चाहिये, जिन कारणोंसे कर्म आते हैं उनके प्रतिपक्षी गुणोंके प्रगट होनेसे कर्म रुक जाते हैं, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनसे कर्मोंका आगमन होता है इनके विपरीत गुण—सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमत्तभाव, अकषायभाव और अयोगभाव इनसे कर्म रुक जाते हैं। चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनगुण प्रगट हो जाता है इसलिए वहांपर मिथ्यात्वजनित कर्म आत्मामें नहीं आ सकते, दूसरे तीसरेमें भी नहीं आते, कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय पहले गुणस्थानमें रहता है इसलिए वहांपर मिथ्यात्वकर्मजनित कर्मबंध होता है। पांचवें गुणस्थानमें एकदेश विरतभाव है, छठे गुणस्थानमें पूर्ण विरतभाव है इसलिए उनसे नीचे ही अविरतिजनित कर्मोंका बंध होता है। छठे गुणस्थानतक ही प्रमादजनित कर्म आते हैं, सातवें गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तभाव है वहां पर प्रमादजनित कर्मबंध नहीं होता। दशवें गुणस्थानतक कषायभाव रहता है, वहांतक कषायजनित कर्मबंध होता है उससे ऊपर अकषायभाव है इसलिए वहांपर कर्मजनितबंध नहीं होता, तेरहवें गुणस्थानतक योगभाव है इसलिए वहांतक उस जनित कर्म आते हैं आगे अयोगकेवली—चतुर्दशगुणस्थान है, वहां आत्मामें कोई कर्म नहीं आता, इसप्रकार विपक्ष आत्मीय गुणोंके सद्भावमें कर्म रुकते हैं। यही

धर्मका लक्षण आचार्योंने वस्तुस्वभाव बतलाया है, 'वत्थुसुहावो धम्मो' जो जिस वस्तुका स्वभाव है वही उसका धर्म है, आत्माका स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुण स्वरूप है इस-लिये वे गुण ही आत्माके धर्म हैं उनके स्वरूपका सदैव चिंतवन करनेसे उनमें अभिरुचि एवं दृढ़िमा होती है। दूसरा धर्मका लक्षण—"चारित्तं खलु धम्मो" चारित्रको ही धर्म कहा गया है। यह लक्षण भी आत्माका वस्तुस्वभाव है। प्राप्तव्य मार्गकी मुख्यतामे चारित्रको प्रधानतासे कहा गया है। चारित्रसे सम्यक्चारित्रका ग्रहण है। यह चारित्र ही आत्मसिद्धिमें एवं मोक्षप्राप्तिमें प्रधान कारण है। विना क्रिया-रूप चारित्रका धारण किए और सातवें गुणस्थानसे भावरूप चारित्र धारण किए आत्मा वीतरागी नहीं बन सकता इसलिए चारित्र ही धर्म है वही उपादेय है। चारित्र सम्यग्दर्शनके विना होता नहीं, जहां सम्यग्दर्शन होता है वहां सम्यग्ज्ञान सुतरां हो जाता है, इसलिए चारित्रको धर्म कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इनका ग्रहण स्वयं सिद्ध है। धर्मभावनामें धर्म्यध्यानका स्वरूप भी विचारना चाहिये। यह ध्यान चतुर्थ गुणस्थानसे सातवें गुणस्थानतक होता है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये उस धर्म्यध्यानके चार भेद हैं। इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है। और भी धर्मोंके उत्तमक्षमा आदिक जो दश भेद हैं उनका भी स्वरूप विचारना चाहिये। इसप्रकार धर्मभावनाका विचार करना चाहिये।

बोधि नाम रत्नत्रयका है, इस बोधिभावनाका चिंतवन इस रूपमें करना चाहिये कि संसारमें आत्मा अनेक पर्यायोंमें इधर उधर सदा घूमता रहता है। चतुर्गतियोंमें नाना कष्टोंका सहन करता रहता है, परंतु विना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके इसे आत्मीय—सच्चे सुखका लेश

नीचे भी स्वस्तिकका चिन्ह है, वह भी अयोध्याके समान सदा स्थायी है। वर्तमानमें अमरीका, अफ्रीका, योरुप, ऐशिया आदि ये जो महाद्वीप समझे जाते हैं वे सब इसी आर्यखंडमें सामिल हैं। भारतवर्ष चीन जापान ये सब ऐशियामें गर्भित हैं। आर्योंके अनेक भेद हैं, कोई आचरणकी अपेक्षा आर्य होते हैं, कोई केवल क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य होते हैं। अमरीका योरुप आदिके रहनेवाले और भारतवर्षमें रहनेवाले मुसलमान ईसाई आदि ये लोग केवल आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा आर्य हैं बाकी इनके आचार सब म्लेच्छोंके जैसे हैं। इसप्रकार भरतक्षेत्रका छठा खंड आर्यक्षेत्र है उसीके भीतर यह सब रचना है। ऐसी अवस्थामें वर्तमान खोज बहुत तुच्छ है फिर दुनियाका माप कल्पितकर उसे गोल बताना यह सब मिथ्या कथन है। लोक अनादिनिधन है, उसकी समस्त रचना ज्योंकी त्यों रहती है, केवल पर्यायोंकी पलटन होती रहती है किंतु भरतक्षेत्रके कुछ हिस्सेमें छठे कालके अंतमें प्रलय होजाता है। वह प्रलय कालके परिणमनसे स्वयं होता है किसीका किया हुआ नहीं होता। प्रलयकालमें मनुष्य विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंमें, लवणसमुद्रकी वेदिकाके नीचे आदि स्थानोंमें चले जाते हैं, कुछ स्त्रीपुरुषोंको देवगण इधर उधर रख देते हैं, कुछ प्रलयमें मर भी जाते हैं, जिन्हें देव रख देते हैं और जो स्वयं चले जाते हैं वे कुछ काल पीछे जब प्रलय होना रुक जाता है तब उस क्षेत्रमें फिर आ जाते हैं। प्रलयके पीछे जो रचना होती है वह भी स्वयं होती है, वह रचना किसी परमात्माद्वारा की जाती हो ऐसा जैनसिद्धांत नहीं स्वीकार करता, ऐसा मानना युक्ति प्रमाणसे बाधित है और न जैनसिद्धांत समस्त पृथ्वीकी सृष्टि और प्रलय होना ही मानता है। इसप्रकार लोकका स्वरूप चिंतवन कर वस्तुव्यवस्थाका एवं जीवोंकी स्थिति क्षेत्र आदिका यथार्थ बोध करना चाहिये। धर्मभावनामें धर्मका स्वरूप चिंतवन करना चाहिये।

होता ऐसा विचार नहीं लाते, किंतु शांत परिणामोंसे ध्यानमें रत रहते हैं ऐसे मुनि अज्ञानपरीषह विजयी होते हैं। मैं रातदिन तपमें लीन रहता हूं, परम वैरागी हूं, स्वाध्यायमें सावधान रहता हूं, कषायोंपर विजय पा चुका हूं, समस्त पदार्थोंका मुझे परिज्ञान भी हो चुका है, अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांचों परमेष्ठियोंका एवं उनके धर्मका मैं गाढ श्रद्धासे पूजक हूं, चिरकालसे मैं तपस्वी हूं, फिर भी मुझे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा विशेष ऋद्धियां आदि ज्ञानातिशय क्यों नहीं होता? क्या जैनी दीक्षाका कुछ फल नहीं होना है? क्या मेरा व्रत पालन सब व्यर्थ ही जारहा है इत्यादि बातोंको जो दर्शनविशुद्धिभावके प्रगट होनेसे कभी ध्यानमें भी नहीं लाते हैं वे मुनिराज अदर्शनपरीषहविजयी कहलाते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अनेक जल्ल, मल्ल आदिक ऋद्धियां आदिके उत्पन्न होने पर भी जो कभी ज्ञानका घमंड नहीं करते हैं, मैंने अंगपूर्वतकका ज्ञान कर लिया है, मेरे सामने वादी प्रतिवादी ऐसे भागते हैं जैसे सूर्यके प्रतापमें अंधकार भागता है, मैं न्याय व्याकरण सिद्धांत आदि सभी शास्त्रोंका पारंगत हूं इत्यादि मदजनक भावनाको जो कभी नहीं करते वे सरलचित्तधारी मुनिराज ही प्रज्ञापरीषहजयी कहलाते हैं। तीव्र तपस्वी तथा अतिज्ञानी होनेपर भी मुझे देखकर लोग क्यों नहीं नमस्कार करते, मेरी पूजा क्यों नहीं करते, ढोंगियोंको पूजते फिरते हैं, व्यंतरादि मिथ्यादृष्टियोंकी पूजा करते हैं, मेरे लिये उठते भी नहीं, मेरे प्रति भक्तिके परिणाम भी नहीं रखते, इसप्रकार सत्कार आदि चाहनेकी इच्छासे जो सर्वथा विरत हैं वे मुनि सत्कारपुरस्कारपरीषहजयी कहलाते हैं। स्वाध्याय, ध्यान एवं मार्गश्रमसे जो खिन्न भी हो चुके हैं फिर भी कभी एक मुहूर्त कभी दो आदि मुहूर्त शयन भी करते हैं तो प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखकर एक ही करवटसे सोते हैं, विषम खपरीली कठोर गरम या अधिक

ठंडी पृथ्वीमें सोते हैं, जिसप्रकार किसी लकडी या पत्थरको एक स्थानमें रख दिया जाता है उसीप्रकार जो व्यंतरादिकृत उपसर्ग आदि बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी शरीरको नहीं हिलाते डुलाते हैं, ऐसे सहनशील मुनियोंके शय्यापरीषहजय होता है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्या आदि बाह्य अभ्यंतर तपोंको धारण करनेवाले, निष्परिग्रह रहनेवाले मुनि जो कंटक, पत्थर, बालू, कांच आदिसे व्याप्त पृथ्वीपर जीवोंकी बाधाका परिहार करते हुए नंगे चरणोंसे गमन करते हैं और मार्गके चलनेसे जो खेद होता है उसे शांत परिणामोंसे सहन करते हैं तथा पूर्वानुभूत यान वाहन आदि सवारियोंका स्मरण भी नहीं करते वे मुनिराज चर्यापरीषहविजयी होते हैं। दुष्ट मिथ्यादृष्टियोंद्वारा जिनका शरीर तीक्ष्ण तलवार, फरसा, मुद्गर, कोल्हू आदिसे घाता भी जाता है फिर भी जो मारनेवालेपर रंचमात्र भी क्रोध न कर केवल अपने पूर्व संचित असातावेदनीयका उदय समझकर ध्यानमें लीन हो जाते हैं तथा शरीरको विनश्वर समझकर उससे ममत्वबुद्धि हटाकर एवं आत्मीय गुण रत्नत्रयकी रक्षामें सावधान रहते हैं ऐसे परम शांत मुनिमहाराज वधपरीषहविजयी होते हैं। जो स्मशान, जंगल, पर्वत, गुफा आदि जनशून्य प्रदेशोंमें एक जगह बैठकर ध्यान लगाते हैं, वीरासन, गोदूहन आसन आदि आसनोंसे नियतकालतक बैठ जाते हैं, सिंह व्याघ्र सर्प आदि भयानक जंतुओंकी गर्जनाको सुनकर भी जिनका चित्त विचलित नहीं होता है, कोई उपसर्ग क्यों न सहना पडे, लगाये हुए आसनसे जो तनिक भी हिलते डुलते नहीं हैं वे धीर वीर मुनिराज निषद्याविजयी होते हैं। किसी एकांत उद्यान भवन आदि स्थानोंमें मद्य आदि मदकारी वस्तुओंका सेवन करनेवाली मदमत्त युवतियोंके मुसक्यान, मत्त चाल, नेत्र भ्रकुटीका वक्र निक्षेप, मधुर आलाप, सविलास वीक्षण आदि कामव्यथाको उत्पन्न करनेवाले निमित्त मिलनेपर भी जो

कछुयेके समान संकोचकर इंद्रियोंको वशमें रखते हैं, लेशमात्र भी जिनके परिणाम विकारयुक्त नहीं होते ऐसे परम ब्रह्मचर्यधारी महा धीर वीर मुनिराज स्त्रीपरीषहविजयी होते हैं। इसप्रकार इन बावीस परीषहोंको—बाधाओंको विना किसी प्रकारका विकारभाव या खेद प्रगट किए परम शांत निष्कषाय परिणामोंसे श्रीमुनिराज सहन करते हैं। परीषहोंको सहन करनेके लिये संक्लेश मनमें नहीं लाना चाहिये परंतु संक्लेशके कारणोंसे डरना चाहिये। संक्लेश पूर्वोपार्जित पापकर्मके उदयसे होता है इसलिए पाप प्रवृत्तिको रोकनेका सर्वदा यत्न करना चाहिये।

मुनिधर्म गृहस्थको भी पालना चाहिये।

इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता॥ २०९॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (एतत् रत्नत्रयं) यह रत्नत्रय (प्रतिसमयं) हर समय (विकलं अपि) एकदेशरूपसे भी (निरत्ययां) अविनश्वर (मुक्तिं अभिलषता) मुक्तिको चाहनेवाले (गृहस्थेन) गृहस्थके द्वारा (अनिशं) निरंतर (परिपालनीयं) अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—चारित्रके पहिले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका प्राप्त करना तो परमावश्यक है ही, उसके पश्चात् प्राप्त करने योग्य सम्यक्चारित्र है। संसारी जीवोंकी क्रियात्मक प्रवृत्ति ही आत्माको अधोगति एवं ऊर्ध्व गतिमें ले जानेका कारण है, इसलिये परम उपकारी श्रीजैनाचार्यने संसारकी कारणीभूत क्रियाओंका निषेध और मोक्षकी कारणीभूत क्रियाओंका विधान किया है। यह श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय

शास्त्र भी चारित्र ग्रंथ है इसलिये इसमें मुख्यतासे चारित्रका ही निरूपण किया गया है। चारित्रके दो भेद हैं एक साक्षात् मोक्षसाधक, एक परंपरा मोक्षसाधक। मुनियोंका चारित्र साक्षात् मोक्षसाधक है, उसका द्वितीय नाम सकलचारित्र है। गृहस्थका चारित्र परंपरा मोक्षसाधक है, उसका द्वितीय नाम विकलचारित्र है। इस शास्त्रमें मुख्यतासे गृहस्थाचार-श्रावकाचारका ही वर्णन है अर्थात् प्रथम ३० तीस कारिकाओं (श्लोकों) में सम्यग्दर्शनका कथन, उससे आगे छह कारिकाओंमें छत्तीस कारिका तक सम्यग्ज्ञानका विवेचन, पीछे एकसौ साठ कारिकाओंमें श्रावकोंके चारित्रका निरूपण है। अंतमें १२ बारह कारिकाओंमें अर्थात् एकसौ सत्तानवे कारिकासे लेकर दोसौ आठवीं कारिका तक सकलचारित्रका निरूपण है। यद्यपि सकलचारित्रका पालन मुनियोंके लिये प्रधान है वे ही उसे पूर्णतासे पाल सकते हैं, इसलिये वे ही इस संसार समुद्रको पार कर मोक्षलक्ष्मीको पालेते हैं। परंतु गृहस्थ भी मोक्षलक्ष्मीकी इच्छा रखता है इसलिये उसे भी इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सकलचारित्र रूप सम्यक्चारित्रको पालन करना चाहिये। यदि वह गृहस्थाश्रममें रहनेके कारण बाधकनिमित्तोंके रहनेसे पूर्णतासे संयमका पालन नहीं कर सकता है तो उसका एकदेश ही पालन करना चाहिये। आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरिके इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि जो चारित्र मुनियोंके लिये कहा गया है उसका एकदेश गृहस्थको अवश्य पालना चाहिये। कारण जितने भी मुनियोंके व्रत हैं वे त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षाके लिये हैं, मुनियों द्वारा उन जीवोंकी पूर्ण रक्षा की जाती है और गृहस्थोंद्वारा आरंभजनित हिंसा नहीं रोकी जा सकती इसलिये वे एकदेश व्रतका पालन कर सकते हैं। इसलिये जो व्रत मुनियोंके हैं वे सब एकदेश रूपसे गृहस्थोंको अवश्य पालना चाहिये।

गृहस्थोंको मुनिपद धारण करना चाहिये।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलंब्य मुनीनां कर्तव्यं सपदि परिपूर्णं॥ २१०॥

अन्वयार्थ—(नित्यं बद्धोद्यमेन) सदा प्रयत्नशील गृहस्थके द्वारा (बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा) रत्नत्रयकी प्राप्तिका समय पाकर (च) और (मुनीनां पदं अवलंब्य) मुनियोंके पदको धारण कर (सपदि) शीघ्र ही (परिपूर्णं कर्तव्यं) संपूर्ण करना चाहिये।

विशेषार्थ—गृहस्थोंका कर्तव्य है कि वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकी प्राप्तिकेलिये सदैव प्रयत्नशील बने रहें उद्योग करते करते रत्नत्रय प्राप्तिका समय प्राप्त करलें, पीछे मुनिपद धारण कर उस पाये हुए रत्नत्रयको शीघ्र ही पूर्णतासे प्राप्त कर लें, विना मुनिपद धारण किये रत्नत्रय पूर्णतासे नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिये मुनिपद धारण करके मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करना प्रत्येक गृहस्थका अंतिम ध्येय होना चाहिये।

रत्नत्रय कर्मबंधका कारण नहीं है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतोवश्यं मोक्षोपायो न बंधनोपायः॥ २११॥

अन्वयार्थ—(असमग्रं) एकदेशरूप (रत्नत्रयं भावयतः) रत्नत्रयको पालन करनेवाले पुरुषके (यः कर्मबंधः अस्ति) जो कर्मबंध होता है (सः विपक्षकृतः) वह रत्नत्रयके विपक्षभूत राग द्वेषका किया हुआ है तथापि (अवश्यं मोक्षोपायः) वह नियमसे मोक्षका कारणभूत है (न बंधनोपायः) बंधनका कारण नहीं है।

विशेषार्थ—जो पुरुष एकदेश रत्नत्रयको धारण करता है उसके जो शुभ कर्मोंका बंध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता किंतु कर्मबंधके कारण—कषायभावोंसे ही होता है, क्योंकि रत्नत्रय आत्माका गुण है। आत्माका गुण कर्मबंध करानेमें असमर्थ है, यदि आत्मीय गुणोंसे भी कर्मबंध होता हो तो सिद्ध कभी शुद्ध नहीं रह सकते हैं। इसलिये वह बंध भी रागरूप सकषायरूप परिणामोंसे ही होता है। इतना विशेष है कि राग दोप्रकारका होता है—एक शुभराग, दूसरा अशुभराग। जिस आत्मामें रत्नत्रय प्रगट हो जाता है उसके अधिकतर शुभ राग रूप प्रवृत्ति रहती है। रत्नत्रयधारी पुरुषका कर्मबंध मिथ्यादृष्टि पुरुषके कर्मबंधके समान संसारका कारण नहीं है किंतु परंपरा मोक्षप्राप्तिमें सहायक होता है कारण अशुभ प्रवृत्तिके निवृत्त होनेपर रत्नत्रयधारी पुरुषकी जो शुभरूप प्रवृत्ति है वह शुद्ध परिणतिमें कारण हो जाती है, कालांतरमें उसके विशुद्ध परिणति उत्पन्न हो जाती है। परंतु वास्तवमें तो जितने अंशमें कर्मबंध है उतने अंशमें जीवात्माका संसार है और जितने अंशमें रत्नत्रय है उतने अंशमें उसकी शुद्ध अवस्था है। इसीका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

रत्नत्रय और रागका फल।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१३ ॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥ २१४॥ (त्रिभिर्विशेषकं)

अन्वयार्थ—[येन अंशेन सुदृष्टिः] जिस अंशसे आत्माके सम्यग्दर्शन है [तेन अंशेन] उस अंशसे अर्थात् उस सम्यग्दर्शन द्वारा [अस्य बंधनं नास्ति] इस आत्माके कर्मबंध नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन कर्मबंधका कारण नहीं है। [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे रागभाव है, सकषाय परिणाम है [तेन अंशेन] उस अंशसे अर्थात् उस सकषायपरिणामसे [अस्य बंधनं भवति] इस आत्माके कर्मबंध होता है। [येन अंशेन ज्ञानं] जिस अंशसे आत्माके सम्यग्ज्ञान है [तेन अंशेन अस्य बंधनं नास्ति] उस अंशसे इस आत्माके कर्मबंध नहीं है [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे इसके राग है [तेन अंशेन बंधनं भवति] उस अंशसे इसके कर्मबंध होता है। [येन अंशेन चरित्रं] जिस अंशसे चारित्र है [तेन अंशेन अस्य बंधनं नास्ति] उस अंशसे इस आत्माके कर्मबंध नहीं है [तु] और [येन अंशेन रागः] जिस अंशसे इसके राग भाव है [तेन अंशेन अस्य बंधनं भवति] उस अंशसे इसके कर्मबंध होता है।

विशेषार्थ—आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, आठ कर्मोंने आत्माके भिन्न गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है। जितने अंशमें जो कर्म आत्मासे पृथक् हो जाता है अथवा उपशम रूपसे बैठ जाता है उसी अंशमें आत्माका गुण प्रगट हो जाता है। जहांपर समस्त कर्मोंका आत्मासे पृथक्करण हो जाता है वहां आत्मा सर्वथा विशुद्ध बन जाता है वहीं उसका मोक्ष है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि गुणोंकी पूर्ण प्रगटता आत्माका पूर्ण मोक्ष अथवा पूर्ण संसारनाश है और उन गुणोंकी एकदेश प्रगटता आत्माकी एकदेश मोक्ष अथवा एकदेश संसारच्छेद है। गुणोंका प्रगट होना संसारच्छेद अथवा मोक्षप्राप्तिका ही

नियमसे कारण है, यह कर्मबंधका कारण कभी किसी अपेक्षासे नहीं हो सकता। अन्यथा यदि एकदेश गुणोंकी प्रगटता एकदेश कर्मबंधका कारण होगी तो उनकी सर्वथा पूर्ण रूपसे प्रगटता पूर्णरूपसे कर्मबंधका कारण होना चाहिये। वैसी अवस्थामें सिद्धोंके पूर्ण कर्मबंध होना चाहिये, सो नहीं होता, किंतु जिसके जितना अधिक रागभाव है उसीके अधिक कर्मबंध होता है। जिसके रागभावकी मात्रा कुछ कम है उसके कर्मबंध भी कम होता है जैसे योगीजन बहुत अंशोंमें कषायभावोंको नष्ट कर देते हैं इसलिये उनके कर्मका भार भी बहुत हलका हो जाता है, उसीका फल उनके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, आदि समुन्नत गुणोंकी वृद्धि पाया जाता है। इससे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि इस जीवके जितने अंशमें रागभाव है उतने ही अंशमें कर्मबंध है अर्थात् रागादि अशुद्ध परिणाम ही कर्मबंधका हेतु है। आत्माके निजीगुण कर्मबंधके कारण नहीं हो सकते।

अब यहांपर यह शंका हो सकती है कि जिन आत्माओंमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुण प्रगट हो चुके हैं उन आत्माओंके कर्मबंध भी पाया जाता है, जब कि रत्नत्रय आत्मीय गुण कर्मबंधके कारण नहीं हैं तब उनके कर्मबंध क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि उन आत्माओंमें पूर्ण रत्नत्रय अभी नहीं है जहां पूर्ण रत्नत्रय हो जाता है वहां फिर आत्माकी तत्काल ही नियमसे मोक्ष हो जाती है। पूर्ण रत्नत्रय चतुर्दश गुणस्थान अयोगकेवलीके अंत समयमें होता है इसलिये उस गुणस्थानमें कर्मबंध सर्वथा नहीं होता और अंत समयमें ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ पंचम छठे आदि गुणस्थानवर्ती जीवात्माके एकदेशरूप रत्नत्रय है इसलिए उसके कर्मबंध होता है। फिर यहां शंका होती है कि जब पूर्ण रत्नत्रय कर्मबंधका कारण नहीं है तो एकदेश रत्नत्रय भी

उसका कारण नहीं होना चाहिये फिर एकदेशरत्नत्रयधारी आत्माके कर्मबंध क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि जब पूर्णरत्नत्रय कर्मबंधका कारण नहीं है तो उसका एकदेश भी कर्मबंधका कारण नहीं हो सकता। जिसके सर्वदेशका जैसा स्वभाव होता है उसके एकदेशका भी वही स्वभाव होगा क्योंकि एकदेश एकदेश मिलकर ही तो सर्वदेश बनता है। परंतु जहांपर एकदेश रत्नत्रय है वहां एकदेश दूसरी वस्तु है। एकदेश कहनेसे ही यह बात प्रगट हो जाती है कि उस रत्नत्रयकी एकदेश ही प्रगटता अभी हो पायी है, एकदेश–अंशको अभी किसी प्रतिपक्षीने दबा रक्खा है। जो प्रतिपक्षी है उसीका नाम रागभाव है। एकदेशमें अभी रागभाव स्थान पाये हुए है। इसलिये आत्मामें रत्नत्रयधारीके जो कर्मबंध हो रहा है वह उसी रागभावका परिणाम है। अर्थात् कर्मबंध जितना भी होता है वह रागभावके उदयमें ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। एकदेशरत्नत्रयधारी आत्मामें रागभाव अभी उपस्थित है इसलिये उसके उसी रागभावसे कर्मबंध होता है। जितने अंशोंमें आत्मामें रत्नत्रय गुण प्रगट हो चुका है उतने अंशोंमें आत्मामें कर्मबंध नहीं होता। इतना और विशेष है कि जो रागभाव अशुभ कर्मोंका बंध करता था वह रत्नत्रयके सहवाससे शुभ करने लगता है। इसमें यह भी समझना भूल है कि रत्नत्रय शुभ कर्मबंधमें कारण होता है। रत्नत्रय तो किंचिन्मात्र भी कर्मबंधमें कारण नहीं है किंतु उसके प्रगट होनेसे आत्माका परिणाम इतना विशुद्ध बन जाता है कि वह अशुभ प्रवृत्ति करनेसे हट जाता है। परंतु अभीतक राग-भाव उदयमें आ रहा है इसलिये वह भी अपना कार्य करता ही है। विना रत्नत्रयके वह अपना कार्य अशुभ प्रवृत्तिरूप करता था अब रत्नत्रयके एकदेश प्रगट होनेसे वह शुभमें प्रवृत्ति करने लगता है। जितने अंशोंमें रत्नत्रय गुणकी वृद्धि होती जाती है और रागभावकी कमी होती जाती है उतने अंशोंमें

शुभप्रवृत्ति—शुभ कर्मबंध भी घटता जाता है, विशुद्ध परिणाम बढता जाता है। जहांपर रत्नत्रय बढते बढते पूर्ण हो जाता है, वहांपर रागभाव भी सर्वथा नष्ट हो जाता है इसलिये वहां फिर आत्मामें केवल विशुद्ध परिणाम ही रहता है, उस अवस्थामें कर्मबंध सर्वथा नहीं होता, इस कथनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि रागभाव ही कर्मबंधका कारण है, रत्नत्रय नहीं।

बंधका कारण।

योगात् प्रदेशबंधः स्थितिबंधो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च॥ २१५॥

अन्वयार्थ—(योगात् प्रदेशबंधः) योगसे प्रदेशबंध (भवति) होता है (कषायात) कषायसे (स्थितिबंधः भवति) स्थितिबंध होता है (तु) परंतु (दर्शनबोधचरित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (न योगरूपं कषायरूपं च) न तो योगरूप ही है और न कषायरूप ही हैं।

विशेषार्थ—बंधके चार भेद बताये गये हैं, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग। जिसप्रकार नीमकी कडुआपन प्रकृति-स्वभाव है, गुडका मीठापन प्रकृति है, इमलीका खट्टापन प्रकृति है, मिरचका चरपरापन प्रकृति है। इसीप्रकार आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण कर्मकी ज्ञानको घात करनेकी प्रकृति है, अर्थात ज्ञानको ढकनेका स्वभाव ज्ञानावरण कर्ममें है, दर्शनको ढकनेका स्वभाव दर्शनावरणमें है, दर्शनावरण कर्म आत्माके सत्तावलोकन रूप दर्शनको ही ढकता है। अव्याबाध गुणको वेदनीय कर्म ढकता है, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको मोहनीय कर्म ढकता है, अवगाहन गुणको आयुकर्म ढकता है, सूक्ष्मत्व गुणको नामकर्म ढकता है, अगुरुलघु गुणको गोत्रकर्म ढकता है, और वीर्य गुणको अंत-

रायकर्म ढकता है। इसप्रकार प्रकृति स्वभावका नाम है, भिन्न भिन्न कर्मोंमें भिन्न भिन्न गुणोंको ढकनेका स्वभाव है। स्वभाव और स्वभाववालेमें अभेद होता है इसलिए जिस कर्मकी जो प्रकृति है उसके निमित्तसे उस प्रकृतिके धारण करनेवाले कर्मका भी वही नाम है। अर्थात् कर्मका स्वभाव—प्रकृति कहलाती है परंतु कर्म भी प्रकृतिके नामसे कहा जाता है। ये प्रकृतियां कार्माणवर्गणाओंमें नियत हैं, जिस प्रकारका आत्माके परिणामोंमें विकारका आधिक्य होता है उसीप्रकारकी प्रकृतिमें अधिक रसदानशक्ति भी हो जाती है। इसप्रकार भिन्न भिन्न आठ कर्मोंका बंध करना प्रकृतिबंध कहलाता है। प्रदेशबंध वह कहा जाता है कि आत्माके समस्त—असंख्यात प्रदेशोंमें जो अनंतानंत कार्माणवर्गणाओंका कर्मपर्यायरूप परिणमन होकर संबंधविशेष—आत्मप्रदेश और कर्मप्रदेश इन दोनोंका एकक्षेत्रावगाहित्व हो जाता है अर्थात् अनंतानंत संख्यामें जिन कर्मप्रदेशोंका आत्माके साथ संबंध हो जाता है वही प्रदेशबंधके नामसे कहा जाता है। ये दोनों प्रकारके बंध प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योगोंसे होते हैं, मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इनमेंसे किसी एक वर्गणाके अवलंबनसे जो आत्माके प्रदेशोंके हलन चलन होता है वही योग कहलाता है। जिस समय उक्त तीनों वर्गणाओंमेंसे अन्यतम किसी एक वर्गणाके आश्रयसे आत्मप्रदेशोंमें हलन चलन होता है उसी समय संसारमें सर्वत्र भरे हुए और आत्माके साथ संबंधित कर्मोंके प्रत्येक परमाणुके साथ विना बंधके लगे हुए अनंतानंत कार्माणवर्गणारूप परमाणुसमूह (विस्रसोपचय) आत्माके साथ बंधको प्राप्त हो जाते हैं, तभी उन कार्माणवर्गणाओंकी कर्मपर्याय हो जाती है, विना बंधके कर्मपर्याय नहीं होती। श्लोकमें योगसे केवल प्रदेशबंध कहा गया है, परंतु वह उपलक्षण है। प्रदेशके कहनेसे प्रकृतिबंध भी गृहीत होता है जैसा कि श्रीगोम्मटसार द्रव्यसंग्रह आदि

शास्त्रोंमें कहा गया है—"जोगा पयडिपदेसा" अर्थात् योगोंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। स्थितिबंध वह कहा जाता है कि जो अपनी अपनी समय-मर्यादाको लेकर कर्म आत्मामें ठहरते हैं, जिन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण हो जाती है वे आत्मासे संबंध छोड देते हैं उसीको कर्मका नाश कहते हैं। कारण कि कर्मपर्याय तभीतक रहती है जबतक कि उन परमाणुओंका आत्मासे संबंध है, संबंध हटनेपर कर्म-संज्ञा अथवा कर्मपर्याय नष्ट होकर कार्माण संज्ञा हो जाती है, अन्यथा पर्यायको छोडकर मूल नाश किसीका नहीं होता है। कर्मोंमें दर्शनमोहनीयकर्मकी स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरप्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति है इससे बढकर किसी कर्मकी स्थिति नहीं पडती। चारित्रमोहनीयकी चालीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। गोत्रकर्मकी वीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मोंकी—प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। नामकर्मकी स्थिति वीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। आयुकर्मकी स्थिति केवल तेतीस सागरप्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थितिकी मर्यादा है। जघन्य—कमसे कम वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी—प्रत्येककी आठ मुहूर्त है, बाकीके समस्त कर्मोंकी जघन्य स्थिति एक अंतर्मुहूर्तकी है।

अनुभाग बंध वह कहा जाता है जो कर्मोंमें विपाक अर्थात् उनमें रस देनेकी शक्तिकी तीव्रता या मंदताका होना है। शुभपरिणामोंसे कर्मोंमें शुभ विपाक होता है और अशुभपरिणामोंसे अशुभविपाक होता है। कर्मोंके दो भेद हैं—एक घातियाकर्म, दूसरा अघातियाकर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अंतराय ये चार कर्म घातिया हैं अर्थात् आत्माके सत्तात्मक गुणोंका घात करते हैं, इनमें जो उदय-कालमें फलदान शक्तिका विकाश होता है वह अशुभरूपसे ही होता है और उसका परिणाम आत्मामें

क्रमसे लता दारु अस्थि और शैल रूपमे होता है। जिसप्रकार लता काष्ठ हड्डी और पाषाणमें उत्तरोत्तर कठोरता बढी हुई है उसीप्रकार घातिया प्रकृतियोंमें—देशघातिक और सर्वघातिक प्रकृतियोंमें क्रमसे गुणघातकी शक्ति बढती गई है। अघातिया कर्मोंमें शुभ अशुभके भेदसे प्रकृतियोंके दो भेद हैं। अशुभ प्रकृतियोंमें क्रमसे मंदता तीव्रताके भेदसे नीम, कांजीर, विष और हलाहलके समान भेद हो जाते हैं। कुछ परमाणु नीमकी कटुकताके समान कटुक फल देते हैं, कोई उससे अधिक कटुक कांजीरके समान फल देते हैं, कोई उससे भी अधिक विषके समान आत्माके गुणोंका घात करते हैं और कुछ कर्मपरमाणु इतना अधिक रस देते हैं जैसे कि हलाहल (जहर) सेवन करते ही मरण कर देता है उसी प्रकार वे कर्मपरमाणु आत्मीय गुणोंका सर्वथा घात कर देते हैं। शुभ प्रकृतियोंमें गुड, खांड, शर्करा और अमृत इनके समान चारप्रकारका विपाक होता है। जिसप्रकार गुडसे अधिक मिठास और स्वाद खांडमें, उससे अधिक शर्करामें, उससे अधिक अमृतमें होता है उसी प्रकार अघातिया कर्मोंके कुछ कर्मपरमाणु गुडके समान हलका शुभफल देते हैं, कुछ खांडके समान और कुछ शर्कराके समान मीठा और उत्तम फल देते हैं, कुछ कर्मपरमाणु अत्यंत मधुर फल देते हैं। नामकर्मके शुभ भेदोंमें तीर्थंकर प्रकृति आदि अमृतके समान विपाकमें फल देनेवाले हैं। स्थितिबंध और अनुभागबंध, दोनों कषायसे होते हैं। श्लोकमें केवल स्थितिबंधको ही कषायसे बतलाया है परंतु वह केवल उपलक्षण है, स्थितिबंधसे अनुभागबंधका भी ग्रहण समझना चाहिये इसप्रकार जब चारोंप्रकारके बंधोंका कारण योग और कषाय है तब सम्यग्द-र्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न तो योगरूप ही हैं और न कषायरूप ही हैं। इसलिये वे बंधके कारण किसीप्रकार नहीं कहे जा सकते हैं। जिसका जो कारण है उसीसे वह कार्य हो सकता है। जैसे

कपडा तंतुसे ही बन सकता है, मिट्टीसे नहीं। इसीप्रकार कषाय और योग ही बंधके कारण हैं उन्हींसे बंधरूप कार्य हो सकता है, सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे नहीं।

रत्नत्रयसे बंध क्यों नहीं होता ?

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं) सम्यग्दर्शन (आत्मविनिश्चितिः) आत्माकी प्रतीति (इष्यते) कहा जाता है। (आत्मपरिज्ञानं) आत्माका सम्यक्प्रकार ज्ञान करना (बोधः) बोध सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। (आत्मनि स्थितिः) आत्मामें स्थिर होना तल्लीन होना, (चारित्रं) सम्यक्चारित्र कहा जाता है। (एतेभ्यः कुतः बंधो भवति) इनसे बंध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

विशेषार्थ—आत्मामें ही अपनी प्रतीति-दृढता, आत्मामें ही अपना ज्ञान और आत्मामें ही अपनी चर्या अर्थात् लीनता जहांपर होती है, वहां निश्चय रत्नत्रय होता है। अर्थात् जिससमय आत्मीयगुण सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र प्रगट हो जाते हैं, उससमय निश्चय रत्नत्रय कहलाता है। गुण आत्मासे अभिन्न है इसलिये उसका स्वरूप आत्मामें ही व्यक्त होता है। ऐसी अवस्थामें उनसे (रत्नत्रयसे) कर्मबंध कभी नहीं हो सकता। यदि आत्माके गुणोंसे ही बंध होने लगेगा तो फिर आत्माकी मुक्ति असंभव हो जायगी। अथवा मुक्तात्माओंके भी बंध होने लगेगा। फिर आत्माको संसारसे छुडानेका एवं मोह जाल त्यागने आदिका सब उपदेश व्यर्थ ही पडेगा इसलिये बंधके कारण योग और कषाय ही हैं, रत्नत्रय नहीं।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बंधः।
योप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोपि दोषाय ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वचारित्राभ्यां) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे (तीर्थंकराहारकर्मणो बंधः) तीर्थंकर और आहारक कर्मोंका बंध होता है (यः अपि समये उपदिष्टः) जो यह भी शास्त्रमें उपदेश किया गया है (सोपि) वह भी (नयविदां) नयोंके जाननेवालोंको (न दोषाय) दोषाधायक नहीं है।

विशेषार्थ—शास्त्रोंमें यह कथन भी पाया जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे तीर्थंकर तथा आहारक कर्मोंका बंध होता है फिर ऊपरका यह कथन कि रत्नत्रयसे कर्मबंध नहीं होता विरुद्ध पडता है। ऐसी अवस्थामें कौनसा कथन ठीक समझा जाय? जिनकी ऐसी शंका है उनके लिये यह समझ लेना चाहिये कि जैनशास्त्रोंका जितना भी कथन है सब सापेक्ष है, जो अपेक्षाको समझते हैं उन्हें जैनशास्त्रोंमें कहीं विरोध प्रतीत नहीं होता, परंतु जो अपेक्षाको नहीं समझते हैं उन्हें अवश्य विरोध प्रतीत होता है इसप्रकार अज्ञानतावश विरोध समझनेवालोंको शास्त्रोंका रहस्य समझनेकी चेष्टा करना चाहिये। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारकप्रकृतिका बंध होता है इस शास्त्रकथनमें क्या अपेक्षा है, अर्थात् ऐसा कथन किस अपेक्षासे किया गया है? इसका स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वयं नीचे करते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबंधकौ भवतः।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनं ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वचरित्रे सति) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके रहने पर (योगकषायौ) योग और कषाय (तीर्थंकराहारबंधकौ भवतः) तीर्थंकर और आहारक प्रकृतियोंके बंधक होते हैं (तस्मात) इसलिये (तत्पुनः) वे फिर (अस्मिन्) इस बंधके विषयमें (उदासीनं) उदासीन हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र जिस समय आत्मामें प्रगट हो जाते हैं, उस समय आत्माकी परिणति विशुद्ध हो जाती है। तथा अशुभसे निवृत्त होकर शुभमें प्रवृत्त हो जाती है और प्रवृत्ति मात्र बंधका कारण है ही। मन वचन काय जनित व्यापारका नाम ही प्रवृत्ति है। वही कर्मोंके आस्रवका कारण है। प्रवृत्तिरूप व्यापारके हुए विना कर्मोंका आस्रव नहीं हो सकता, कारण जिससमय आत्मा मन वचन काय इनमेंसे किसी वर्गणाका अवलंबन लेकर हलन चलन रूप क्रिया करता है, उसी समय कर्मोंका आस्रव होता है। इसलिये आस्रवका कारण योग है तथा आत्मामें उदयमें आये हुए जो रागद्वेषरूप सकषाय परिणाम हैं वे ही आये हुए कर्मोंके बंधक हैं इसीलिये कर्मोंका बंध दशवें गुणस्थान तक ही होता है। आगे कषायभाव नहीं है इसलिये कर्म ठहरते नहीं हैं। बंध करनेकी शक्ति कषायमें ही है परंतु कर्मोंका आगमन तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान तक होता है। कारण कि वहां तक योगोंकी प्रवृत्ति रहती है परंतु चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानमें वह भी नहीं है इसलिये वहां कर्मोंका आना भी रुक जाता है, इससे भली भांति सिद्ध है कि कर्मोंके बंधमें कारण योग और कषायभाव हैं।

सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र कर्मबंधमें कारण नहीं हैं, फिर उनके रहनेपर तीर्थंकर आहारक प्रकृतियोंका बंध क्यों होता है इसका स्पष्टीकरण यही है कि जिससमय सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र गुण आत्मामें प्रकट नहीं होते हैं उससमय भी योग कषाय कर्मबंध करते रहते हैं तथा उनके प्रगट हो जानेपर

भी योग कषाय कर्मबंध करते रहते हैं। इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र गुणके प्रगट हो जानेसे आत्माकी अशुभ प्रवृत्ति दूर होजाती है, शुभ प्रवृत्ति होने लगती है अर्थात् आत्मा अधर्मको छोडकर धर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। इसीलिये शुभ प्रवृत्ति होनेके कारण शुभप्रकृति—तीर्थंकर आहारक आदिका बंध होने लगता है। यह पहले कहा जा चुका है कि शुभप्रवृत्तिसे—शुभ योगोंसे एवं प्रशस्त रागसे शुभबंध होता है और अशुभ प्रवृत्तिसे—अशुभ योगोंसे एवं अप्रशस्त रागसे अशुभबंध होता है। शुभ अशुभ दोनोंका बंध करनेवाले योगकषाय ही हैं। रत्नत्रय बंधके विषयमें सर्वथा उदासीन है।
भावार्थ—जिसप्रकार नलसे पानी बराबर आता रहता है, परंतु जिससमय उस नलपर छन्ना (शोधन-वस्त्र—पानी छाननेका कपडा) लगा दिया जाता है तो उससमय भी पानी तो आता है परंतु गदला और जीवजंतुसहित पानीका आना रुक जाता है, साफ उज्वल पानी आने लगता है। यहांपर पानी छानने-का वस्त्र पानी आनेमें कारण नहीं है, पानी आनेमें तो वह उदासीन है, पानी आनेमें कारण तो पानी छोडनेका समय और नलकी टोंटीका खुला रहना है। यदि पानी आनेका समय नहीं है और टोंटी बंद है तो छन्ना लगानेसे भी पानी नहीं आ सकता और पानीका समय होनेपर तथा टोंटीके खुल जानेपर छन्ना लगाने या हटानेसे वह पानी रुक भी नहीं सकता है। इसलिए छन्ना पानीके आनेमें तो उदासीन है परंतु उसके रहनेसे जो पानी आता है वह साफ मिट्टी तृण आदिसे रहित उज्वल आता है उसके विना मलिन आता है इसलिए छन्ना उज्वलतामें साधक हो जाता है, परंतु पानीके आनेमें नहीं। उसीप्रकार रत्नत्रय आत्मामें प्रगट हो जाय तो भी योगकषायोंके रहते कर्मबंध अवश्य होता है और उनके नहीं प्रगट होनेपर भी योगकषायोंके रहते हुए कर्मबंध होता है। योगकषायोंके अभावमें रत्नत्रयके रहते हुए

भी कर्मबंध नहीं होता। इसलिए रत्नत्रय कर्मबंधके विषयमें तो पानीके आनेमें छत्राके समान उदासीन है परंतु रत्नत्रयके रहते हुए योगकषाय शुभ एवं प्रशस्त हो जाते हैं इसलिए उनसे तीर्थंकर आहारक आदि शुभ प्रकृतियोंका बंध होने लगता है। रत्नत्रयके रहते हुए योगोंके शुभ होनेसे शुभबंध होता है इसी अपेक्षासे रत्नत्रयको तीर्थंकर आहारक प्रकृतियोंका बंधक कह दिया गया है। वास्तवमें वह बंधका कारण नहीं है प्रत्युतः बंधका रोकनेवाला है। क्योंकि बंधका कारण मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र हैं उन्हींसे अनंत संसारका बंध होता है। सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रके प्रगट हो जानेपर उन मिथ्या भावोंका अभाव हो जाता है फिर अनंत संसारका बंध आत्मामें नहीं होता। जो कषाय बाकी रह जाते हैं वे ही कर्मबंध करते रहते हैं। ज्यों ज्यों चारित्र गुणकी आत्मामें प्रकर्षता बढती जाती है त्यों त्यों वे कषाय भी घटते जाते हैं इसलिए कर्मबंध भी हलका होने लगता है। जिससमय पूर्ण चारित्रगुण प्रगट हो जाता है उससमय कषायभाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वैसी अवस्थामें फिर कर्मबंध नहीं होता। इसप्रकार सम्य-ग्दर्शनने मिथ्यात्वजनित कर्मबंधको रोक दिया और सम्यक्चारित्रने कषायजनित कर्मबंधको रोक दिया इसलिए रत्नत्रय कर्मबंधका रोकनेवाला है, उसे कर्मबंध करनेवाला कहना ठीक नहीं।

फिर सम्यक्त्वको देवायुका कारण क्यों कहा गया?

ननु कथमेवं सिद्ध्यतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबंधः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ—(ननु) शंका होती है कि (रत्नत्रयधारिणां) रत्नत्रय धारण करनेवाले (मुनिवराणां) मुनिवरोंके (सकलजनसुप्रसिद्धः) समस्तजनोंमें प्रसिद्ध (देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबंधः) देवायुको आदि लेकर शुभ प्रकृतियोंका बंध (एवं कथं सिद्ध्यतु) इसप्रकार कैसे सिद्ध होगा?

विशेषार्थ——शास्त्रोंमें यह बताया गया है कि सम्यग्दर्शनसे देवायुका बंध होता है जैसा कि श्रीतत्त्वार्थमहाशास्त्रका सूत्र है कि "सम्यक्त्वं च" इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन देवायुके बंधका कारण है। तथा रत्नत्रयधारक मुनियोंके शुभप्रकृतियोंका बंध होता है ऐसा भी शास्त्रोंमें कहा गया है यह बात सभी पुरुष जानते हैं, जब कि ऊपरके कथनानुसार रत्नत्रय बंधका कारण नहीं है तो फिर देवायु आदिका बंध उससे होता है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ? अर्थात् देवायु आदिका बंध रत्नत्रयसे सिद्ध नहीं होगा परंतु शास्त्रोंमें बतलाया गया है सो कैसे ?

उत्तर।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोयमपराधः ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ——(इह) इस लोकमें अथवा इस आत्मामें (रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः) रत्नत्रय निर्वाणका ही कारण (भवति) होता है (अन्यस्य न) और किसीका-बंधका नहीं (तु) फिर (यत पुण्यं आस्रवति) जो पुण्यका आस्रव होता है (अयं अपराधः शुभोपयोगः) यह अपराध शुभ उपयोगका है।

विशेषार्थ——रत्नत्रय मोक्षका ही कारण है। रत्नत्रय कर्मबंध करनेमें कारण सर्वथा नहीं है। यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है फिर जो पुण्य प्रकृतियोंका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका ही अपराध है। अर्थात् शुभोपयोग ही बंधका कारण है।

भिन्न भिन्न कारणोंसे भिन्न भिन्न कार्य होते हैं।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोपि रूढिमितः ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (एकस्मिन्) एक आत्मामें (समवायात्) समवाय होनेसे (अत्यंतविरुद्धकार्ययोः अपि) अत्यंत विरुद्ध कार्य करनेवालोंमें भी (यथा घृतं दहति) जिसप्रकार घृत जलाता है (इति व्यवहारः) यह व्यवहार होता है (अपि तादृशः व्यवहारः) उसीप्रकार वैसा व्यवहार (रूढिं इतः) प्रसिद्ध हुआ है।

विशेषार्थ—जहांपर दो विरुद्ध पदार्थोंका भी संबंध विशेष हो जाता है वहांपर एकके कार्यको दूसरेका कार्य कह दिया जाता है प्रायः ऐसा व्यवहार लोकमें देखा जाता है। जैसे घृतका स्वभाव शीतल है, उसके लगानेसे शरीरमें शांति आती है। फिर भी जिस समय उसे अग्निमें तपा दिया जाता है और अग्नि तथा घृतके परमाणुओंका एकमएक हो जाता है उससमय अग्निका कार्य जलाना होनेपर और घृतका कार्य शीतलता होनेपर भी अग्निका संपर्क होनेसे यह कह दिया जाता है कि घृत जलाता है। यद्यपि अग्निका कार्य जलाना है, घीका नहीं है तथापि अग्निके संबंधसे घीको भी जलानेवाला कहा जाता है, उसीप्रकार एक आत्मामें रत्नत्रय भी प्रगट हो चुका है, और शुभोपयोग भी है। इन दोनोंमें शुभोपयोगका कार्य कर्मबंध है, रत्नत्रयका कार्य मोक्ष है। भिन्न भिन्न कार्य होनेपर भी जहांतक आत्मामें दोनोंका एक साथ संबंध है वहांतक अर्थात् केवल शुद्धोपयोगके नहीं प्रगट होने तक जो शुभोपयोगका कार्य है उसे रत्नत्रयका कार्य कह दिया जाता है। इसी व्यवहारके कारण शुभोपयोगसे होनेवाले पुण्यबंधको रत्नत्रयका कार्य कहा जाता है। वास्तवमें तो रत्नत्रय घीकी शीतलताके समान केवल मोक्षका ही कारण है।

रत्नत्रय मोक्षलाभ कराता है।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषं ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ—[सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र लक्षण [इति एषः मोक्षमार्गः] इसप्रकार त्रितयात्मक यह मोक्षमार्ग [मुख्योपचाररूपः] मुख्य और उपचार स्वरूप [पुरुषं] पुरुषको-आत्माको [परं पदं] उत्कृष्ट पदको [प्रापयति] प्राप्त करा देता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्षमार्ग है यह रत्नत्रय दो भेदोंमें बंटा हुआ है एक निश्चयरत्नत्रय, दूसरा व्यवहाररत्नत्रय । निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षका साधक है। वह आत्मप्रतीति, आत्मबोध और आत्मतत्परतारूप है और व्यवहाररत्नत्रय निश्चयका साधक है। वह भी परंपरा मोक्षका कारण है। व्यवहाररत्नत्रय जीवादि तत्वोंमें यथार्थ प्रतीत करनेसे, उनका यथार्थ ज्ञान करनेसे और व्रत समिति गुप्ति धर्म, आदि सदाचरण-व्रताचरण पालन करनेसे होता है। व्यवहाररत्नत्रय यद्यपि प्रवृत्तिस्वरूप है फिर भी निवृत्तिका पूर्ण साधक है, निश्चयरत्नत्रय तो निवृत्तिस्वरूप है ही। यह दोनोंप्रकारका ही रत्नत्रय इस आत्माको परमात्मा पदपर पहुंचा देता है!

परमात्माकी साक्षावस्था।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ—(नित्यं अपि) सदा ही (निरुपलेपः) कर्मरजसे रहित (स्वरूपसमवस्थितः) अपने निजरूपमें भलेप्रकार ठहरा हुआ (निरुपघातः) उपघातरहित—अर्थात् जो किसीसे घाता न जाय (विशदतमः) अत्यंत निर्मल ऐसा (परमपुरुषः) उत्कृष्ट पुरुष—परमात्मा (गगनमिव) आकाशके समान (परमपदे) उत्कृष्ट पदमें—लोकशिखरके अग्रतम स्थानमें अथवा उत्कृष्ट स्थान—निजस्वरूपके पूर्ण विकाशमें (स्फुरति) स्फुरायमाण होता है।

विशेषार्थ—जब आत्मा एकबार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब वह सदाके लिये कर्मरजसे मुक्त हो जाता है फिर भी उसपर कोई उपलेप-रज नहीं लगा सकता है। कारणकि कर्मरज रागद्वेषसे लगता है, शुद्ध आत्मामें रागद्वेषकी संभावना कभी नहीं हो सकती, इसलिये रागद्वेषविहीन शुद्धात्मामें फिर कभी कर्मरज नहीं लग सकता। शुद्धात्मा-परमात्मा समस्त बाह्यविकारोंसे हटकर अपने निजस्वरूपमें स्थिर हो जाता है। कर्मोंसे सर्वथा रहित आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप अमूर्तस्वभावमें आ जाता है इसलिये उसका फिर किसी पदार्थसे घात नहीं हो सकता। समस्त कर्मोंसे रहित आत्मा अत्यंत विशुद्ध आकाशके समान निर्मल हो जाता है। ऐसा परम विशुद्ध परमात्मा लोकशिखरके अग्रभागमें विराजमान हो जाता है फिर वहांसे उसका कभी आवागमन अथवा किसीप्रकारकी अशुद्धता किसी भी निमित्तसे तीनकालमें नहीं हो सकती।

परमात्माका स्वरूप।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानंदनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ—(परमात्मा) कर्मरजसे सर्वथा विमुक्त शुद्धात्मा (परमपदे) उत्कृष्ट निजस्वरूपरूप पदमें (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होकर ठहरता है (सकलविषयविषयात्मा) समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला बन जाता है। (परमानंदनिमग्नः) परमानंदमें निमग्न हो जाता है। (ज्ञानमयः) ज्ञानस्वरूप ही उसका निजरूप है ऐसा वह परमात्मा (सदैव नंदति) सदैव आनदरूपसे रहता है।

विशेषार्थ—परमात्माका स्वरूप यही है कि वह जिससमय परमात्मपदमें पहुंच जाता है उससमय

कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उस अवस्थामें उसे कोई कार्य करनेके लिये बाकी नहीं है। सब कुछ कर चुका। यह कृतकृत्य अवस्था भी परमात्माको क्यों प्राप्त होती है? वह क्यों नहीं कुछ कार्य करता? इस प्रश्नका उत्तर यह है; कार्य किया जाता है इच्छासे और आवश्यकता आदि कारणोंसे, परमात्माके न इच्छा है और न किसी वस्तुकी आवश्यकता आदि ही उसे है। संसारमें जो कोई भी कुछ कार्य करता है वह किसी वस्तुकी चाहनासे ही करता है, दूसरे करनेवालेके रागद्वेष होता है। ईश्वर इन दोनों बातोंसे रहित है। इच्छाको—चाहनाको लोभकी पर्याय माना गया है। परमात्मा क्रोध मान माया लोभ इन सब प्रकारके कषायभावोंसे विरक्त है। और न उसे कोई कार्य करना बाकी है, वह तो सब झंझटोंसे मुक्त होकर अपने आत्मीय स्वरूपमें तल्लीन रहता है। इसलिए जो लोग परमात्माका स्वरूप जगत्कर्तृत्व कल्पना करते हैं वे उसके स्वरूपका विपर्यास करते हैं जगत्कर्तृत्व परमात्माका स्वरूप नहीं बन सकता। जगत् सदा अनादि निधन स्वयंसिद्ध है, उसे कोई नहीं बनाता। दूसरे परमात्मा लोक अलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करता है। परमात्माका प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे नहीं होता किंतु आत्मासे साक्षात् होता है। जो ज्ञान इंद्रियोंसे होता है वह अधूरा मलिन परोक्ष होता है। इसलिए परमात्मा सकल पदार्थोंका ज्ञान साक्षात् अतींद्रिय—ज्ञानद्वारा करता है। परमात्मा सांसारिक वासनाओंसे और उनसे होनेवाले सुख दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो चुका है इसलिए वह सदा आत्माके निजगुण निजात्मनिर्भर आनंदमें निमग्न रहता है। आत्माका निज सुख सांसारिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न है। वह आत्माका ही स्वरूप है। आत्मा परमात्मपदमें पहुंचकर उसी आत्मीय सुखमें निमग्न होता हुआ सदा वीतराग ज्ञानमय चैतन्य भावोंका आनंद प्राप्त करता रहता है। उस आनंदमें इच्छा नहीं है, सरागबुद्धि नहीं है, किसीप्रकारका विकारभाव नहीं है, किंतु वीतरागभाव औदासीन्य एवं स्वस्वरूपावलोकन है।

एकेनाकर्षंती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ—(मंथानेत्रं) दही मथनेकी नेतीको (गोपी इव) ग्वालिनके समान (जैनी नीतिः) जिनेंद्रभगवानकी कही हुई नय विवक्षा (वस्तु तत्त्वं) वस्तुस्वरूपको (एकेन आकर्षंती) एकसे खींचती हुई (इतरेण श्लथयंती) दूसरीसे शिथिल करती हुई (अंतेन जयति) अंतिमसे अर्थात् दोनोंकी सापेक्षतासे जयवती होती है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार ग्वालिन दहीको बिलोती हुई एक रस्सीको अपनी ओर खींचती है दूसरी रस्सीको ढीली करती है, यद्यपि रस्सी एक होनेपर भी रईमें लिपटी हुई रहनेके कारण दो भागोंमें बट जाती है, उसे गोपिका दोनों हाथोंमें पकडकर दही बिलोती है। जिससमय वह एक हाथने एक ओरकी रस्सीको अपनी ओर खींचती है उसीसमय दूसरी हाथकी रस्सीको ढीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बढा देती है, इसप्रकार परस्पर एकको खींचनेसे दूसरीको ढीली करनेसे वह मक्खन (लोनी) निकाल लेती है। श्लोकमें आये हुए नेत्र शब्दका नोती अर्थ है। नोती उसी रस्सीको कहते हैं जिससे वह मक्खन निकालती है। ठीक गोपीकी नोतीका दृष्टांत जैनीनीति अर्थात् जैनधर्मकथित नयवाद—अपेक्षाकथनपर लागू होता है। जैनधर्म प्रत्येक वस्तुका प्रतिपादन अपेक्षासे करता है। अपेक्षासे प्रतिपादन करनेका नाम ही नयवाद है। जैनसिद्धांतानुसार एक अपेक्षा दूसरी अपेक्षाकी सहयोगितासे ही ठीक वस्तु विचार कर सकती है अन्यथा नहीं। जैनसिद्धांतमें दो अपेक्षाएं मूलभूत हैं जिनसे कि वस्तुका यथार्थ

बोध किया जाता है। एक द्रव्यार्थिकनय, दूसरी पर्यायार्थिकनय। पहली नय द्रव्यको विषय करती है, पर्यायको गौणदृष्टिसे देखती है। दूसरी पर्यायको मुख्यतासे विषय करती है, द्रव्यको गौणदृष्टिसे देखती है। जिस समय पदार्थका विवेचन द्रव्यार्थिकनयसे किया जाता है उस समय नित्यताकी प्रधानता रहती है, अनित्यताकी गौणता रहती है। जिस समय पर्यायार्थिकनयसे विवेचन किया जाता है उस समय अनित्यताकी मुख्यता हो जाती है, नित्यताकी गौणता हो जाती है। वस्तु, द्रव्यपर्याय स्वरूप है। इसका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण कोई न कोई परिणाम धारण करती रहती है ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका प्रतिक्षण परिणाम न हो और ऐसा कोई समय नहीं जिसमें प्रतिक्षण वस्तुमें परिणाम न हो परंतु किसी वस्तुका मूल नाश कभी नहीं होता। कोई भी वस्तु अपनी वस्तुताको कभी नहीं छोडती। केवल उसकी अवस्था बदलती रहती है। जैसे जीवद्रव्य तो सदा रहता है, देवपर्याय, नरकपर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय सभी पर्यायोंमें एक ही जीवद्रव्य घूमता फिरता है, उसकी पर्याय बदलती रहती है परंतु जीवद्रव्य एक ही रहता है। अंतमें मुक्त अवस्थामें भी वही जीवद्रव्य पहुंचकर सदाके लिये स्वरूपमें लीन हो जाता है। इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यमें वस्तुताका नाश नहीं होता, पर्यायें नष्ट हो जाती हैं। जैसे एक वृक्षके परमाणु जलकर भस्म होनेपर भस्मस्वरूप हो जाते हैं, पश्चात् वे ही परमाणु फिर खातका स्वरूप धारणकर वृक्षरूप परिणत हो जाते हैं अथवा जलके परमाणु वृक्षमें पहुंचकर वृक्षरूप हो जाते हैं। जो दियासलाई पृथ्वीरूप कही जाती है वही घिसनेपर अग्निरूप परिणत हो जाती है। इसलिये वस्तुओंकी पर्याय तो नष्ट होती रहती है परंतु वस्तुका मूलनाश कभी नहीं होता है। जीवद्रव्य सदा जीवरूप ही रहता है, वह कभी जीवस्वरूपको नहीं छोड सकता। पुद्गल सदा पुद्गलरूप ही रहता है वह अपने स्वरूपको कभी छोड नहीं सकता। इसीप्रकार सभी द्रव्योंकी

व्यवस्था है। जब वस्तुकी इसप्रकार व्यवस्था है तब उसका विवेचन भी उसी रूपसे किया जाता है जिस रूपसे कि वह है। द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही वस्तुके अंश हैं। दोनों अंशस्वरूप ही वस्तु है परंतु दोनों अंशोंका विवेचन युगपत् नहीं किया जा सकता। एकसमयमें एक ही अंशका विवेचन हो सक्ता है। इसलिये एकसमयमें द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे विवेचन किया जाता है और एकसमयमें पर्यायदृष्टिसे अनित्यताकी मुख्यतासे विवेचन किया जाता है, परंतु इतना विशेष है कि जिससमय द्रव्यदृष्टिसे विवेचन होता है उससमय पर्यायका लक्ष्य छूट नहीं जाता है किंतु गौणरूपसे किया जाता है और जिस समय पर्यायदृष्टिसे विवेचन होता है उससमय द्रव्यका लक्ष्य छूट नहीं जाता है किंतु गौणरूपसे किया जाता है। यदि एक नयके विवेचनमें दूसरा नय सर्वथा छोड दिया जाय तो वस्तुका यथार्थ कथन हो ही नहीं सकता है क्योंकि वस्तु उभयस्वरूप है। इसलिये एक दृष्टिके कथनमें दूसरी दृष्टिकी सापेक्षता अवश्य रक्खी जाती है। जहां एक दृष्टिके कथनसे दूसरी दृष्टिकी सापेक्षता नहीं रक्खी जाती वहां वह एकांतदृष्टि कहलाती है, ऐसा एकांत कथन मिथ्या है, उससे वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन नहीं होता। इस- लिये जिसप्रकार कपडेमें अनेक तंतु परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए ही कपडोंकी सिद्धिमें समर्थ होते हैं विना परस्परकी अपेक्षा रक्खे निरपेक्ष तंतु कपडेरूप कार्यकी सिद्धि नहीं कर सकते, इसी- प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नय परस्पर एक दूसरेकी सापेक्षता रखती हुई वक्ताकी विवक्षा- नुसार एक मुख्य और दूसरी गौण हो जाती है। इसी परस्पर सापेक्षताको छोड देनेसे एवं एकांत पक्षपर आरूढ रहनेसे सर्वथा अनित्यताको माननेवाला बौद्धदर्शन, तथा नित्यताको माननेवाला सांख्यदर्शन, सर्वथा एक माननेवाला वेदांतदर्शन आदि अनेक जैनदर्शनसे भिन्न दर्शन वस्तुकी यथार्थताके विवेचक नहीं कहे जा सकते। उनके सर्वथा नित्यता अनित्यता आदि सिद्धांतोंका निर्मूल उच्छेद प्रत्यक्षसिद्ध

वस्तुव्यवस्थासे स्वयं हो जाता है जब कि वह द्रव्यपर्यायात्मक रूपमें प्रत्येक बुद्धिमानके अनुभवमें आती है। इसलिये परस्पर सापेक्षता रखनेवाले नयों द्वारा वस्तुविवेचन करनेवाला तथा प्रमाणद्वारा दोनों अंशोंको विषय करनेवाला जैनसिद्धांत ही जगत्में अबाध अखंड–युक्तिप्रमाणसिद्ध सदा जयशाली है इसी जैनधर्मकी प्रमाणतासे वस्तु कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक रूप है। उसे सर्वथा नित्य अथवा अनित्य आदि रूपमें कहना वस्तुकी वस्तुताका अपलाप करना है। वैसा एकांतकथन युक्तिप्रमाणसे बाधित हो जाता है। इसलिये अनेकांत रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली जैनी नीति–श्रीजिनेंद्रदेव द्वारा प्रतिपादन की गई जैनसिद्धांतकी अनेकांत विवक्षा जगत्में सदा निर्बाध रूपसे जयशाली प्रवर्तित है।

अथ समाप्त करते हुये आचार्य अपनी लघुता बतलाते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ—[चित्रैः] अनेक प्रकारके–स्वर व्यंजन [वर्णैः] वर्णोंसे–अक्षरोंसे [पदानि कृतानि] पद किये गए हैं [तु] और [पदैः] पदोंसे [वाक्यानि कृतानि] वाक्य किये गए हैं [वाक्यैः] वाक्योंसे [इदं पवित्रं शास्त्रं कृतं] यह पवित्र शास्त्र किया गया है [पुनः अस्माभिः न] फिर हमने कुछ नहीं किया है।

विशेषार्थ—श्रीमान् परमपूज्य आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि महाराज इस महान् ग्रंथ श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपायको समाप्त करते हुए अपनी परम लघुता बताते हुए कहते हैं कि इस शास्त्रके बनानेमें मैंने कुछ नहीं किया है। जो कुछ इस शास्त्रमें श्लोक हैं वे सब मेरी निजकी कुछ संपत्ति नहीं है, श्लोकोंकी

सब सामग्री जगत्में उपस्थित है उसीका संग्रह यह श्लोकनिबद्ध शास्त्ररचना है। जगत्में स्वर अ आ इ ई आदि अनादिसिद्ध उपस्थित ही हैं तथा व्यंजन भी क ख ग घ आदि भी अनादिसिद्ध उपस्थित हैं। जैसा कि श्रीदिगम्बर जैनाचार्यप्रणीत श्रीकातन्त्ररूपमालामें "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" इस प्रथम सूत्र-द्वारा वर्णोंको अनादि सिद्ध बताया गया है। इसलिए स्वर व्यंजनरूप अक्षर तो जगत्में अक्षर (अवि-नश्वर) हैं ही। ये अक्षर पुद्गलकी पर्यायरूप हैं। इन्हीं भिन्न भिन्न अक्षरोंका समुदाय मिलकर जब विभ-क्त्यंत बन जाता है तब उस विभक्त्यंत समुदायकी पदसंज्ञा कही जाती है। जिस वर्णसमुदायके अंतमें सुप् अथवा तिङ्रूप विभक्ति अंतमें लगा दी जाती है वह पद कहलाता है। तथा जिन पदोंके साथ अर्थ संबंधकी पूर्णतासूचक क्रियाका समावेश किया जाता है वह वाक्य कहा जाता है। तथा वाक्योंके समु-दायसे अनुष्टुप्, आर्या, स्रग्धरा, वसंततिलका, शिखरिणी आदि श्लोकोंकी रचना हो जाती है और उन्हीं श्लोकोंका समूह अर्थात् २२६ दोसौ छब्बीस श्लोकोंकी संख्यामें इस परम पवित्र शास्त्रकी रचना हो गई है। इस रचनामें मूल तत्त्व वर्ण हैं, वे लोकमें प्रसिद्ध एवं अनादि सिद्ध हैं। अवशिष्ट पद वाक्य श्लोक आदि सब उन्हींका समुदाय है, ऐसी अवस्थामें इस पवित्र शास्त्रकी रचनामें मेरी निजकी कुछ संपत्ति नहीं है। अर्थात् संसार इसे मेरी कृति समझकर मुझे महत्त्व नहीं दे। यहांपर स्वामी अमृतचंद्र-सूरिके अगाध रहस्यपूर्ण शास्त्रोंके रसास्वाद करनेवाले पाठकोंको यह बताना व्यर्थ है कि उक्त आचार्य किस कोटिके आचार्य हैं, इनकी गणना महान् उद्भट आचार्योंमें परिगणित है। विशेषता यह है कि इनकी कृतिमें जो द्रव्यनिरूपणा, नयविवेचना, अनेकांतनिदर्शना, शुद्धात्मप्रदर्शना आदि अनुपम सुधारसकी छटा है वह एक निराली ही है। इनकी कृतिका पाठ करनेवाला इनकी अपूर्व सुन्दर शब्दरचना एवं तत्त्वगांभीर्यपूर्ण भावभंगीको देखकर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष विना ग्रंथकारका नाम देखे ही कह सकता

है कि यह परमपूज्य स्वामी श्रीअमृतचंद्रसूरिकी कृति है। इन्होंने जिन श्रीपंचाध्यायी, तत्त्वार्थसार, समयसारकलश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि शास्त्रोंका प्रणयन किया है वे महाशास्त्र आज विद्वज्जनतामें कितनी आदरपूर्ण दृष्टिसे देखे जाते हैं यह बात किसीसे छिपी नहीं है, फिर ऐसे महान् आचार्य कहां तक अपनी लघुता प्रगट करते हैं? इस लघुतासे पाठकों एवं श्रोताओंके हृदयपर कितना उच्च प्रभाव पडता है? यह बात इनके ग्रंथोंके स्वाध्याय करनेवाले स्वयं अनुभव करते हैं।

जो लोग थोडेसे साक्षर बनकर अपनेको उद्भट विद्वान् प्रगट करनेकी चेष्टा करते हैं, जो अपनी नगण्य कृतिको बडा रूप देना चाहते हैं, जो ग्रंथोंके समझनेतककी अजानकारी रखते हुए भी आर्ष-ग्रंथोंमें त्रुटियां देखने तकका दुःस्वप्न देखते हैं एवं जो महर्षियोंके अनुभवपूर्ण आगमानुसार शास्त्रोंके अभिप्रायोंसे प्रतिकूल–स्वतंत्र रचना करनेका विद्वन्निंद्य दुःसाहस करते हैं उन सबोंको परमपूज्य आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि महाराजके परम सरल शुद्ध भावोंके दिग्दर्शनसे केवल लज्जित ही होकर नहीं रह जाना चाहिये किंतु उनकी अत्यंत महनीय सरलताको परम उच्चादर्श मानकर उनके बताए हुए आदेशको सर्वज्ञ-आज्ञा समझकर उसपर मन वचन कायकी दृढतापूर्वक गमन करना चाहिये।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीअमृतचंद्रसूरि-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' द्वितीयनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषकी (वादीभकेशरी न्यायालङ्कार) पं० मक्खनलालशास्त्री-कृत भव्यप्रबोधिनी नामक हिन्दीटीका समाप्त हुई ॥

समाप्तश्चायं ग्रंथः

टीकाकारकी प्रशस्ति

शहर आगराके निकट ग्राम चावली नाम । वैश्योंमें विख्यात तहँ श्रीयुत तोताराम ॥ १ ॥
धर्मवंत बुधिवंत अति पद्मावति पुरवाल । परउपकारी वैद्यवर पूजक जिन गुणमाल ॥ २ ॥
छहसुत तिनके सभी गण्य मान्य विद्वान । धर्मनिष्ठ विनयी बडे व्यापारी नयवान ॥ ३ ॥
बाल ब्रह्मचारी सुधी रामलालजी नाम । पुत्र रत्न ये ज्येष्ठ थे जिनसेवक वसु जाम ॥ ४ ॥
तिनसे लघु सागार हैं भाई मिट्ठनलाल । सर्वमान्य निज गौरवी, ग्रामपंच बड भाल ॥ ५ ॥
तृतीय भ्रात पण्डितप्रमुख शास्त्री लालाराम । निपुण न्याय सिद्धांतमें काव्यकलाके धाम ॥ ६ ॥
उनका ही उपकार यह टीका ग्रन्थ अनेक । भावपूर्ण विस्तृत सरल रचीं स्व–परहितहेत ॥ ७ ॥
आदिपुराण प्रसिद्ध है, उत्तर हू जु पुरान । शांतिनाथ जिनराजका शान्तिपुराण महान ॥ ८ ॥
पात्रकेशरी स्तोत्र अरु धर्मामृत सागार । धर्मप्रश्नउत्तरसहित, सरल श्रावकाचार ॥ ९ ॥
तत्त्वकोष तत्त्वानुशा-सन हू शास्त्र महान । चारितसार पुनि जिनशतक, सूक्तिमुक्तावलि जान ॥ १० ॥
मणिमाला वैराग्यकी, ग्रन्थ इष्ट उपदेश । क्रियामंजरी, मालिका प्रश्नोत्तर अवशेष ॥ ११ ॥
संशयिवदनविदारिका आदि शास्त्र अभिराम । इन सबकी टीका रचीं शास्त्री लालाराम ॥ १२ ॥
देखि नास्तिकोंका महा श्रुतका अवर्णवाद । आदिपुराणसमीक्षका रचो परीक्षावाद ॥ १३ ॥
युक्तिपूर्ण सागम कथन देखि निरुत्तर होय । बैठि रहे चुप होयके मिथ्यावादी कोय ॥ १४ ॥

शास्त्रीजीका ग्रंथ यह पहुंचा चारों ओर। सत्य धर्मकी जय हुई विघटो मिथ्या घोर ॥ १५ ॥
पण्डित नन्दनलालजी तिनते लघुवर भ्रात। सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥
तिनहु इक चारित्रका ग्रन्थ स्वतंत्र बनाइ। जातें निजहित भवि करें तत्त्व यथारथ पाइ ॥ १७ ॥
चौवीसों जिनराजका पाठ रचो अनमोल। छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥
दीपमालिकाको रचा पूजा और विधान। पढि पूजा करते सदा नर नारी कल्यान ॥ १९ ॥
तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल। तिन सबकी पूजा रची पण्डित नन्दनलाल ॥ २० ॥
तिनतैं छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल। द्वितिय जौहरी प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥
सभी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन। श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरू जिन बैन ॥ २२ ॥
आर्षवचन प्रतिकूल वच सहे न कोई भ्रात। धर्म दिगम्बर जग बढे यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥
गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ। पंचाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥
महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि। विद्वद्वर जगके सभी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥
पुरुषार्थसिद्धि प्रापकप्रबल मूल उपाय सुनाम। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायक कह्यो महाशास्त्र सुखधाम ॥ २६ ॥
दोयपांचचौतुंदोय [२४५२] है संवत् वीर जिनेश। माघअसित द्वितीया रची टीका ताकी लेश ॥ २७ ॥
मैं बालक मतिमंद हूं शास्त्ररहस्य-अज्ञान। अति साहस मैने कियो करि टीका निर्माण ॥ २८ ॥
भूल चूक जो रह गई सुज्ञानी गुणपाल। पढो पढावो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २९ ॥
धर्ममूल इस ग्रन्थको पढै सुनै जो कोय। दृढ सम्यक्त्वी संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ ३० ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भव्यप्रबोधिनीटीकासहित

(समाप्त)